उपनिषदों में क्या है?

जिज्ञासु पाठकों के लिए 108 उपनिषदों में उपलब्ध ज्ञान के विपुल भण्डार का सहज, सरल एवं प्रामाणिक संक्षिप्त अध्ययन

पंकज दीक्षित



पुस्तक महल®

उपनिषदों में क्या है?

पंकज दीक्षित

पुस्तक महल ®
दिल्ली • बंगलोर • पटना • मुंबई • हैदराबाद

प्रकाशक
पुस्तक महल® दिल्ली-110006

विक्रय केन्द्र
• 6686, खारी बावली, दिल्ली-110006, फोन: 3944314, 3911979
• 10-B, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
फोन: 3268292-93, 3279900 • फैक्स: 011-3280567

प्रशासनिक कार्यालय
J-3/16 (हैप्पी स्कूल के सामने), दरियागंज, नई दिल्ली-110002
फोन: 3276539, 3272783, 3272784 • फैक्स: 011-3260518
E-mail: pustakmahal@vsnl.com • *Website*: www.pustakmahal.com

शाखा कार्यालय
बंगलोर : 22/2, मिशन रोड (शामा राव कम्पाउंड), बंगलोर-560027
फोन: 2234025 • फैक्स: 080-2240209
E-mail: rapidexblr@satyam.net.in

पटना : खेमका हाउस, पहली मंजिल, अशोक राजपथ, पटना-800004
टेलीफैक्स: 0612-673644

मुंबई : 23-25, जाओबा वाडी (वी.आई.पी शोरूम के सामने), ठाकुरद्वार, मुंबई-400002, फोन: 2010941 • फैक्स: 022-2053387
E-mail: rapidex@bom5.vsnl.net.in

हैदराबाद : 5-1-707/1, ब्रिज भवन, बैंक स्ट्रीट, कोटी, हैदराबाद-500095
फोन: 4737530 • फैक्स: 4737290

I.S.B.N. 81-223-0674-8

संस्करण : जनवरी, 2002

मुद्रक : आदर्श प्रिंटर्स, नवीन शाहदरा, दिल्ली-32

समर्पण



केनोपनिषद् में पंचभूतों की मूल आधार शक्ति के रूप में प्रकट उमा देवी की प्रतिमूर्ति पूजनीया दादी मां उमा देवी दीक्षित व दादा डा. कैप्टेन गुरूदत्त दीक्षित जी क़ो सादर समर्पित, जिन्होंने इस भूतात्मक शरीर को पुनः पंच तत्वों में विलीन होने से बचाकर नवजीवन प्रदान किया।

धर्म एवं संस्कृति
महत्त्वपूर्ण ग्रंथ

वेदों में क्या है

गीता ज्ञान

गीता के श्लोकों में सफलता के रहस्य

गीतासार अमृत कलश

Fifty Flowers from Bhagvad Gita

Vedantic Truth Revealed

Glory of Spiritual India

आमुख

उपनिषद् वैदिक ज्ञान की चरम अभिव्यक्ति हैं, वैदिक ऋचाओं का सार हैं, वैदिक चिंतन के मन्थन का अमृत हैं। इस ज्ञान सुधा का आस्वादन शैशवावस्था से ही पितामह श्री गुरुदत्त दीक्षित के सान्निध्य में प्राप्त होता रहा। आत्मा में संचित वह बीज आज प्रस्फुटित होकर पुस्तक के रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

भारतीय दर्शनशास्त्र की प्रस्थान त्रयी रूपी त्रिवेणी की प्रमुख धारा उपनिषद् सरस्वती नदी की भांति गुह्य, परंतु चिरन्तर प्रवाहिनी है, जो पाठकों, श्रद्धालुओं व जिज्ञासुओं को जीवन व जीवन के परे स्थित सत्य को उद्घाटित करती है। उपनिषदों के गूढ़ शब्दों व सांकेतिक रहस्यों का गहन चिन्तन व मनन करके उनकी व्याख्या करने का एक प्रयास इस पुस्तक के रूप में पाठकों को समर्पित है।

इस पुस्तक को इस प्रकार आम बोलचाल की भाषा में लिखने का प्रयास किया गया है कि सामान्य पाठक से लेकर विद्वतजन तक औपनिषदिक ज्ञान का रसास्वादन कर सकें।

मैं पुस्तक महल के प्रति आभार प्रकट करता हूं, जिन्होंने इस कार्य में अपने बहुमूल्य सुझावों या परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से सहायता की है अथवा नवीन मंतव्यों से अवगत कराया है।

अंत में मैं पत्नी मल्हार दीक्षित व पुत्रियों देवांगना व ऐश्वर्या को भी साधुवाद देना चाहूंगा, जिन्होंने मेरे साथ रात में जाग-जाग कर लीलावती की परम्परा को अक्षुण्ण रखा है।

संक्षिप्तीकरण-एक प्रयास

उपनिषदों की संख्या 108 बताई जाती है। प्रत्येक उपनिषद् परब्रह्म के विशिष्ट दार्शनिक स्वरूप का गहनता से प्रतिपादन करता है। असंख्य पृष्ठों में फैले ज्ञान के इस विशाल भंडार का इस पुस्तक में संक्षिप्त एवं सामान्य परिचय दिया गया है। जो उपनिषद् प्रमुख हैं, उन्हें विस्तार से तथा शेष सभी की संक्षिप्त जानकारी दी गई है। इस प्रकार पूरा प्रयत्न किया गया है कि आज का जिज्ञासु पाठक अपनी इस अमूल्य धरोहर को अच्छी तरह जान सके।

—पंकज दीक्षित

महान् कथन....!

सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान जीवन को ऊंचा उठाने वाला कोई दूसरा अध्ययन का विषय नहीं है।

–शोपेनहावर

उपनिषद् मानव चेतना का सर्वोच्च फल हैं।

–एनी बेसेन्ट

उपनिषद् हमारी युग-युग की सबसे मूल्यवान धरोहर हैं।

–रविशंकर शुक्ल

उपनिषद् जगत् कल्याणकारी भारत की अपनी निधि हैं।

–स्वामी ब्रह्मानन्द

उपनिषद् सनातन दार्शनिक ज्ञान के मूल स्रोत होते हैं। वे केवल प्रखरतम बुद्धि का ही परिणाम नहीं हैं, अपितु प्राचीन ऋषियों की अनुभूति के फल हैं।

–गोविन्द वल्लभ पन्त

उपनिषदों के भीतर जो दार्शनिक कल्पना है, वह भारत में तो अद्वितीय है ही, संभवतः सम्पूर्ण विश्व में अतुलनीय है।

–पॉल डायसन

अंदर के पृष्ठों में

1. उपनिषदों का उद्भव और विकास ... *9*

ऋग्वैदिक काल • उत्तर वैदिक काल • वेदों का साहित्यिक विभाजन • व्याख्याएं • उपनिषदों का उद्देश्य ...11

2. ऋग्वेद के उपनिषद् ... *27*

ऐतरेय • कौषीतकि • मुद्गल • सौभाग्यलक्ष्मी • राधोपनिषद् • नादबिन्दु • बहवृच • निर्वाण • आत्मप्रबोध • अक्षमालिका। ... 29

3. सामवेद के उपनिषद् ... *53*

• छांदोग्य • केन • वज्रसूचिका • वासुदेवोपनिषद् • जाबाल्युपनिषद् • महोपनिषद् • सावित्र्युपनिषद् • आरुणिक • जाबालदर्शन • गरुड़। ... 55

4. यजुर्वेद (शुक्ल) के उपनिषद् ... *97*

• वृहदारण्यक • जाबालोपनिषद् • हंस • सुबाल • त्रिशिखब्राह्मण • अद्वयतारक • भिक्षुक • शाट्यायनी • ईशावास्य • याज्ञवल्क्य ... 99

5. यजुर्वेद (कृष्ण) के उपनिषद् ... *147*

• श्वेताश्वतर • तैत्तिरीय • कठोपनिषद् • कैवल्य • गर्भोपनिषद् • नारायण • अमृतनाद • शुकरहस्य • तेजोबिंदोपनिषद् • कलिसंतरण • दक्षिणामूर्ति • रुद्रहृदय • कठरुद्र • शारीरक • अक्षि • चाक्षुष • ध्यानबिंदु। ...149

6. अथर्ववेद के उपनिषद् ... *193*

• प्रश्नोपनिषद् • मुण्डक • माण्डूक्य • नृसिंहोत्तरतापनीय • श्रीरामपूर्वतापनीय • सीता • गोपालपूर्वतापनीय • गणपति • सूर्य। ...195

उपनिषदों का उद्भव और विकास

- ऋग्वैदिक काल (1500–1000 ई.पू.)
- उत्तर वैदिक काल (1000–600 ई.पू.)

वेदों का साहित्यिक विभाजन

- संहिता
- ब्राह्मण
- आरण्यक
- उपनिषद् (इन्हें वेदांत भी कहते हैं)
  - उपनिषदों की संख्या
  - मुक्तक उपनिषदों की सूची

व्याख्याएं

- ॐ
- आत्मा
- पंचकोशमय शरीर
  - (i) अन्नमय
  - (ii) प्राणमय
  - (iii) मनोमय
  - (iv) विज्ञानमय
  - (v) आनन्दमय
- सुपर्ण (पर्ण-जीव-ब्रह्म का अन्तर्संबंध)

उपनिषदों का उद्देश्य

- मानव की सभी जिज्ञासाओं की पूर्ति
- सत्य की खोज

उपनिषदों का उद्भव और विकास

आज से लगभग 1500 ई. पू. से 600 ई. पू. तक के लगभग 900 वर्ष के कालखंड को इतिहास में '**वैदिक काल**' की संज्ञा दी जाती है। इस वैदिक काल को सुविधा के लिए दो भागों में बांटा गया है।

(क) ऋग्वैदिक या पूर्व-वैदिक काल (1500-1000 ई. पू.)

(ख) उत्तर वैदिक काल (1000-600 ई. पू.)।

इस अवधि में क्रमशः चारों वेदों–ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद व अथर्ववेद की रचना हुई। वैदिक काल में संकलित वैदिक साहित्य के अंतर्गत ऋग्वैदिक काल में केवल ऋक् संहिता का संकलन हुआ, जबकि उत्तर वैदिक काल में अन्य तीनों संहिताओं–ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यक ग्रंथों व उपनिषदों का संकलन हुआ।

वेद : वेद शब्द संस्कृत की 'विद्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है जानना या ज्ञान। यहां पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि वेद शब्द से तात्पर्य एक अकेली पुस्तक मात्र से न होकर एक लंबे समय अंतराल में संकलित वाङ्मय या विपुल साहित्य से है, जो संयुक्त रूप से वेदों के नाम से जाना जाता है।

संहिता : प्रत्येक वेद की रचना में सर्वप्रथम ऋषियों द्वारा सूक्तों या ऋचाओं का संकलन किया जाता था, जो संहिता कहलाती थी।

ब्राह्मण : संहिता अधिकांशतः पद्यात्मक रूप या मंत्र रूप में होती थी। इस पद्यात्मक भाग या मंत्रों की कर्मकांड विषयक गद्यात्मक व्याख्या ब्राह्मण कहलाती थी और इस प्रकार प्रत्येक संहिता का अपना निश्चित ब्राह्मण होता था।

आरण्यक : ब्राह्मण साहित्य के पश्चात् विकास क्रम में आरण्यकों का स्थान है। वेद के वे मंत्र जिनका चिंतन, मनन, पाठन या गायन निर्जन (एकांत) में अरण्यों अर्थात् वनों में हुआ, वे आरण्यक कहे गए।

उपनिषद् या वेदांत : आरण्यकों के पश्चात् वेदों के अंतिम भाग में संकलित ब्रह्मविषयक दार्शनिक चर्चा को उपनिषद् या वेदांत कहा जाता है। वेदांत का अर्थ है–वेदों का अन्त या समापन। इसके पश्चात् वेदों का अन्य कोई साहित्यिक विभाजन

नहीं होता, इसीलिए वेदांत को उपनिषद् कहते हैं। यानी हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि प्रत्येक वेद चार भागों से मिलकर बना है—**संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक** एवं **उपनिषद्** (वेदांत)।

वेद

संहिता | **ब्राह्मण** | **आरण्यक** | **उपनिषद्**

श्रुति और स्मृति

संपूर्ण वैदिक साहित्य की रचना लिखित रूप में न होकर मौखिक रूप में गुरु-शिष्य एवं पिता-पुत्र परंपरा के अंतर्गत पीढ़ी-दर-पीढ़ी स्थानान्तरित होती रही। मंत्रों व ऋचाओं में आबद्ध यह ज्ञान मनुष्यों द्वारा संकलित नहीं हुआ, अपितु ब्रह्म से प्राप्त उपदेश को सुनकर उसे ही ऋषियों ने कंठस्थ कर लिया। यही कारण है कि संपूर्ण वैदिक साहित्य श्रुति (श्रुत=सुनना) भी कहलाता है और शेष संपूर्ण धार्मिक साहित्य चाहे वह रामायण हो या महाभारत, गीता हो या पुराण स्मृति कहलाते हैं, क्योंकि ये साहित्य अपनी स्मरण शक्ति के आधार पर बीती हुई घटनाओं का संकलन हैं। इसी कारण श्रुति साहित्य अपौरुषेय, नित्य, शाश्वत व दैवीय माना गया है। विषय को और स्पष्ट करने के उद्देश्य से वेद के विभागों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

1. संहिता

किसी देवता विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले पद्यमय मंत्रों के समूह को संहिता कहते हैं। वैदिक साहित्य में चार संहिताएं हैं—ऋक् संहिता, साम संहिता, यजुः संहिता और अथर्व संहिता। इन संहिताओं के प्रत्येक मंत्र की कतिपय विशेषताएं हैं, जो मंत्र के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएं देती हैं यथा—

क. **संकलनकर्त्ता का नाम :** मंत्र या सूक्त के प्रारंभ में सर्वप्रथम उस ऋषि अथवा उसके गोत्र का नाम होता है, जो उसका संकलन करता है।

ख. **देवता का नाम :** उसके पश्चात् उस देवता का नाम होता है, जिसको वह मंत्र समर्पित होता है या जिसकी उस मंत्र में स्तुति की गई होती है।

ग. **छन्द :** तीसरे 21 छंदों में से उस मंत्र विशेष में प्रयुक्त होने वाली मात्राओं के आधार पर निश्चित छंद को लिखा जाता है।

घ. **विनियोग :** जिस कार्य विशेष के प्रयोजन के लिए उस मंत्र या सूक्त का प्रयोग किया जाता है, उसे विनियोग कहते हैं। इसका प्रयोग उस

मंत्र के संकल्प के समय होता है। यथा– रोग निवारण हेतु, संतान प्राप्ति हेतु, देवता की कृपा प्राप्ति हेतु या अन्य किसी कार्य के लिए। उदाहरणार्थ–(**ऋषि : अङ्गिरा, देवता** - अस्त्राव भेषजय, **छंद** - अनुष्टुप)

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात।

तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथामसि। 2।। का. 2 अ. 1 सू. 3

जो मूंज व्याधि हरण करने वाला, श्रेष्ठ पर्वत से उतरने वाला है, उसके अग्रभाग को औषधि बनाता हूं। हे मूंज ! तुझे परम वीर्य युक्त औषधि बनाकर व्याधि दूर करने के निमित्त प्रयुक्त करता हूं।।2।।

इसी प्रकार **ऋग्वेद** में या **ऋक् संहिता में 1028 सूक्त** या **10,000 मंत्र** हैं। **सामसंहिता** की एक अन्य विशिष्टता यह है कि इसके अधिकांश मंत्र ऋग्वेद के मंत्रों की पुनरावृत्ति मात्र हैं और तदनुरूप इसके 1549 मंत्रों में से 1474 मंत्र ऋग्वेद में पाए जाते हैं।

यजुर्संहिता के दो भाग हैं–

(क) **शुक्ल यजुर्वेद**–जिसे वाजसनेयी संहिता भी कहते हैं।

(ख) **कृष्ण यजुर्वेद** या तैत्तिरीय संहिता। यजुर्वेद में लगभग 2000 ऋचाएं संकलित हैं।

अथर्ववेद या अथर्वसंहिता में 20 अध्याय, 731 सूक्त तथा लगभग 6000 मंत्र हैं।

2. ब्राह्मण साहित्य

संहिताओं के संकलन के पश्चात् उनके पद्यमय भाग की यज्ञानुष्ठान हेतु विस्तारपूर्वक वर्णन करने वाले ग्रंथ को ब्राह्मण कहते हैं। ब्राह्मण शब्द यहां जातिवाचक न होकर साहित्यिक संज्ञा है, जिसका अर्थ वृहू वर्धने अर्थात् बढ़ने वाला। ब्रह्म का दूसरा अर्थ यज्ञ भी है और यज्ञों के विषय का प्रतिपादन करने के कारण ही ये ब्राह्मण कहलाए। प्रत्येक संहिता का अपना विशिष्ट ब्राह्मण है, जिसमें उस संहिता की व्याख्या प्रस्तुत है।

ऋक् संहिता :	ऐतरेय ब्राह्मण, कौषीतकी ब्राह्मण।
साम संहिता :	ताण्डय या पंचविश, षड्विश, जैमिनीय।
शुक्ल यजुर्वेद :	शतपथ ब्राह्मण।
कृष्ण यजुर्वेद :	तैत्तिरीय ब्राह्मण।
अथर्ववेद :	गोपथ ब्राह्मण।

3. आरण्यक ग्रंथ :

ब्राह्मण ग्रंथों के पश्चात् वैदिक साहित्य में आरण्यक ग्रंथों का स्थान आता है। 'आरण्य' शब्द का अर्थ है जंगल या वन। अर्थात् आरण्यक ऐसे ग्रंथ हैं, जो जन जीवन के कोलाहल से दूर एकान्त वनों में पठनीय हैं। इन ग्रंथों में यज्ञ व अनुष्ठानों की चर्चा

न होकर हमें पहली बार आध्यात्मिक रहस्य व चिंतन के दर्शन होते हैं। आत्मा, परमात्मा, ईश्वर, ब्रह्म, प्रकृति, मृत्यु, कर्म, माया, मोक्ष जैसे दार्शनिक प्रश्नों पर यहां विचार किया गया है। इन ग्रंथों से ही भारतीय साहित्य में ज्ञानमार्गी विचारधारा का बीजारोपण होता है। वैदिक साहित्य में इनकी संख्या न्यूनतम है और हमें केवल सात आरण्यक ही उपलब्ध होते हैं, जो ब्राह्मण ग्रंथों के अंतिम भाग या परिशिष्टों के समान हैं–

ऋक् संहिता :	ऐतरेय व कौषीतकी आरण्यक।
साम संहिता :	छान्दोग्य व जैमिनीय आरण्यक।
शुक्ल यजुर्वेद :	वृहदारण्यक।
कृष्ण यजुर्वेद :	तैत्तिरीय।
अथर्ववेद संहिता :	कोई आरण्यक नहीं।

4. उपनिषद् या वेदांत

वैदिक साहित्य में अंतिम कड़ी के रूप में आरण्यकों के अंत में ही उपनिषद् आते हैं। प्रतिपादित विषय की दृष्टि से वेद के दो भाग हैं–कर्मकांड और ज्ञान कांड। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यकों में प्रधानतया कर्म की विवेचना होने के कारण ये कर्मकांड, यज्ञ व अनुष्ठानों का विस्तार से वर्णन करते हैं, जबकि उपनिषद् ज्ञान कांड प्रधान होने के कारण ब्रह्म के स्वरूप, जीव तथा ब्रह्म के परस्पर संबंध, ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग आदि विषयों का विशद वर्णन करते हैं। यद्यपि उपनिषदों की निश्चित संख्या पर काफी विवाद है, क्योंकि पहले प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना विशिष्ट उपनिषद् था, परंतु अब बहुत से उपनिषद् उपलब्ध नहीं हैं। मुक्तिकोपनिषद् में 108 उपनिषदों की सूची दी हुई है, जिसमें 10 ऋग्वेद से, 29 शुक्ल यजुर्वेद से, 32 कृष्ण यजुर्वेद से, 26 सामवेद से और 31 अथर्ववेद से संबंधित हैं। आदि शंकराचार्य ने विषय प्रतिपादन, विशदता व प्राचीनता के आधार पर 11 उपनिषदों पर अपने भाष्य प्रस्तुत किए हैं तथा इन ग्यारह भाष्यों में 6 अन्य उपनिषदों से प्रमाण लिए हैं। अतः ये ही 17 उपनिषद् बड़े महत्त्वपूर्ण माने गए हैं। इसी प्रकार मुक्तिकोपनिषद् में भी दस उपनिषदों के ही पाठ पर विशेष बल दिया गया है, परंतु काल व स्थान भेद के अनुसार आज उपलब्ध उपनिषदों की संख्या लगभग 220 है।

उपनिषद् शब्द की व्याख्या

उपनिषद् शब्द का व्यावहारिक अर्थ है–**उप** अर्थात् निकट, **नि** अर्थात् नीचे, **षद्** अर्थात् (बैठना)। इस प्रकार–गुरु के पास, उसके निकट या नीचे चरणों में बैठकर अध्ययन करना। दार्शनिक विद्वान् उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार बतलाते हैं– **'उप+नि'** इन दो उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर

'उपनिषद्' शब्द की सिद्धि होती है। 'सद्' धातु के तीन भिन्न अर्थ हैं—विनाश, गति, अवसादन (शिथिल करना)। अर्थात् जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वही उपनिषद् है (कल्याण पृ. 14, उपनिषदांक)। यही मत आचार्य शंकर का भी है।

रहस्य शब्द के अर्थ में भी उपनिषद् शब्द प्रयुक्त हुआ है—**परमरहस्यभूत आत्मतत्व या ब्रह्म के रहस्य को प्रकट करने वाला ज्ञान ही उपनिषद् है।** उपनिषद् शब्द का एक अन्य अर्थ 'उपासना' भी है। ब्रह्म के निराकार स्वरूप की उपासना ही उपनिषद् है। अमरकोषकार उपनिषद् शब्द का शब्दार्थ—''धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्'' लिखते हैं। अर्थात् उपनिषत् शब्द गूढ़ धर्म व रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है। एक अन्य अर्थ के अनुसार उप=समीप, निषत—निषीदति=बैठने वाला। अर्थात् जो उस परमब्रह्म के समीप पहुंचकर ब्रह्म तेज से प्रकाशित होकर शांत भाव से बैठ जाता है, वही उपनिषद् है।

उपनिषदों की संख्या

उपनिषदों की कुल संख्या कितनी है? किस संहिता या वेद से कौन-सा उपनिषद् संबंधित है? मुख्य उपनिषद् कौन-कौन से हैं ? इन प्रश्नों का उत्तर देश, काल, परिस्थिति तथा विभिन्न मतानुसार परिवर्तित होता रहा है। सर्वप्रथम प्राचीन वैदिक **''छंदस''** भाषा जो संहिताओं में मिलती है, उससे भिन्न लौकिक संस्कृत में आरण्यक व उपनिषद् साहित्य की रचना प्रारंभ हुई। संहिताओं और ब्राह्मणों की भांति इन्हें स्वर सहित पढ़ने का विधान नहीं है। आरण्यकों के अंतिम भाग होने के कारण आरण्यकों के नाम से ही प्रसिद्ध उपनिषद् जैसे— **ऐतरेय, कौषीतकि** (ऋग्वेद), **छान्दोग्य (सामवेद), तैत्तिरीय, वृहदारण्यक (यजुर्वेद)** आदि हैं, जिनकी शैली गद्यमय है।

ऐतरेय आरण्यक में पांच खंड हैं, जिनमें प्रथम सोमयज्ञ से संबंधित है, द्वितीय खंड प्राण व पुरुष की रहस्यात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसी द्वितीय खंड के अंतिम चार भाग ऐतरेय उपनिषद् का रूप ले लेते हैं, अर्थात् उपनिषद् स्वतंत्र रचना न होकर आरण्यक के अंतिम भाग को ही कहा जाता है। इसी प्रकार कौषीतकि, छांदोग्य व वृहदारण्यक हैं। वृहदारण्यक तो स्पष्टतः अपने नाम में ही आरण्यक के प्रभाव को प्रदर्शित करता है। दूसरी श्रेणी में कठोपनिषद्, ईशोपनिषद्, श्वेताश्वतरोपनिषद्, मुंडकोपनिषद् व महानारायणोपनिषद् आदि आते हैं, जो पद्यमय हो जाते हैं। शुक्ल यजुर्वेद से संबंधित मुक्तिकोपनिषद् जिसमें भगवान राम व हनुमानजी के मध्य हुए वार्त्तालाप में 108 उपनिषदों की सूची दी गई है, प्रामाणिक मानी जाती है। आदि शंकराचार्य ने ईशोपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, मुंडकोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद् तैत्तिरीयोपनिषद्, ऐतरेयोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, वृहदारण्यकोपनिषद्

तथा नृसिंह पूर्वतापनीयोपनिषद्—इन ग्यारह उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। अतः इन्हें प्रमुख स्थान दिया है। ब्रह्मसूत्र पर अपने भाष्य में आचार्य शंकर ने कौषीतकि उपनिषद्, जाबालोपनिषद्, महानारायणोपनिषद्, व पैंगलोपनिषद् आदि की भी चर्चा की है। अतः इन 15 उपनिषदों को ब्राह्मज्ञान की विशिष्टता के कारण सर्वप्रमुख माना जाने लगा। इसी प्रकार 14वीं शताब्दी के प्रसिद्ध संस्कृत के विद्वान् तथा विजयनगर के राजगुरु विद्यारण्य ने अपनी रचना ''सर्वोपनिषद्-अर्थानुभूति-प्रकाश'' में 12 उपनिषदों को ही प्रमुखता दी है। मुगल काल में 1657 ई. में पूरा हुआ 50 उपनिषदों का फारसी में अनुवाद, जो दाराशिकोह की विद्वता व उपनिषदों के प्रति उसकी गहरी रुचि का द्योतक है ''सिर्रे अकबर'' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मुगल काल में 50 उपनिषद् विशेष रूप से प्रसिद्ध थे। अवध के नवाब शुजाउद्दौला की राजसभा के रेजिडेंट एम. गेटिल ने 1775 में दाराशिकोह की प्रतिलिपि एंक्वेटिल डुपेर्रन नामक यात्री को दी, जिसने 1802 में ''औपनेखत'' (oupnekhat) के नाम से उसका अनुवाद प्रकाशित किया, जिसके फलस्वरूप पश्चिमी जगत में भी यही 50 की संख्या ज्यादा प्रसिद्धि पा गई। इसी परम्परा में आर्थर शोपेनहर व मैक्समूलर ने उपनिषदों का यथार्थ जानने का प्रयास किया। मैक्समूलर ने तो ''मैक्सिकोपनिषद्'' नाम से एक उपनिषद् की रचना भी की। कुछ मनीषियों ने वर्णित विषयों व सम्प्रदाय के आधार पर उपनिषदों का वर्गीकरण करने का प्रयास किया, जो इस प्रकार हैं—20 योग उपनिषद्, 24 वेदांत उपनिषद्, 15 शैव उपनिषद्, 14 वैष्णव उपनिषद् और 8 शक्ति उपनिषद्। ये कुल 98 उपनिषद् हैं तथा इनके अतिरिक्त ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य व वृहदारण्यक इन 10 को मिलाकर पुनः 108 की संख्या स्थापित कर दी। अतः विभिन्न स्रोतों द्वारा प्रामाणिक उपनिषदों की संख्या 108 ही मानी गई है, जिनमें से 10 या 11 उपनिषद् (ईष—वृहदारण्यक) सार रूप में आधारभूत उपनिषदें मानी गई हैं। कालांतर में वहुत से विद्वान् अपने मत व सम्प्रदाय को विशिष्ट स्थान व महत्त्व दिलाने के लिए उपनिषद् का शाब्दिक प्रयोग करते थे। उदाहरणार्थ, अकवर के समय में ''अल्लोपनिषद्'' नामक ग्रंथ की रचना हुई, जो अल्लाह से संवंधित था, परंतु जनमानस में उपनिषद् शब्द की व्यापकता देखते हुए इसे अल्लोपनिषद् का नाम दे दिया गया। थियोसोफिकल सोसाइटी, अडियार, मद्रास ने 179 उपनिषदों का संग्रह करके प्रकाशित किया है। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस मुंबई ने 223 उपनिषदों की सूची प्रकाशित की हैं, जबकि गीता प्रेस, गोरखपुर के कल्याण ने उपनिषद् अंक में 220 उपनिषदों की सूची दी है। प्रस्तुत पुस्तक मुक्तिकोपनिषद् की परम्परा में 108 विशिष्ट उपनिषदों की संख्या को ही प्रामाणिक मानते हुए वर्णन प्रस्तुत करती है।

मुक्तिकोपनिषद् की सूची

मुक्तिकोपनिषद् में श्रीराम व हनुमानजी के संवाद के माध्यम से जो सूची प्रस्तुत की गई है, वह इस प्रकार है–

क्र.	वेद	संख्या	शान्ति पाठ मंत्र	उपनिषद्
1.	ऋग्वेद	10	ॐ वाङ् मे मनसि	ऐतरेय, कौषीतकि, नादबिंदु, आत्मप्रबोध, निर्वाण, मुद्गल, अक्षमालिका, त्रिपुरा, सौभाग्यलक्ष्मी, वह्वृच।
2.	सामवेद	16	ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि	केन, छांदोग्य, आरुणिक, मैत्रायणी, मैत्रेयी, वज्रसूचिका, योगचूड़ामणि, वासुदेव, महत, संन्यास, अव्यक्त, कुण्डिका, सावित्री, रुद्राक्षजावाल, जावालदर्शन, जावालि।
3.	शुक्ल यजुर्वेद	19	ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्	ईशावास्य, वृहदारण्यक, जावाल, हंस, परमहंस, सुवाल, मंत्रिका, निरालम्ब, त्रिशिखिब्राह्मण, मण्डलब्राह्मण, अद्वयतारक, पैगल, भिक्षुक, तुरीयातीत, तारसार, अध्यात्म, याज्ञवल्क्य, शाट्यायनी, मुक्तिका।
4.	कृष्ण यजुर्वेद	32	ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु	तैत्तिरीय, श्वेताश्वतर, कठवल्ली, ब्रह्म, कैवल्य, गर्भ, नारायण, अमृतविन्दु, कालाग्निरुद्र, क्षुरिका, सर्वसार, शुकरहस्य, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योगतत्व, दक्षिणामूर्ति, स्कन्द, शारीरक, योगशिखा, एकाक्षर, अक्षि, अवधूत, कठरुद्र, रुद्रहृदय, योगकुंडली, पंचब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, वराह, कलिसंतरण, सरस्वती रहस्य, अमृतनाद।
5.	अथर्ववेद	31	ॐ कर्णेभिः शृणुयाम्	प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, अथर्वशिरस, अथर्वशिखा, वृहज्जाबाल, नृसिंहतापनीय· नारदपरिव्राजक, सीता, शरभ, त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, रामरहस्य, रामतापनीय, शाण्डिल्य, परमहंसपरिव्राजक, अन्नपूर्णा, सूर्य, आत्मा, पाशुपत, परब्रह्म, त्रिपुरातापनीय, दैवी, भावना, भस्मजाबाल, गणपति, महावाक्य, गोपालतापनीय, कृष्ण, हयग्रीव, दत्तात्रेय, गरुड़।

उपनिषदों के विशिष्ट संदर्भ में–ॐ

उपनिषदों का उद्देश्य मनुष्य को ब्रह्मज्ञान या आत्मतत्व के प्रकाश द्वारा ब्रह्मदर्शन कराना है, जिसके द्वारा मनुष्य नाना योनियों में बार-बार जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर सके। जो पिण्ड में है, वही ब्रह्मांड में है, इसी दर्शन के आधार पर वह परमब्रह्म परमात्मा सभी जीवधारियों के अन्तस् में वास करता है। कोई भी व्यक्ति अपने हृदय में उस परम सत्ता के दर्शन कर सकता है, आत्म-साक्षात्कार कर सकता है और इस प्रकार आत्मा का परमात्मा से मिलन हो सकता है। किंतु मन की चंचलता और भौतिक जगत् तथा शरीर के प्रति आसक्ति उससे मिलन में बाधा बनती है। इस प्रकार ब्रह्म को हृदय में देखने के लिए यह भौतिक शरीर ही एक ओर सबसे बड़ा बाधक है, तो दूसरी ओर सबसे बड़ा साधक और सहायक भी है। यदि आप शांत मन से गंभीरतापूर्वक विचार करें, तो पाएंगे कि शरीर व आत्मा में द्वैत भाव (अर्थात् वह दो अलग-अलग सत्ताएं नहीं हैं) नहीं है, अपितु अद्वैत भाव है। इन दोनों के बीच में भ्रम दो का भाव, दो भिन्न अस्तित्वों का आभास कराने वाली वस्तु है ''चंचल मन''। शरीर आत्मा से संबंधित वह भाग है, जो मन व इन्द्रियों की पकड़ में आ जाता है और मन तथा इन्द्रियों के अनुरूप अज्ञानवश 'आत्मा' की सत्ता को भूलकर बाहरी संसार से मन को बहलाने का माध्यम बन जाता है। ''आत्मा'' वह स्वतन्त्र सत्ता है, जो मन व इन्द्रियों की पहुंच से परे है और उनके नियंत्रण में न होकर स्वतंत्र है। यही मन और इन्द्रियां जब भोग पथ पर चलते हुए बाह्यमुखी हो जाती हैं, तो मनुष्य संसार की माया को ही सत्य मानकर जीवन भर भ्रमित रहता है और जब साधन पथ पर चलकर मन व इन्द्रियां अंतर्मुखी हो जाती हैं, तो मनुष्य आत्मा से मिल जाता है और संसार की झूठी माया व मोह के बंधनों से मुक्त हो जाता है। मन की अंतर्मुखी साधना में मन की ऊर्जा को शरीर के अंदर प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं से एकत्रित कर कुंडलिनी को जागृत किया जाता है, जो गुदा व लिंग के मध्य स्थित मूलाधार चक्र में सुषुप्त अवस्था में पड़ी होती है। हमारा मन अर्थात् आम आदमी या जनसामान्य की प्रवृत्ति सांसारिक ध्वनियों

और शब्दों को कान के माध्यम से सुनकर मन को प्रेषित करने की होती है। हमारे कान मन की इच्छा के अनुसार कुछ आवाजों या ध्वनियों को सुनकर उनसे आनंदित होते हैं, जैसे-मधुर संगीत, प्रिय वार्त्तालाप आदि। कुछ ध्वनियों से मन क्रोधित हो उठता है, जैसे अपशब्द, गाली और अप्रिय ध्वनियां, जैसे मोटर का हार्न, ध्वनि प्रदूषण आदि। अब जरा दूसरे पक्ष पर सोचिए, यदि एकांत हो, आंखें, बन्द हों और वातावरण बिलकुल शांत हो, कोई सांसारिक आवाज न हो, मन अन्तर्मुखी हो रहा हो, तो क्या आपको कोई ध्वनि या शब्द सुनाई देता है? यदि आप नियमित अभ्यास करें, तो आपको अपने ही शरीर में एक ध्वनि सुनाई देगी, जिसे योगी जन नाद कहते हैं। यह नाद ही ॐ है, जो किसी प्राकृतिक या सांसारिक वस्तु द्वारा पैदा न होकर अपने आप शरीर में ही प्रकट होती है, यही ध्वनि परमात्मा द्वारा संसार के सृजन के समय उत्पन्न होने वाली आदि या प्रथम ध्वनि है। ॐ में तीन ध्वनियां एक साथ प्रकट होती हैं। पहले 'अ' की ध्वनि, फिर दूसरी 'उ' की ध्वनि और तीसरी 'म' की ध्वनि। जिस प्रकार परमात्मा द्वारा प्रकट की गई प्रकृति की प्रवृत्ति त्रिगुणात्मक है (सत्व, रज व तम) तथा मनुष्य शरीर की प्रकृति त्रिदोषात्मक है (वात् पित्त और कफ़), मूल वर्ण अर्थात् रंग भी त्रिसत्तात्मक है (श्वेत, पीला एवं हरा) और यदि योगतंत्र दृष्टि से विचार करें, तो किसी भी प्रकार से आकाश तत्व को या साधारण भाषा में किसी भी स्थान को घेरने के लिए तीन रेखाओं से युक्त त्रिभुज की आवश्यकता होती है। वैसे ही ॐ की ध्वनि भी त्रिवर्णात्मक है, क्योंकि दर्शन बार-बार इस बात को दोहराता है कि "**यद्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे**" जो कुछ भी ब्रह्मांड में समष्टि रूप से स्थित है, वही सब मानव देह में व्यष्टि रूप में स्थित है।

ॐ के संबंध में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह शब्द न होकर केवल चित्र है (ॐ को ओम् लिखना शास्त्र सम्मत नहीं है), क्योंकि यदि ॐ शब्द रूप में लिखा जाए या वह शब्द हो, तो उसका अर्थ होना अनिवार्य है, जबकि ॐ का अर्थ इस संपूर्ण दृश्य व स्थूल जगत् में किसी भी वस्तु के समतुल्य नहीं है। यह तो शब्दातीत अर्थातीत व भावातीत है। इसीलिए उपनिषद् इसके लिए "**नेति नेति**" यह नहीं है यह भी नहीं है, इसका प्रयोग करते हैं।

ॐ तो स्वयंभू अनहद है। संसार में जितनी भी श्रव्य ध्वनियां हैं, वे सब दो वस्तुओं के टकराने या संघर्ष से ही पैदा होती हैं। जैसे– घंटे पर जब प्रहार होता है, तो ध्वनि निकलती है, हम दोनों हाथों को एक दूसरे पर मारते हैं, तो ताली के माध्यम से शब्द उत्पन्न होता है, स्वर तंत्र के दो अंगों के बीच वायु में घर्षण होता है, तभी ध्वनि निकलती है। दो वस्तुओं में टकराव के बिना सांसारिक ध्वनि या शब्द संभव ही नहीं है। अतः यह खंडित या क्षत ध्वनि है, जबकि ॐ केवल एक की, आघातरहित, संघर्ष रहित, अखंडित, अक्षत ध्वनि है। जहां मन की चंचलता समाप्त हो जाती है, मन विचार शून्य हो जाता है, किसी शब्द व भाषा के प्रति

जब मन निरपेक्ष हो जाता है, भावों का भी उदय समाप्त हो जाता है, उस गहन मौन में जो एकमात्र शेष रह जाता है—वह है ॐ ।

अ, उ, म इन तीनों ध्वनियों का केन्द्र हमारे भौतिक शरीर में नाभि, हृदय क्षेत्र और मस्तिष्क हैं। इसी प्रकार योग साधना में इन वर्णो का जन्म क्रमशः विशुद्ध चक्र (अ,उ) और स्वाधिष्ठान चक्र (म) की कमल पंखुड़ियों पर होता है। जबकि नाद का प्रारंभ या अनाहत ध्वनि का स्थान आज्ञा चक्र में है। थोड़ा और गहन विचार करने पर हम पाते हैं कि मनुष्य का सृजन नाभि से ही होता है, क्योंकि गर्भस्थ शिशु की नाल या नाभि माता से जुड़ी रहती है और उसके कटने के पश्चात् उसकी व्यष्टि सत्ता, समष्टि सत्ता से पृथक होती है। यही 'अ' है, यही ब्रह्मा का धर्म है। इसके पश्चात् जीवन का स्पंदन हृदय से प्रारंभ होता है, ब्रह्म हृदय में ही निवास करता है तथा मन आदि सभी इन्द्रियां सोने पर हृदय में ही प्रविष्ट होती हैं और इस जीवन का अस्तित्व व पालन तभी तक संभव है, जब तक हृदय क्रियाशील है। यही 'उ' है, यही विष्णु का धर्म है। जन्म व पालन के पश्चात् चेतना व बुद्धि के विकास का क्रम मस्तिष्क में होता है। योगियों के प्राण इसी मस्तक में स्थित ब्रह्मरंध्र का भेदन करके ऊर्ध्वगति को प्राप्त होते हैं तथा नवजात शिशु का यही मस्तिष्क अभी पूर्ण रूप से बंद न होकर खुला होता है, जिसे विधृति कहते हैं। यहीं से ब्रह्म प्रवेश करता है और यही उसका सर्वोत्तम निकास मार्ग है। यही "म" है। यही शिव का धर्म है। 'म' के प्रभाव के कारण ही मस्तक, मस्तिष्क, माथा आदि सभी शब्दों के मूल में 'म' शब्द बीज है। ॐ कालसापेक्ष, धर्मसापेक्ष व स्थानसापेक्ष भी नहीं है, क्योंकि यह स्वतंत्र व मौलिक कंपन है, जो एक सृजन संकल्प की ध्वनि है। यही कारण है कि लेटिन से प्रभावित अंग्रेजी शब्दों में जैसे ओमनीप्रेसन्ट, ओमनीसीएन्ट, ओमनीपोटेन्ट सर्वव्यापक जैसे अर्थ के प्रारंभ में ॐ है, क्योंकि सर्वव्यापक (सर्वशक्तिमान) केवल ब्रह्म ही है। प्रकृति ने भी स्वयं को स्पष्टतः ॐकार रूप में अभिव्यक्त किया है, जैसे ॐकारेश्वर धाम में नर्मदा व कावेरी का संगम प्राकृतिक जलीय ॐ की अभिव्यक्ति करता है और ॐ को सार्थक करता हुआ ज्योतिर्लिंग ॐकारेश्वर है। भगवान शिव का पौराणिक कैलाश धाम स्पष्टतः ॐकार रूप का होने के कारण ॐपर्वत कहलाता है। इसी ॐ को उपनिषद् प्रणव की शाब्दिक संज्ञा से अभिव्यक्त करते हैं। यही ॐकार उद्गीथ है। इसी ॐ का विस्तृत विवेचन छांदोग्योपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, प्रश्नोपनिषद्, ध्यानबिन्दु, नाद बिन्दु आदि उपनिषदों में संकलित है। ॐकार यह एक अक्षर ही ब्रह्म है। इसी तथ्य को स्वयं भगवान कृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है—

ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।

(अध्याय 8-13)

आत्मा एवं पंचकोशमय देह

मानव शरीर की संरचना व संगठन साधारण न होकर काफी जटिल व व्यापक है। ब्रह्म इस शरीर में स्थित होते हुए भी जीव के लिए साधारणतः अप्राप्य है। यह शरीर ही उस परम ज्योति की प्राप्ति में ज्ञान की ज्योति प्रकाशित होने से पूर्व सबसे बड़ी बाधा है और यही शरीर जो 84 लाख योनियों में भटकने के पश्चात् सौभाग्य से प्राप्त होता है, सबसे बड़ा सहायक है। बस, आवश्यकता है स्वयं अपने शरीर को समझने की, जानने की, पहचानने की और इसमें छिपे ब्रह्म को पाने की। ब्रह्म के उस अंश को, जो आत्मा के रूप में हमारी देह में विद्यमान है तथा जिसकी प्राप्ति उपनिषदों का एकमात्र लक्ष्य व उद्देश्य है, वास्तव में पांच आवरणों या कोशों से ढका हुआ है और जब तक मनुष्य इन पांचों आवरणों को भेदता नहीं, तब तक उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इन पांच कोशों के नाम हैं—अन्नमय कोश, प्राणमय कोश, मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और अंतिम व पांचवा आनन्दमय कोश। इनमें से प्रत्येक कोश (शरीर) उत्तरोत्तर सूक्ष्म व व्यापक होता है।

अन्नमय कोश (शरीर)

मानव के जन्म के पश्चात् सर्वप्रथम जो एक छोटे-से शिशु का शरीर-पिण्ड होता है एवं भौतिक रूप में दिखाई देता है, उसे अन्नमय कोश कहते हैं। यही कोश धीरे-धीरे अन्न व आहार ग्रहण करके बढ़ता है। शेष शरीर बीज रूप में प्रसुप्त अवस्था में विद्यमान रहते हैं। जन्म के पश्चात् लगभग पांच-छः वर्ष तक न तो बालक में विशेष बुद्धि होती है, न ज्ञान, न इच्छा, न कोई भावना। उसका सुख-दुःख, तृष्णा, वासना, इच्छा व कामना केवल भोजन व खाद्य पदार्थों तक ही सीमित होती है। अन्नमय शरीर का आवरण बढ़ता जाता है और शरीर का विकास होने लगता है। धीरे-धीरे मनुष्य युवा हो जाता है और एक समय आता है, जब भौतिक शरीर की वृद्धि रुक जाती है। अब उस पूर्ण विकसित शरीर के पालन के लिए अन्न ग्रहण करना पड़ता है। यदि कुछ समय तक अन्न न मिले, तो यह अन्न पर आश्रित शरीर शक्तिहीन होने लग जाती है। यही इस स्थूल शरीर का अन्नमय कोश है। ब्रह्म इसमें स्थित नहीं है, फिर अन्नमय शरीर का क्या उपयोग है? अन्नमय शरीर की उपयोगिता यही है कि इसके आवरण में प्राणमय शरीर स्थित रहता है।

प्राणमय शरीर : प्राण अर्थात् साधारण भाषा में श्वास को अंदर खींचना व बाहर निकालना। परंतु व्यापक संदर्भ में प्राण वह जैविक शक्ति है, जो श्वास के माध्यम से शरीर में व्याप्त होकर श्वास, रुधिर परिसंचरण, मल व मूत्र विसर्जन, इन्द्रियों का संचालन और योगियों के लिए लोकलोकान्तर के भ्रमण का कार्य करती

है। प्राण के द्वारा ही हम वाक् अर्थात् बोलने की शक्ति प्राप्त करते हैं और वैखरी अर्थात् अर्थ व शब्द से युक्त वाणी को तो "प्राणावृत्तिनिबन्धना" की संज्ञा ही दी गई है। जीवित व्यक्ति के शरीर में एक निश्चित तापमान बनाए रखना प्राण शक्ति का ही कार्य है।

ओजस्तेजोरग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्निहेतुकाः

यह प्राण शरीर में जाकर 10 भागों में विभक्त हो जाता है, जिनमें 5 गौण व 5 मुख्य प्राण माने जाते हैं–

प्रमुख प्राण	**गौण प्राण**
1. प्राण : हृदय क्षेत्र में	1. नागवायु : छींक से संबंधित
2. अपान : गुदा प्रदेश में	2. कूर्मवायु : संकोचनीय
3. उदान : कंठ में	3. कृकरवायु : क्षुधा व प्यास
4. व्यान : संपूर्ण शरीर में	4. देवदत्त : निद्रा के समय आंखें बन्द करने के लिए उत्तरदायी
5. समान : कण्ठ में	5. धनंजय वायु : पोषण

यह प्राणमय शरीर भी ब्रह्म नहीं है, अपितु अन्नमय देह को आयु या जीवन देने वाली शक्ति है। परंतु ब्रह्म की ओर जाने के मार्ग में इसका बहुत महत्त्व है, क्योंकि योगसाधना में सर्वप्रथम प्राणायाम द्वारा दी हुई योग-यात्रा प्रारंभ की जाती है।

मनोमय शरीर : प्राणमय शरीर के भीतर व्याप्त तीसरा शरीर मनोमय है। मन में विचारों का जन्म होता है, मन ही इन्द्रियों को नियंत्रक की भांति अपनी इच्छा के अनुरूप चलाता है। आंखें मन की इच्छा के अनुरूप ही वस्तुएं देखना चाहती हैं। जिह्वा मनपसंद भोजन या रस ग्रहण करना चाहती है। नाक मनमोहक सुगंध सूंघना चाहता है। पैर मन में विचार आने पर इच्छित स्थान की ओर चल पड़ते हैं। मन से संबंधित दूसरी विशिष्ट बात यह है कि मन कभी भी स्थिर या शांत नहीं होता। हर समय इसमें विचारों का आवागमन लगा रहता है। यह विश्व की चंचलतम रचना है और एक बार यदि कोई अच्छा या बुरा विचार मन में उत्पन्न हो जाए, तो वैसे ही विचारों की एक शृंखला या लड़ी प्रारंभ हो जाती है और वह तब तक नहीं रुकती, जब तक मनुष्य अपनी प्रबल इच्छाशक्ति या संकल्पशक्ति द्वारा उसे रोक न दे। मनोमय शरीर के द्वारा ही हम कल्पना करते हैं और स्वप्न देखते हैं। विचारों के जाल में सदैव संदेह रहता है और अनिश्चय की स्थिति रहती है। परंतु एक बार यदि यह मन स्थिर हो जाए और विचार शून्य होकर अन्तर्मुखी हो जाए, तो यही मन अपनी संकल्पशक्ति के द्वारा ब्रह्म प्राप्त में सफलता प्रदान करता है और यदि यह जीवन भर बहिर्मुखी ही रहा, तो जीवन भोगों में ही बीत जाता है, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि भोग मनुष्य को भोग लेते हैं।

विज्ञानमय शरीर : मनोमय कोश के पश्चात् चौथा कोश जो मनोमय कोश से भी सूक्ष्म और मनोमय आवरण में स्थित है, वह विज्ञानमय कोश कहलाता है। बुद्धि व अहंकार से व्याप्त यह शरीर कार्यों में तथा संकल्पों में अपने विवेकानुसार निश्चयात्मक बुद्धि प्रदान करता है। निश्चय करने पर ही संकल्प को बल मिलता है। जब बुद्धि मन को यह ज्ञान कराती है कि जिस कार्य में वह प्रवृत्त होने जा रहा है, वह उचित है या अनुचित। तदनुरूप ही उसमें श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसीलिए श्रद्धा को विज्ञानमय शरीर का शीर्ष माना गया है। मन को सांसारिक भोगों से हटाकर अन्तर्मुखी करने का ज्ञान यही शरीर बुद्धि के माध्यम से देता है। यह विज्ञानमय कोश ब्रह्म स्वरूप आत्मा को आवरित करके अकर्ता आत्मा को कर्ता, जाति अभिमान रहित आत्मा को नाम जाति अभिमान युक्त जैसा प्रकट करता है। ब्रह्म प्राप्ति के लिए इस आवरण का भी भेदन योगी को करना पड़ता है।

आनन्दमय कोश : आत्मा पर पड़ा अंतिम आवरण जो आत्मस्वरूप को आच्छादित करके उसे सुख, आनन्द, रस, आमोद-प्रमोद की अनुभूति कराता है, आनन्दमय कोश कहलाता है। वस्तुतः वास्तविक आनन्द तो परब्रह्म की प्राप्ति में ही है, परंतु फिर आनंद के अंशमात्र की अनुभूति से प्राणी कैसे सजीव हो उठता है, शक्तिवान हो जाता है, उसमें नए उत्साह का संचार हो जाता है। यह इस सूक्ष्मतम शरीर की विस्तृत व व्यापक शक्ति का ही आधार है। यथार्थ सत्य को जानकर जो क्षणिक आनन्द में न पड़कर दृढ़तापूर्वक इस कोश का भी अतिक्रमण कर लेता है, उसका परब्रह्म से एकाकार हो जाता है।

सुपर्ण

सुपर्ण अर्थात् जिसके सु=सुंदर, पर्ण=पंख हों। वैदिक साहित्य में सुपर्ण के प्रतीक के माध्यम से जीव व ब्रह्म के अन्तर्संबंध की गहन व गूढ़ दार्शनिक विवेचना की गई है। अतः उस भाव को समझने के लिए सुपर्ण का विशिष्ट ज्ञान अत्यावश्यक है। सुपर्ण अर्थात् सुंदर पंखों वाला पक्षी जो उड़ान भरता हो। उड़ान भरने के लिए पक्षी के दो पंख होते हैं, ये न तो दो से अधिक होते हैं और न दो से कम। इन दो पंखों से उड़ने वाला एक होता है। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक का साधन दो से ही होता है। इससे न कम से या न अधिक से। पर्ण का एक दूसरा अर्थ पत्र या पत्ता भी है। जैसे-पक्षी के दो पंख होते हैं, वैसे ही संसार में प्रत्येक अंकुर के दो दल होते हैं। बहुशाखीय और बहुपर्णीय वृक्ष पर भी प्रत्येक नया प्रस्फुटन द्विदलात्मक ही होता है। मनुष्य के जन्म के लिए भी दो, स्त्री रूप में माता व पुरुष रूप में पिता का मिलन अनिवार्य है। पुनः न दो से कम, न दो

से अधिक। शरीर में भी देखने के लिए दो आंखें, सुनने के लिए दो कान, सत्कर्मों के लिए दो हाथों का प्रावधान है। दो ही पूर्ण हैं अर्थात् सृजन दो से ही संभव है और सृजन की प्रक्रिया में ब्रह्म का अद्वैत स्वरूप द्वैत हो जाता है। सूर्य को भी सुपर्ण की संज्ञा दी गई है, क्योंकि उसके भी उत्तरायण और दक्षिणांयन दो पंख हैं, जिनके द्वारा काल की चक्रगति घूमती है। सुपर्ण रूपी पक्षी के रूपक तुलना का एक अन्य कारण पक्षी के पंख फैलाने और सिकोड़ने से भी है, क्योंकि ठीक ऐसी ही फैलने और सिकोड़ने की प्रक्रिया सांस के आवागमन में होती है, जो प्राण का रूप है। सृजन और प्रलय, आविर्भाव और तिरोभाव, सूर्य का उदय होना व अस्त होना, जन्म और मृत्यु, शिव और शक्ति, जीव व ब्रह्म, आत्मा व परमात्मा ये दो ही पंख हैं, जो विश्व में, प्रजापति में, प्राण में व ब्रह्मरूपी सुपर्ण में देखे जाते हैं। सुपर्ण की संकल्पना वैदिक काल में इतनी व्यापक थी कि यज्ञ की वेदियों का आकार भी सुपर्ण की भांति बनाया जाता था, जिसमें अग्नि का आह्वान किया जाता था। श्वेताश्वतर उपनिषद् के चतुर्थ अध्याय, मुंडक उपनिषद् का तृतीय मुंडक और तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानंदवल्ली में इस प्रतीक का विशिष्ट प्रयोग हुआ है। इसी प्रतीक का प्रयोग करते हुए ब्रह्म और जीव रूपी दो सुपर्णों की अभिव्यक्ति इस प्रसिद्ध श्लोक में अभिव्यक्त की गई है–

'द्वा सुपर्णा सयुजां सखायां समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

ऋग संहिता,	शौनक अथर्ववेद संहिता,	पैप्लाद अथर्व संहिता
1.164.20	9.9.20	16.67.20
मुण्डकोपनिषद्	श्वेताश्वतर उपनिषद्	नारायण उपनिषद्
3.11	4.6	1.2

इसी एक श्लोक की इतने स्थानों पर पुनरावृत्ति इस संकल्पना की व्यापकता को सिद्ध करता है (विस्तृत व्याख्या व अर्थ के लिए श्वेताश्वतर उपनिषद् देखें)।

उपनिषदों का उद्देश्य

भारतीय दर्शन की कोई भी धारा ऐसी नहीं है, जिसका मूल उपनिषदों में विद्यमान न हो। कालान्तर में विभिन्न सम्प्रदाय, विभिन्न मत, विभिन्न दर्शन उपनिषद् की किसी एक विशिष्ट संकल्पना को लेकर ही उसके वाहक बन गए। सांख्य दर्शन हो या बौद्ध दर्शन, जैन धर्म हो या शैव मत, शाक्त आराधना हो या सूर्य आराधना सभी वट वृक्षों के बीच उपनिषदों में स्पष्टतः मौजूद हैं। परंतु उपनिषदों का मुख्य उद्देश्य क्या है? इनका लक्ष्य क्या है? यह क्या कहना चाहते हैं? क्या संप्रेषित करना

चाहते हैं? यदि एक वाक्य में यह सब कहना हो, तो वह है 'सत्य की खोज' या 'ब्रह्म की पहचान'। हम कहां से आए हैं? हम कहां जाएंगे? इस सृष्टि को नियम पूर्वक चलाने वाला कौन है? सूर्य को कौन उदित करता है? चंद्रमा को कौन क्षीण व पुष्ट करता है? नदियों को कौन प्रवाहित करता है? मनुष्य में श्वास को कौन चलाता है? किसकी शक्ति से यह सब संचालित होता है? जीव वास्तव में क्या है ? इन्हीं जिज्ञासाओं को उपनिषद् शांत करता है। अतः कहा गया है—

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।।

(असत्य से सत्य की ओर चलें। अंधकार से प्रकाश की ओर चलें।)

ॐ वाङ् मे मनसि

ऋग्वेद एवं उसके उपनिषद्

ऐतरेय
कौषीतकि
मुद्गल
सौभाग्यलक्ष्मी
राधोपनिषद्
नादबिन्दु
बह्वृच
निर्वाण
आत्मप्रबोध
अक्षमालिका

ॐ वाङ् मे मनसि

ऐतरेय उपनिषद्

ऐतरेय उपनिषद् ऋग्वेद से संबंधित है एँवं इसमें तीन अध्याय हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक के दूसरे भाग के चौथे, पांचवे व छठे अध्यायों को ही ब्रह्मविद्या की प्रधानता के कारण 'उपनिषद्' माना जाता है।

प्रथम अध्याय

इस अध्याय में सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम, मनुष्य शरीर की उत्पत्ति, अन्न की उत्पत्ति व आत्मा के मनुष्य शरीर में प्रविष्ट होने के मार्ग के बारे में बताया गया है।

प्रथम खंड

हिरण्यगर्भ पुरुष की उत्पत्ति

इस खंड के प्रारंभ में निराकार नाम, रूप विहीन परमात्मा द्वारा सर्वप्रथम विभिन्न लोकों की रचना के संकल्प का विचार प्रस्तुत किया गया है। इस विचार के अंतर्गत परमेश्वर ने क्रमशः चार लोकों—अम्भ, मरीचि, मर और आपः की रचना की। स्वर्ग से ऊपर जितने लोक हैं, जैसे—महः, जनः, तपः, सत्य और द्युलोक उन्हें अम्भ की संज्ञा दी गई। जबकि सूर्य, चंद्रमा व तारों के किरणमय लोकों को, जोकि अंतरिक्ष में विद्यमान हैं, उन्हें मरीचि नाम से पुकारा गया। हमारा पृथ्वी लोक जो मृत्यु लोक भी है, क्योंकि यहां प्रत्येक वस्तु नाशवान व नश्वर है। अतः इसे 'मर' की संज्ञा दी गई और पृथ्वी के नीचे जो भी पातालादि लोक हैं, उन्हें 'आप' अर्थात् जल की संज्ञा दी गई है। इन्हीं लोकों से अम्भ व मरीचि, दोनों के अंतरिक्ष में स्थित होने के कारण व शेष दो पृथ्वी व पाताल के पृथ्वी से संबधित होने के कारण जगत् को त्रिलोकी अर्थात् अंतरिक्ष, पृथ्वी और पाताल लोकों का

समूह कहा गया और परब्रह्म को इनका सृजनहार होने के कारण त्रिलोकीनाथ कहा गया।

इन समस्त लोकों की रचना के पश्चात् इन लोकों की रक्षा हेतु **लोकपालों** की रचना हुई। यह सोचकर परब्रह्म ने जल में से हिरण्मय पुरुष का सृजन किया। इस हिरण्मय पुरुष के शरीर में अंडे की भांति फटकर मुख छिद्र बना। मुख से वाक् या **वाणी** उत्पन्न हुई और वाक्-इन्द्रिय से **अग्नि** प्रकट हुई। इसके पश्चात् दोनों नासिका छिद्र प्रकट हुए और उनमें से **प्राणवायु** उत्पन्न हुई और प्राणों से **वायु देवता** की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् आंखों के दोनों छिद्र प्रकट हुए। इन चक्षुओं से **दृष्टि** व दृष्टि से **सूर्य** देवता की उत्पत्ति हुई। फिर कानों के दोनों छिद्र प्रकट हुए व कानों से श्रोत्र इन्द्रिय व उसके देवता **दिक्पाल** अर्थात् दिशाओं के पालक की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् चर्म या **त्वचा** उत्पन्न हुआ। त्वचा के पश्चात् रोम व इन रोमों से **औषधियां** और **वनस्पतियां** प्रकट हुईं। इसके पश्चात् **हृदय** प्रकट हुआ, हृदय से **मन** और मन से उसके अधिष्ठाता **चन्द्रमा** की उत्पत्ति हुई। इसके पश्चात् **नाभि** का प्रादुर्भाव हुआ, नाभि से **अपानवायु** और अपानवायु से **मृत्यु देवता** का जन्म हुआ। अंत में **लिंग** प्रकट हुआ और उससे रेतस् या **वीर्य** का जन्म हुआ और वीर्य से **जल** देवता उत्पन्न हुआ।

द्वितीय खंड

मानव शरीर के विभिन्न भागों में दैवीय शक्तियों की स्थिति

उपरोक्त वर्णित परब्रह्म द्वारा रचे गए ये सभी देवता संसार रूपी समुद्र में आकर गिर गए और तत्पश्चात् उस परमात्मा ने उनमें भूख व प्यास की वेदना भी उत्पन्न कर दी। अब भूख व प्यास से पीड़ित उन देवताओं ने परब्रह्म से ऐसी प्रार्थना की जिससे उन्हें भूख व प्यास की संतुष्टि के लिए आहार प्राप्त हो सके। इसके पश्चात् परमेश्वर ने उन्हें गौ व घोड़े के शरीर प्रदान करने की चेष्टा की, परंतु उन्हें इन दोनों रूपों से संतुष्टि नहीं हुई। अंत में परमात्मा ने देवताओं के लिए मानव शरीर की रचना की और वही उनके लिए योग्य आश्रय स्थल बन गया। अग्नि देवता वाकेन्द्रिय के माध्यम से मनुष्य शरीर के मुख में प्रविष्ट हो गए। वायु देवता प्राणवायु के रूप में नासिका छिद्रों के मार्ग से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो गए। सूर्य देवता ने दृष्टि के माध्यम से नेत्रों में स्थान ग्रहण कर लिया। दिक्पाल या दिशाओं के स्वामी श्रवण शक्ति के रूप में कानों में प्रविष्ट हो गए। औषधियों व वनस्पतियों को त्वचा व रोमों के रूप में प्रतिनिधित्व मिली। चन्द्रमा मन का रूप धारण करके हृदय में प्रविष्ट हो गए। मृत्यु देवता अपानवायु (गुदा मार्ग) के रूप में नाभि प्रदेश में स्थित हो गए। जल देवता वीर्य के रूप में जननेंद्रिय में प्रविष्ट हो गए।

इस प्रकार सभी देवता मानव शरीर में अपने स्थान निर्धारित कर उसमें प्रविष्ट हो गए। अब अंत में भूख व प्यास ने अपने लिए भी स्थान निर्धारित करने की प्रार्थना की, तो परमात्मा ने उन्हें कोई पृथक् स्थान न देकर देवताओं के आहार में से ही भागीदार बना दिया।

तृतीय खंड

अन्न की उत्पत्ति व ब्रह्म (आत्मा) के मानव शरीर में प्रवेश का मार्ग

विभिन्न देवताओं की मानव शरीर में प्रतिष्ठा करके अब परमेश्वर ने उनके भूख-प्यास की संतुष्टि के लिए अन्न की उत्पत्ति करने का निर्णय लिया। जलों को या पंच महाभूतों को तपाकर मानव के माध्यम से देवताओं के लिए भोग्य अन्न का सृजन हुआ। इस अन्न को ग्रहण करने के लिए मनुष्य रूप ने वाणी द्वारा, नासिका द्वारा, आंखों द्वारा, कानों द्वारा, त्वचा द्वारा, मन द्वारा व लिंग द्वारा ग्रहण करने की चेष्टा की, परंतु ये सभी इन्द्रियां अन्न को ग्रहण नहीं कर सकीं और अंत में मुख द्वार ही अन्न ग्रहण का मार्ग बना।

शरीर, अन्न व अन्न ग्रहण करने के मार्ग के उपरांत अब परमात्मा ने विचार किया कि यदि इस शरीर में मेरा स्वयं का अंश नहीं होगा, तो यह मेरे सम्पर्क व संबंध के बिना कैसे रहेगा। अतः अब मुझे भी इसके शरीर में प्रविष्ट होना चाहिए। मैं किस मार्ग से इसमें प्रविष्ट होऊं? अंत में परमात्मा ने निर्णय किया और वह सिर में सीमा या ब्रह्मरंध्र के स्थान को चीरकर मनुष्य शरीर में स्थापित हो गए। (नवजात शिशु के सिर का ऊपरी भाग जो स्पर्श करने पर काफी कोमल प्रतीत होता है, वही देह में परमात्मा का प्रविष्टि मार्ग है।) यह द्वार क्योंकि विदीर्ण करके बनाया जाता है, इसलिए यह 'विदृति' के नाम से भी प्रसिद्ध है। (यही विदृति या ब्रह्मरंध्र योग साधना के षट्चक्र भेदन में अंतिम पड़ाव है, जहां पहुंचने पर योगी को असीमित आनन्द प्राप्त होता है। यह स्थान सहस्रार है, जिसे सहस्र दल कमल के माध्यम से प्रदर्शित किया जाता है। अब इसं मनुष्य रूप पुरुष ने परमेश्वर के प्रवेश के पश्चात् अपने अस्तित्व को अनुभूत किया और सोचा कि इस विचित्र जगत् की रचना करने वाला यहां दूसरा कौन है, ऐसा विचार करने पर मनुष्य ने अपने हृदयाकाश में परब्रह्म के साक्षात् दर्शन किए। इस प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन होने के कारण परमात्मा का एक नाम "इदन्द्र" भी है (इदमू+द= इसको मैंने देख लिया)। इसी इदन्द्र शब्द को परोक्ष भाव से "इन्द्र" कहा जाता है, क्योंकि देवताओं में रहस्यमय तथा गुप्त रूप से ही कुछ कहने की प्रवृत्ति है। (इन्द्र शब्द का वस्तुतः अर्थ है कि वह वस्तु जो अदृश्य व अगोचर हो अर्थात् जिसे देखा न जा सके)।

द्वितीय अध्याय

जीव के तीन जन्मों का विवरण

यह सांसारिक मनुष्य जो अब परमात्मा के द्वारा प्रथम मनुष्य रूप प्राप्त होने के पश्चात् निरन्तरता के क्रम में माता-पिता प्रदत्त शरीर ग्रहण करता है, इस जन्म के शरीर हेतु सर्वप्रथम वह पिता के शरीर में रेतस् या वीर्य के रूप में स्थित रहता है। यह वीर्यरूपी तेज ही पिता द्वारा माता के गर्भ में प्रविष्ट होता है। यही जीव का **पहला जन्म** है। माता के शरीर में पुष्ट होकर प्रसव के पश्चात् गर्भ से बाहर आकर बालक रूप में उत्पन्न होने पर उसका **दूसरा जन्म** माना जाता है। इस दूसरे जन्म के पश्चात् पिता जात-कर्म आदि संस्कारों व उपचारों से उस बालक की उन्नति व विकास करता है तथा उसका पालन-पोषण करके, योग्य बनाकर वह वस्तुतः अपने दायित्त्व निर्वाह की परम्परा का निर्वाह ही करता है, जिसके अन्तर्गत आदि पुरुष से लेकर निरन्तर एक-से-एक उत्पन्न होकर मनुष्य विस्तार को प्राप्त हुआ है। इस प्रकार पिता का ही आत्मस्वरूप पुत्र शुभकार्यों में उसका प्रतिनिधि हो जाता है। इस प्रकार अपने पितृ ऋण की मुक्ति व शरीर की आयु पूर्ण होने पर वह इस संसार को छोड़कर चला जाता है और कर्मानुसार जिस योनि में जन्म लेता है, वही उसका **तीसरा जन्म है**। अंत में वामदेव ऋषि यथार्थ ज्ञान के माध्यम से इस जन्म-मरण को समझाकर व नाना योनियों में जन्म लेने के कारण पाए कष्टों से मुक्ति पाकर ऊर्ध्वगति द्वारा भगवान के परमधाम में पहुंचकर अमृत हो गया, अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा के लिए छूट गया।

तृतीय अध्याय

उपास्य देव का निश्चय

इस अन्तिम अध्याय में उपास्य देव के स्वरूप को निश्चित किया गया है। अर्थात् जिसकी हम उपासना करते हैं, वह देव कौन है? कैसा है? किसकी शक्ति से मनुष्य देखता, सुनता, सूंघता, बोलता व स्वाद ग्रहण करता है? पहले दो अध्यायों में दो प्रकार की आत्माओं का वर्णन आया है। **एक तो वह आत्मा,** (परमात्मा) जिससे सृष्टि के प्रारंभ में आदिपुरुष की रचना की और स्वयं उसमें प्रविष्ट हुआ। **दूसरे में वह आत्मा** (जीवात्मा), जो जन्म-जन्मांतर की परम्परा के अन्तर्गत पुरुष का वीर्य स्त्री के गर्भ में प्रविष्ट होता है। इन्हीं दोनों में अब यह निश्चित करना है कि कौन उपास्य है? दोनों में से किसकी उपासना करनी चाहिए? इस विषय पर विचार करने

पर यह ज्ञान होता है कि यह मन जिसकी शक्ति द्वारा शरीर व सृष्टि पर शासन करने की, पदार्थों के विज्ञान की अर्थात् उन्हें विभिन्न रूप में जानने की, प्रज्ञान की अर्थात् तत्काल समझ लेने की, अनुभव को धारण करने की, बुद्धि निश्चय करने की, मनीषा अर्थात् मनन करने की, स्मरण, संकल्प, मनोरथ, कामना आदि की जो विभिन्न शक्तियां प्राप्त होती हैं ये भी वस्तुतः उस परमात्मा की सत्ता का ही बोध कराने वाले लक्षण हैं।

इस प्रकार विचार करता हुआ जीव निश्चय करता है कि सबको उत्पन्न करके इन सब शक्तियों से युक्त करने वाले व उनकी रक्षा करने वाले परमात्मा ही मेरे उपास्य देव हैं। वे ही वंदनीय हैं। प्रथम अध्याय के तीसरे खंड में वर्णित इन्द्र हैं, ये ही प्रजापति हैं। इस संसार के पंच महाभूत—पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज विभिन्न प्रकार के अण्डज, स्वेदज, जरज प्राणी व गाय, हाथी, पुरुष ये सभी इसी परमात्मा की शक्ति के कारण अपने कार्य में समर्थ हैं। अतः यह निश्चय हो गया कि यही प्रज्ञान स्वरूप परमात्मा ही हमारा उपास्य देव ब्रह्म होगा।

अंत में ब्रह्मविद्या के उपसंहार के रूप में कहा गया है कि जिसने परमेश्वर के इस स्वरूप को जान लिया, वह इस लोक से ऊपर उठकर अमर हो गया।

ॐ वाङ् मे मनसि

कौषीतकि उपनिषद्

प्रथम अध्याय

पुनर्जन्म व ज्ञान के द्वारा मुक्ति का प्रावधान (चित्र-आरुणि संवाद)

उपनिषद् का प्रारंभ महात्मा चित्र के यज्ञ में उद्दालक आरुणि मुनि के पुत्र श्वेतकेतु का ऋत्विक के रूप में आने से होता है। श्वेतकेतु से महात्मा चित्र ब्रह्मविद्या विषयक गूढ़ प्रश्न पूछते हैं, जिनका वह उत्तर नहीं दे पाता। अतः अपने पिता आरुणि के पास वापस चला जाता है और उनसे वही प्रश्न पूछता है। पिता भी उस प्रश्न का उत्तर देने में स्वयं को असमर्थ पाते हैं और दोनों पिता-पुत्र ब्रह्मविद्या के ज्ञान के लिए महात्मा चित्र के पास पहुंचते हैं और उनसे ज्ञान प्राप्त करते हैं।

सर्वप्रथम चित्र उन्हें आत्मा के इस लोक से दूसरे लोकों में जाने के दो प्रसिद्ध मार्गों देवयान व पितृयान की बात बताते हैं। देवयान के मार्ग से जाने वालों का पुनर्जन्म नहीं होता और ब्रह्म का वास्तविक ज्ञान हो जाने से उन्हें मोक्ष प्राप्त हो

जाता है। परंतु पितृयान से जाने वालों को पुनः पृथ्वी पर जन्म लेना पड़ता है। देवयान व पितृयान की यात्रा का मार्ग कैसा है, इसी का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। सर्वप्रथम इस लोक से प्रयाण के पश्चात् सभी जीव चन्द्रमा पर पहुंचते हैं, जो स्वर्ग लोक का द्वार माना गया है। शुक्ल पक्ष में प्रयाण करने वालों के प्राणों से चन्द्रमा पुष्ट होते हैं। जबकि कृष्ण पक्ष में जाने वाले जीवों का पुनर्जन्म होता है। पृथ्वी पर पुनः जीव वर्षा के जल के माध्यम से आता है और अपनी पूर्व वासना के अनुरूप मनुष्य या पशु योनि में जन्म लेता है। मनुष्य योनि में पुनः जन्म के पश्चात् इस स्वर्ग व नरक के वास्तविक यथार्थ को समझकर जो विरक्त हो जाता है, उसे ही गुरु से ब्रह्मविद्या का उपदेश प्राप्त होता है।

देवयान मार्ग से ब्रह्मलोक तक का पथ

देवयान मार्ग से जाने वाला जीव क्रमशः अग्निलोक, वायुलोक, सूर्यलोक, वरुण लोक, इन्द्रलोक व प्रजापतिलोक आदि छः लोकों से होता हुआ ब्रह्मलोक में प्रवेश पाता है। ब्रह्मलोक के प्रवेश द्वार पर आर नामक एक बहुत बड़ा जलाशय है। उस जलाशय के आगे मुहूर्ताभिमानी येष्टिह देवता, विजरा नहीं (अर्थात् जो जरा या वृद्धावस्था को दूर कर देती है।) इल्य वृक्ष (इला वस्तुतः पृथ्वी का पर्यायवाची है), व सलज्य नगर है। अंत में अपराजित नाम से प्रसिद्ध ब्रह्माजी का निवास स्थान आता है, जहां वह अपनी प्रिया मानसी व उसकी छायामूर्ति चाक्षुषी के साथ विद्यमान रहते हैं। वहां पर अम्बा व आम्बायवी नाम से प्रसिद्ध अप्सराएं हैं, जो ब्रह्माजी का आदेश मिलने पर पांच सौ की संख्या में हलदी, केसर, रोली आदि मांगलिक पदार्थ, फल व अंगराग लेकर आगन्तुक जीव के स्वागतार्थ जाती हैं। अब वह जीव उपरोक्त वर्णित 'आर' नामक जलाशय को मन के संकल्प मात्र से ही लांघ जाता है, परंतु लेशमात्र भी अज्ञान शेष रह जाने पर वह उसमें डूब जाता है। फिर येष्टिह देवता (अर्थात् जो इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा डालते हैं) भी उसका मार्ग छोड़ देते हैं और उसके पश्चात् वह विजरा नामक नदी के निकट पहुंचता है, जहां उसके पाप व पुण्यों का भी निस्तारण हो जाता है। उसके प्रिय कुटुम्बी पुण्य पाते हैं और द्वेष रखने वाले पाप को पाते हैं।

यहां पर एक बहुत ही सुंदर रूपक के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति के दृष्टांत को समझाया गया है। जिस प्रकार रथ से यात्रा करने वाला पुरुष रथ में बैठकर रथ को दौड़ता हुआ देखता है व रथ के चक्रों या चक्कों को भी चलता हुआ देखता है, परंतु उस गति में प्रतिक्षण चक्कों का, जो भूमि से संयोग-वियोग होते हैं, उसे वह नहीं देख सकता। इसी प्रकार ब्रह्म की ओर यात्रा करने वाला जीवन रूपी रथ पर बैठकर रात व दिन को देखता है अर्थात् काल की गति को देखता है, पाप व पुण्य को देखता है, परंतु उनसे चक्कत्व पृथ्वी रूपी संबंध होने के कारण उससे

संबंधित नहीं रहता और पाप व पुण्य, राग व द्वेष, काम व क्रोध आदि से दूर होकर ब्रह्म को प्राप्त होता है।

ब्रह्मलोक की इस यात्रा में आगे जीव इल्य वृक्ष के समीप आता है, तो उसे दिव्य ब्रह्मगंध की अनुभूति होती है। इस गंध की दिव्यता की तुलना मृत्युलोक की तो किसी वस्तु से करना असंभव है, (परंतु परम योगी ब्रह्मत्व को प्राप्त सूर्य विज्ञानी श्री विशुद्धानंद के समीप लोगों ने अनुभूत की है और इसी कारण वह गंध वाले बाबा के नाम से प्रसिद्ध भी थे। कहते हैं कि प्रभात में प्रस्फुटित कषाय कमल की गंध से यह कुछ-कुछ मिलती है)। अब वह जीव सालज्य नगर में आकर अपनी जिह्वा में अमृततुल्य ब्रह्मरस का अनुभव करता है। उसके पश्चात् ''अपराजित'' नामक ब्रह्ममंदिर में उसमें ब्रह्मतेज का प्रवेश हो जाता है। अब ब्रह्मतेज से संपन्न वह जीव इन्द्र व प्रजापति नामक द्वार रक्षकों से प्रवेश आज्ञा पाता हुआ **''विभुप्रकित''** नामक मंडप में प्रवेश करता है, जहां **'ब्रह्मयश'** भी उसमें प्रवेश कर जाता है। तत्पश्चात् वह विचक्षणा नामक वेदी के समीप आता है, जहां उसे विशेष दृष्टि प्राप्त हो जाती है और वह **''अमितौजाः''** नामक सिंहासन पर जिसके अगले दोनों पाये **भूत और भविष्य** हैं, तथा पिछले दोनों पाये **श्री देवी और भू देवी** के रूप में हैं, उन पर बैठे ब्रह्माजी के साक्षात् दर्शन कर पाता है, फिर वह ब्रह्मवेत्ता उस पलंग पर जब पैर रखकर चढ़ने लगता है, तो ब्रह्माजी उससे तीन प्रश्न करते हैं और प्रश्नों के उत्तर के माध्यम से ऋषि ब्रह्म विद्या का उपदेश देते हैं।

ब्रह्म व जीव की एकरूपता व ब्रह्म विद्या का उपदेश

ब्रह्माजी पहला प्रश्न पूछते हैं कि—

''तुम कौन हो?''

ब्रह्मवेत्ता उत्तर देता है, ''मैं बसंत आदि ऋतु रूप हूं, स्वयं प्रकाश परब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ उनका अंश हूं। आकाश में उसी ब्रह्म के तेज से उत्पन्न वीर्य हूं, जो स्त्री रूपी योनि से जन्म लेता है। आप आत्मा हैं। जो आप दें, वही मैं हूं।''

इतना कहने पर ब्रह्माजी अब पूछते हैं कि अच्छा, ''मैं कौन हूं''?

ब्रह्मवेत्ता उत्तर देता है कि ''आप सत्य हैं।''

तब ब्रह्माजी तीसरा प्रश्न पूछते हैं कि सत्य क्या है? ब्रह्मवेत्ता उत्तर देता है कि सम्पूर्ण देवताओं तथा प्राणों से सर्वथा भिन्न व विलक्षण है, वह **''सत''** है, जो देवताओं में एवं प्राणों में स्थित है, वह **''त्य''** है। इन दोनों को मिलाकर या संधि को वाणी **''सत्य''** शब्द के रूप में अभिव्यक्त करती है। वह सत्य आप ही हैं। इसी ब्रह्मज्ञान को ऋग्वेद की एक ऋचा में भी स्पष्ट किया गया है। कि यजुर्वेद जिनका उदर है, सामवेद जिनका मस्तक है तथा ऋग्वेद रूपी जिनका सम्पूर्ण शरीर है, उस अविनाशी महान् ऋषि स्वरूप को 'ब्रह्मा' के नाम से जाना जाता है।

ब्रह्मा जी पुनः प्रश्न करते हैं कि–

"यदि पुरुष वाचक संज्ञा से मुझे अभिव्यक्त करना हो, तो किस नाम से पुकारोगे?"

उपासक उत्तर देता है–"प्राण से।"

"यदि उसे स्त्री वाचक संज्ञा से अभिव्यक्त करना हो?"

"वाणी से।"

"यदि नपुंसकवाचक संज्ञा से अभिव्यक्त करना हो?"

"मन से।"

"गन्ध का अनुभव किससे करते हैं?"

"घ्राणेन्द्रिय से।"

"रूपों को किससे ग्रहण करते हैं?"

"नेत्रों से।"

"शब्दों को किससे सुनते हैं?"

"कानों से।"

"अन्न के रसों का आस्वादन किससे ग्रहण करते हैं?"

"जिह्वा से।"

"कर्म किससे करते है?"

"हाथों से।"

"सुख-दुःख का अनुभव किससे करते हैं?"

"शरीर से।"

"रति का परिणामस्वरूप आनंद्य, मैथुन का आनन्द व प्रजोत्पत्ति का सुख किससे उठाते हो?"

"उपस्थ इन्द्रिय से?"

"गमन की क्रिया किससे करते हो?"

"दोनों पैरों से।"

"बुद्धि वृत्तियों को, ज्ञातव्य विषयों और मनोरथों को किससे ग्रहण करते हो?"

"प्रज्ञा से।"

इस प्रकार उपरोक्त प्रश्नों का समुचित उत्तर पाने पर ब्रह्माजी कहते हैं कि जल आदि जो पंचमहाभूत हैं, वह वस्तुतः मेरे ही स्थान हैं। अतः यह मेरा ब्रह्मलोक भी जलादि तत्व प्रधान है, जिसमें अब तुम निवास कर सकते हो, क्योंकि तुम मेरे अभिन्न उपासक हो ही।

द्वितीय अध्याय

कौषीतकि उपनिषद् का यह अध्याय ब्रह्मविद्या व व्यावहारिक उपयोग की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें 'प्राण' की महिमा के साथ धन प्राप्ति, वशीकरण व पिता के जीवित रहते कभी भी पुत्र की मृत्यु न होने के संबंध में विभिन्न मंत्रों की उपासना विधि का वर्णन है।

प्राण की उपासना व अभीष्ट धन प्राप्ति की विधि

अध्याय के प्रारंभ में कौषीतकि ऋषि 'प्राण ब्रह्म है' ऐसा कहते हैं और राजा के रूपक के माध्यम से उसका वर्णन करते हैं। प्राणमय ब्रह्म राजा है। मन उसका दूत है। वाणी रानी है। चक्षु मंत्री हैं और श्रोत्रेन्द्रिय (कान) संदेश ग्रहण करने वाले द्वारपाल हैं। सम्पूर्ण शरीर की अन्य इन्द्रियां रूपी देवता इस प्राण रूपी राजा को भेंट देते हैं अर्थात् उसके अधीन हैं।

'प्राण ब्रह्म है' इसी तथ्य को पुनः पैङ्ग्य ऋषि भी कहते हैं। उनके अनुसार इस प्राणमय ब्रह्म के लिए वाणी से परे चक्षु इन्द्रिय है। इसका अर्थ यह है कि वाणी जो कहती है, उसे आंखें देख सकती हैं और जैसा वाणी कह रही है, यदि वैसा ही नेत्र देख भी लें तो वह वस्तु या तथ्य सत्य हो जाता है।

चक्षु से परे श्रवणेन्द्रिय है। दूसरे शब्दों में, आंखों से अधिक आंतरिक रूप से प्रभावी इन्द्रिय कान हैं, क्योंकि आंखों द्वारा देखा गया भी कभी-कभी गलत हो सकता है, भ्रांति हो सकती है। अंधकार में आंखें देख भी नहीं सकतीं, परंतु कान जो भी ध्वनि सुनते हैं, वहां तक नेत्र नहीं जा सकते।

कान रूपी श्रवणेन्द्रिय से अधिक शक्तिशाली मन है, क्योंकि यदि मन सावधान न हो या मन की इच्छा न हो, तो न तो आंखें देख सकती हैं और न ही कान सुन सकते हैं। अतः वाणी, चक्षु, कान व मन क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक प्रभावी होते जाते हैं। परंतु इन सभी इन्द्रियों व संवेदनाओं को मन के माध्यम से बांधकर रखने वाली शक्ति प्राण है। यदि प्राण ही शरीर में न रहे, तो मन भी नहीं रह सकता। न ही कान सुन सकते हैं, न ही आंखें देख सकती हैं और न ही वाणी बोल सकती है। अतः प्राण ही सर्वोपरि है। प्राण ही ब्रह्म है।

अब प्राणोपासक को धन प्राप्ति की इच्छा होने पर उसका विधान बताते हैं। यदि धन की इच्छा हो तो पूर्णिमा या अमावस्या अथवा शुक्लपक्ष या कृष्णपक्ष की किसी भी शुभ तिथि को पवित्र नक्षत्र में अग्नि की स्थापना करें व कुशों का आसन बिछाएं। अभिमंत्रित जल से वेदी को पवित्र करें तथा दाहिना घुटना जमीन पर टेककर स्त्रुवा से निम्नांकित 6 मंत्रों द्वारा घृत की आहुति दें

1. वाङ्नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

(साधक अपना नाम उच्चारित करे व इदम् के स्थान पर अभीष्ट अर्थ का उच्चारण करे)।

2. प्राणो नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

3. चक्षुर्नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

4. श्रोत्रं नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

5. मनो नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

6. प्रज्ञा नाम देवतावरोधिनी सा मेऽमुष्मात् इदम् अवरुन्धां तस्यै स्वाहा।

इस प्रकार आहुतियां देने के पश्चात् धुएं को सूंघकर बचे हुए घृत को लेपकर, मौन भाव से जिस व्यक्ति से धन प्राप्त करने की इच्छा हो उसके समीप जाएं, तो अभीष्ट धन प्राप्त हो जाता है।

अब किसी व्यक्ति को वश में करने की विधि का वर्णन किया गया है।

पूर्णिमा, अमावस्या या शुक्लपक्ष अथवा कृष्णपक्ष की किसी शुभ तिथि को उपरोक्त धन प्रदायक मंत्र की भांति अग्नि स्थापित करके निम्नलिखित मंत्रों से घृत की आहुति दें। इस मंत्र के उच्चारण से पूर्व उस व्यक्ति के नाम का उच्चारण करना चाहिए।

वाचं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
प्राणं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
श्रोतं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
मनस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।
प्रज्ञां ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा।

असौ के बाद ईप्सित कार्य का उल्लेख कराना चाहिए। आहुतियों के पश्चात् होम के धुएं की गंध सूंघकर व शेष बचे घृत को शरीर पर लगाकर मौन रहकर उस व्यक्ति के समीप जाने से वह उस व्यक्ति से मनोवांछित कार्य कर सकता है।

प्राण रूपी अग्नि में हवन या अग्निहोत्र

इस अग्निहोत्र का वर्णन दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन ने किया है। अतः यह प्रतर्दन या सांयमन भी कहलाता है। प्रतर्दन ऋषि के अनुसार मनुष्य जब भी कुछ बोलता है, उस समय वह श्वास नहीं ले सकता। अतः उस समय वह प्राण का वाणी रूपी अग्नि में हवन कर देता है। यह वाक् और प्राणरूप दो आहुतियां अनन्त व अमृत कहलाती हैं, क्योंकि जब तक मनुष्य का जीवन रहता है, तब तक वाक् व प्राण के इस संबंध का अंत नहीं होता। अतः यह अनन्त है।

सूर्य की उपासना विधि का वर्णन

इस उपासना का वर्णन कौषीतकि ऋषि ने किया है। सर्वप्रथम यज्ञोपवीत को बाएं कंधे पर रखकर आचमन करके जलपात्र को तीन बार स्वच्छ जल से पूर्णतः भरकर उदित भगवान सूर्य को खड़े होकर निम्नलिखित मंत्र से अर्घ्य दें—

1. वर्गोऽसि पाप्मानं में वृङ्धि।

मध्याह्न काल में निम्नलिखित मंत्र से सूर्य भगवान की पूजा करें—

2. उद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे उद्वृङ्धि।

इसी प्रकार सायंकाल में अस्त होते सूर्य भगवान का निम्नलिखित मंत्र से पूजन करें—

3. संवर्गोऽसि पाप्मानं में संवृङ्धि।

चंद्र उपासना द्वारा पुत्र की दीर्घायु हेतु उपासना की विधि

इस उपासना में अमावस्या तिथि में सूर्य भगवान का उपरोक्त विधि से पूजन करने के पश्चात् अर्घ्यपात्र में दो हरी दूब के अंकुर रखकर निम्नलिखित मंत्र का उच्चारण करें—

"यत्ते सुसीमं हृदयमधि चन्द्रमसि श्रितं तेनामृतत्वस्वे शानं माहं पौमत्रमधं रुदम्"। अर्थात् हे लोकमंडल की अधिष्ठात्री देवि! जिसकी सीमा बहुत ही सुंदर है, ऐसा जो तुम्हारा हृदय-हृदयस्थित आनन्दमय स्वरूप चन्द्रमंडल में विराजित है। उसके द्वारा तुम अमृतत्व पर भी अधिकार रखती हो। ऐसी कृपा करो कि मुझे पुत्र शोक से रोना न पड़े।

यदि पुत्र प्राप्त हो चुका है, तो इस मंत्र के जाप करने से उसकी मृत्यु कभी भी अपने पिता से पूर्व नहीं होती। यदि किसी के पुत्र नहीं हुआ हो, तो वह उपरोक्त वर्णित कार्य करके, अर्घ्यपात्र में दो हरी दूब के अंकुर रख कर निम्नलिखित ऋचा का जाप करे—

'आप्यायस्व समेतु ते विश्वतः सोम वृष्ण्यं भवा वाजस्य संगथे।' 1।

'सं ते पयांसि समु यन्तु वाजा संवृष्ण्यान्यभिमातिषाहः।
आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्व।।' 2।।

'यमादित्या अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षितयः पिबन्ति।
तेन नो राजा वरुणो बृहस्पतिराप्याययन्तु भुवनस्य गोपाः।।' 3।।

इन तीन ऋचाओं का जाप करने के पश्चात् चन्द्रमा के सम्मुख दाहिना हाथ उठाकर निम्नलिखित मंत्र का जाप करें :

मास्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययिष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विप्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययस्व इति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्ते इति। 4।

अब दाहिने हाथ को बारम्बार घुमाएं और फिर सामान्य स्थिति में ले आएं।

दूसरी उपासना विधि

अब दूसरी उपासना विधि का वर्णन करते हैं। पूर्णिमा को सायंकाल में जब चन्द्रोदय हो जाए, तो अर्घ्यपात्र में दो हरी दूब के अंकुर रखकर निम्नलिखित ऋचा का पाठ करें–

सोमो राजासि विचक्षणः पञ्चमुखोऽसि प्रजापतिर्ब्राह्मणस्त एकं मुखं तेन मुखेन राज्ञोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। श्येनस्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोऽत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। अग्निष्ट एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। त्वयि पञ्चमं मुखं तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्यत्सि तेन मुखेन मामन्नादं कुरु। मास्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिरवश्रेष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षीयस्वेति, दैवीमावृतमावर्त, आदित्यस्यावृतमन्वावर्ते। 5।

मंत्र पाठ करते समय दाहिनी भुजा को बारम्बार घुमाएं और मंत्र के अंत में बांह को सामान्य स्थिति में ले आएं। अब पत्नी के हृदय को स्पर्श करके निम्नलिखित मंत्र का पाठ करें–

यत्ते सुसीमे हृदये हितमंतः प्रजापतौ।
मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं तेन माहं पौत्रमघं रुदम्।।

इस प्रकार प्रार्थना करने से प्रार्थनाकर्ता से पहले उसकी संतान की मृत्यु नहीं होती। अब एक और उपासना का वर्णन मिलता है। बाहर से, परदेश से आया पिता पुत्र के मस्तक का चुम्बन करे और इस मंत्र का उच्चारण करे–

अङ्गादङ्गात्सम्भवसि हृदयादधिजायसे।
आत्मा त्वं पुत्रमाऽऽविथ स जीव शरदः शतम् असौ।।

यहां असौ के स्थान पर अपने पुत्र के नाम का उच्चारण करना चाहिए और निम्नांकित मंत्र पढ़ना चाहिए–

'अश्मा भव परशुर्भव हिरण्यमस्तृतं भव। तेजो वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् असौ।'

यहां भी 'असौ' के स्थान पर पुत्र का नामोच्चारण करें। तत्पश्चात् पुत्र के दाहिने कान में इस मंत्र को पढ़ें–

अस्मै प्रयन्धि मधवनृजीषिन्, इन्द्र श्रेष्ठानि दविणानि धेहि।

फिर इसी मंत्र को बाएं कान में भी पढ़ें। तदनन्तर पुत्र का मस्तक सूंघें और इस मंत्र को पढ़ें–

माच्छिथा मा व्यथिष्ठाः शतं शरद आयुषो जीव पुत्र ते नाम्ना मूर्धानमवजिघ्रामि, असौ।

यहां असौ के स्थान पर पिता स्वयं अपना नाम ले। अंत में निम्नलिखित मंत्र का तीन बार उच्चारण करे–

गवां त्वा हिङ्कारेणाभि हिङ्करोमि।

ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों में अभिव्यक्ति

यहां मृत्यु के पश्चात् ब्रह्म की शक्ति या तेज का अन्य शक्तियों में समाहित होने का क्रमानुसार विवरण प्राप्त होता है। सर्वप्रथम कहा गया है कि जो अग्नि प्रज्ज्वलित होती है (चाहे वह यज्ञ की अग्नि हो या अन्य कोई) तो उस अग्नि के तेज में ब्रह्म ही प्रत्यक्ष होता है। जब यह अग्नि बुझ जाती है, तो यही तेज सूर्य में स्थानान्तरित हो जाता है और प्राण शक्ति वायु में विलीन हो जाती है। इसी प्रकार जब सूर्य दृष्टिगोचर नहीं होता, तो यह ब्रह्म तेज चंद्रमा के प्रकाश के रूप में प्रकट हो जाता है। जब चन्द्रमा भी अस्त होता है (अमावस्या आदि को), तो यह ब्रह्म तेज विद्युत (आकाश में चमकने वाली बिजली) में स्थानान्तरित हो जाता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह है कि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा व विद्युत सभी में ब्रह्मतेज व्याप्त है। अब इसी ब्रह्मतेज का मनुष्य शरीर के संदर्भ से वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

मनुष्य जब बोलता है, तो वाणी के माध्यम से ब्रह्मतेज प्रकट होता है, जब वह बोलता नहीं है या वाणी मौन होती है तो यह तेज नेत्रों में आ जाता है। जब नेत्र बंद हो जाते हैं, तो यह तेज कानों में आ जाता है (इसी कारण सोए हुए मनुष्य को आवाज के द्वारा उसके कानों के माध्यम से ही जगाया जाता है)। जब कान भी नहीं सुनते तो यह तेज मन को प्राप्त हो जाता है और मन मनन करता है। (इसी कारण जब हम कुछ गूढ़ विचार करते हैं या सोचते हैं, तो हमें पूर्ण शांति चाहिए होती है, हम न तो बोलना चाहते हैं, न ही देखना चाहते हैं। अकसर आंखें बंद कर लेते हैं और कोई ध्वनि या शोर सुनना नहीं चाहते हैं)।

यदि मन भी चिंतन नहीं करता, तो यह प्राण में मिल जाता है। अर्थात् प्राण, प्राण में ही मिल जाते हैं, क्योंकि तेज स्वयं प्राण रूप ही है और सभी शक्तियां वाणी, सुनना, देखना, प्राण में विलीन होकर, प्राण से पुनः प्रकट हो जाते हैं।

मोक्ष हेतु प्राण की महत्ता को जानने की आवश्यकता

प्राण की महत्ता को बड़े ही सुंदर रूपक के माध्यम से कहा गया है। एक बार वाक् देवता अर्थात् वाणी चक्षु इंद्रियां, कान, मन व प्राण में इस बात को लेकर विवाद हो गया कि उनमें सर्वश्रेष्ठ कौन है? सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कौन है? अपनी-अपनी महत्ता सिद्ध करने के उद्देश्य से सभी इन्द्रियों के देवता एक-एक करके शरीर को छोड़कर चले गए। सबसे पहले वाक्-इन्द्रिय ने शरीर में प्रवेश किया, तो शरीर बोल तो सकता था, परंतु न सुन सकता था, न देख सकता था, न उठ सकता था।

सोच सकता था। अतः वाकेन्द्रिय या वाक-इन्द्रिय ने पराजय मान ली और पुनः शरीर से बाहर आ गया। अब श्रवण-इन्द्रिय ने देह में प्रवेश किया। उसके प्रवेश से अब शरीर सुन तो सकता था, परंतु न तो बोल सकता था, न ही देख सकता था और न ही कोई अन्य क्रिया कर सकता था। अतः कानों ने अपनी सर्वश्रेष्ठता त्याग दी। इस प्रकार चक्षु इन्द्रियां (आंख), मन आदि सभी ने आकर देख लिया कि वे अकेले कुछ नहीं कर सकतीं। अब सब इन्द्रियों के पराजय स्वीकार कर लेने के पश्चात् 'प्राण' ने शरीर में प्रवेश किया, प्राण के प्रविष्ट होते ही सभी इन्द्रियां स्वयं ही क्रियाशील हो गईं। अतः सभी ने प्राण की महत्ता को स्वीकार कर लिया व मोक्ष हेतु प्राण के ही शरीर से उत्क्रमण को प्रमुख मानकर इस सत्य को स्वीकार कर लिया।

पिता द्वारा पुत्र को उत्तराधिकार संबंधी सम्प्रदान कर्म का विवरण

पुत्र को पिता की आत्मा का अंश (आत्मज=जो आत्मा से जन्मा है, वही पुत्र है) माना गया है। उसी की प्राण शक्ति का भाग माना गया है। इस कारण यहां पिता द्वारा पुत्र को दी गई सभी शक्तियों का विवेचन किया गया है। जब पिता का इस संसार से जाने का समय आ आए, तो वह अपने पुत्र को अपने निकट बुलाए व अग्नि को स्थापित करे व उस अग्नि के उत्तर या पूर्व में जल से भरा कलश स्थापित करे। इस कलश पर धान्य से भरा पात्र रखे और नवीन वस्त्र पहनकर पुत्र को अपनी भुजाओं में भर ले अर्थात् पुत्र के नेत्रों से नेत्र, नाक से नाक इस प्रकार अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों से उसको स्पर्श करके आह्वान करे

पिताः पुत्र, मैं तुझमें अपनी वाक्-इन्द्रिय स्थापित करता हूं ।

पुत्रः पिताश्री, मैं आपकी वाक्-इन्द्रिय को अपने में धारण करता हूं।

पिताः पुत्र, मैं अपने प्राण तुममें स्थापित करता हूं।

पुत्रः पिताश्री, मैं आपके प्राणों को स्वयं में धारण करता हूं ।

इस प्रकार चक्षु इन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय, अन्नरस, कर्म, सुख-दुख, संतानोत्पत्ति की शक्ति, गति, बुद्धि, विशेष कामनाओं को पिता, पुत्र में मंत्रों द्वारा स्थापित करता है। इसके पश्चात् पुत्र पिता की प्रदक्षिणा करते हुए जब पूर्व दिशा में पिता के समीप से निकलता है, तो पिता उसे पीछे से संबोधित करते हुए कहता है **यश, तेज व कीर्ति तुम्हें प्राप्त हो** और पुत्र पिता को किसी ओट से कहता है कि **आपको स्वर्ग व उसके भोग प्राप्त हों।**

इसके पश्चात् यदि पिता निरोग हो, तो पुत्र के घर में निवास करे या संन्यास ग्रहण कर ले। यदि पिता की मृत्यु हो जाए, तो पिता द्वारा प्रदत्त सभी शक्तियां पुत्र को प्राप्त हो जाती हैं। यही शास्त्रानुसार सच्चा उत्तराधिकार है।

तृतीय अध्याय

इस अध्याय में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन व देवराज इन्द्र के मध्य वरदान के विषय को लेकर हुए विस्तृत वार्त्तालाप में प्रज्ञा, प्राण व भूतमात्राओं का विशद विवरण प्रस्तुत है।

प्रज्ञा, प्राण व प्राण के एकाकी भाव व उक्थरूप का वर्णन

एक बार राजा दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन देवासुर संग्राम में इन्द्र की सहायता के लिए स्वर्ग पहुंचे। संग्राम के पश्चात् इन्द्र ने उनसे वर मांगने को कहा, तो प्रतर्दन ने कहा कि वे कोई ऐसा वर दें, जो समस्त मनुष्य जाति के लिए परम कल्याणकारक हो। इससे प्रभावित होकर इन्द्र ने प्रतर्दन को कहा कि मेरे अर्थात् इंद्र के स्वरूप को यथार्थ में जानना ही संपूर्ण मनुष्य जाति के लिए परम कल्याण कारक होगा, क्योंकि मेरे इस स्वरूप को जान लेने के पश्चात् पुरुष को बड़े-से-बड़ा पाप भी स्पर्श नहीं कर सकता।

अब देवराज इन्द्र ने कहा—"मैं प्रज्ञा स्वरूप प्राण हूं और इस रूप में तुम आयु व अमृत रूप से मेरी उपासना करो।" अब इन्हीं पंक्तियों की व्याख्या करते हुए इन्द्र कहते हैं कि आयु प्राण है और प्राण ही आयु है, क्योंकि जब तक प्राण शरीर में व्याप्त है, तभी तक जीवन है और तभी तक आयु है। इसी प्रकार प्राण ही अमृत है, क्योंकि आयु समाप्त होने पर या मृत्यु होने पर यही प्राण शरीर को छोड़कर परलोक में मोक्ष या अमृतत्व को ग्रहण करता है।

प्रज्ञा क्या है ?

प्रज्ञा शब्द वस्तुतः बुद्धि व मेधा के अर्थ में ग्रहण किया गया है। इसी प्रज्ञा से मनुष्य सत्य का निश्चय व संकल्प-विकल्प करता है।

अब प्राण के एकाकी भाव का वर्णन करते हुए इन्द्र कहते हैं कि व्यावहारिक जीवन में कोई भी मनुष्य एक समय, एक ही साथ वाणी से बोलने, नेत्र से देखने, कान से सुनने व मन से चिंतन करने में समर्थ नहीं हो सकता। अतः एक समय में पूर्ण समग्रता से एक ही इन्द्रिय काम कर सकती है। अब प्रतर्दन ने कहा कि इसका अर्थ हुआ कि वाणी जब बोलती है, तो शेष चार प्राण उसका अनुसरण करते हैं, ऐसे ही कान, नेत्र, मन के संदर्भ में भी होता है और जब मुख्य प्राण कोई कार्य करता है, तो अन्य प्राण उसका सहयोग करते हैं।

अब पुनः इन्द्र इसे एक अन्य रूपक से स्पष्ट करते हैं कि जैसे मनुष्य गूंगा होने पर भी अर्थात् वाक् इन्द्रिय से वंचित होने पर भी जीवित रहता है अर्थात् जीवन या प्राण वाक्-इन्द्रिय के बिना संभव है, इसी प्रकार नेत्र-इन्द्रिय से हीन अंधे मनुष्य भी जीवित रह सकते हैं, इसी प्रकार श्रवणेन्द्रिय से हीन लोग भी जीवित रह सकते

हैं, इसी प्रकार मनःशक्ति या सोचने व मनन की शक्ति से हीन बच्चों को भी हम जीवित देखते हैं। इतना ही नहीं, हाथ या पैर कट जाने पर भी मनुष्य जीवित रह सकता है, परंतु प्राण के बिना तो शरीर एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। अतः प्राण ही जीवन है। यह प्राण ही मनुष्य को उठने की शक्ति देता है। इसलिए इस प्राण की ''उक्थ'' (उठाने वाला) के रूप में भी उपासना करनी चाहिए।

प्रज्ञा व प्राण की एकरूपता व अन्य इन्द्रियों का प्राण में व प्रज्ञा में विलीन होना

अब प्राण व प्रज्ञा की एकरूपता के विषय में कहा गया है कि जो प्राण है, वही प्रज्ञा है। क्योंकि ये दोनों प्राण और प्रज्ञा एक साथ ही शरीर में रहते हैं और एक साथ ही शरीर से उत्क्रमण करते हैं। जब मनुष्य सो जाता है, तो सबसे पहले वाक् प्राणों में विलीन हो जाता है और वाणी शांत हो जाती है। इसलिए सोते समय मनुष्य बोल नहीं सकता। इसके पश्चात् नेत्र प्राणों में लीन हो जाते हैं। फिर कान व अंत में मन भी प्राणों में लीन हो जाता है, अर्थात् सभी इन्द्रियां स्वयं को प्राणों में लीन कर देती हैं और जागने पर प्राण से ही सभी इन्द्रियों में पुनः प्राण प्रकट हो जाते हैं। इसी निद्रा के क्रम में आगे पुनः चिर निद्रा का, या मृत्यु के समय इन्द्रियों के प्राणों में विलीन होने को दर्शाया गया है। जब पुरुष रोग आदि से पीड़ित हो जाता है और अचेत हो जाता है, तो कहते हैं कि इसका मन उत्क्रमण कर गया। इसी प्रकार न तो वह देख सकता है, न सुन सकता है, न बोल सकता है, परंतु जीवित होता है अर्थात् मृत्यु से पूर्व सभी इन्द्रियां पुनः प्राण में विलीन हो जाती हैं और मृत्यु के समय प्राण के साथ ये सभी भी शरीर का त्याग कर देती हैं। पुनः जागने पर (यहां जागने का तात्पर्य दूसरे जन्म से है) ये पुनः प्रकट हो जाती हैं।

अब प्रज्ञा के प्राण की एकरूपता का पंच भूतों की एकरूपता के माध्यम से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। वाणी के माध्यम से प्राण प्रज्ञा के विषय रूप से कल्पित भूत शब्द की पुष्टि करता है। इसी प्रकार प्राण, नासिका के माध्यम से प्रज्ञा के गन्ध नाम भूत को ग्रहण करता है। नेत्र, प्रज्ञा के रूप नामक भूत को ग्रहण करता है। कान, प्रज्ञा के शब्द नामक भूत को ग्रहण करता है, तो जिह्वा प्रज्ञा के अन्न रस के भूत को ग्रहण करती है। हाथ कर्म नामक भूत को, शरीर सुख-दुःख को व उपस्थेन्द्रिय आनन्द, रति व प्रजोत्पत्ति नामक भूतों की पूर्ति करता है। पैर गमन क्रिया को व बुद्धि अनुभव करने योग्य वस्तु कामनाओं की भूत पूर्ति करता है। (वस्तुतः भूत शब्द का अर्थ यहां इन्द्रिय विशेष द्वारा ग्रहण की जाने वाली वस्तु के भौतिक गुण से है (जैसे कान से ग्रहण की ध्वनि को बुद्धि तभी ग्रहण कर सकती है, जब वह उन शब्दों को समझती है। उदाहरणार्थ, प्राण के कारण कान कोई भी भाषा सुन सकता है (जैसे अरबी, रूसी, चीनी या हिंदी, परंतु बुद्धि केवल उसी भाषा को ग्रहण करेगी, जिसे वह जानती है, अन्यथा वह सुन तो लेगी पर समझेगी नहीं)। प्रज्ञा से रहित होने

पर वाकेन्द्रिय किसी भी नाम के द्वारा वस्तु को अभिव्यक्त नहीं कर सकती। नाक गंध का बोध नहीं कर सकती, नेत्र रूप का बोध नहीं कर सकते और जिह्वा रस की अनुभूति नहीं कर सकती। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के बारे में वर्णन किया गया है।

अंत में ब्रह्मविद्या का सार प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वाणी या नाम की ओर ध्यान न लगाकर इनकी प्रेरक आत्मा के स्वरूप को जानना चाहिए। देखना या रूप में ध्यान केन्द्रित न करके रूप को जानने वाली आत्मा के सत्य को जानें। हाथ से कर्म को जानने से अच्छा है कि कर्ता अर्थात् आत्मा को जानें। इस प्रकार नाम, रूप, रस, गंध, विषय आदि जो दस भूतमात्राएं प्रज्ञा में स्थित हैं और प्रज्ञा की जो दस मात्राएं वाक् आदि भूतों में स्थित हैं वह एक ही है या दूसरे शब्दों में भूतमात्रा व प्रज्ञामात्रा एक ही है या प्रज्ञामात्रा ही प्राण में प्रतिष्ठित है। इसके लिए एक रूपक का भी उदाहरण दिया गया है कि जैसे रथ की नेमि त्रिज्यारूपी अरों पर व त्रिज्यारूपी अरे नेमि पर निर्भर हैं, ऐसे ही भूत प्रज्ञा में व प्रज्ञा प्राण में प्रतिष्ठित है। यह प्राण ही प्रज्ञा, आयु व अमरत्व है। यह प्राण ही उस परब्रह्म का अंश है, जो शरीर से कर्म कराता है और आत्मा रूप में स्थित है।

चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय में गार्ग्य नामक ब्राह्मण व काशी नरेश अजातशत्रु के बीच हुए वार्त्तालाप के द्वारा ब्रह्म को विभिन्न ब्रह्मांडीय शक्तियों में अभिव्यक्त किया गया है।

ब्रह्म की परिभाषा तथा विभिन्न ब्रह्मांड की शक्तियों में उसकी अभिव्यक्ति

एक बार उशीनर देश के निवासी गर्ग गोत्र में उत्पन्न गार्ग्य नामक ब्राह्मण, जो बलाका के पुत्र थे तथा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वेदज्ञ थे, अपने स्वभावानुसार विचरण करते हुए मत्स्य देश कुरु-पांचाल, मिथिला प्रान्त से काशी पहुंचे व काशी नरेश अजातशत्रु की सभा में पहुंचे। वहां पहुंचकर वह बोले कि राजन् मैं तुम्हें ब्रह्मतत्व का उपदेश दूंगा, इस पर राजा ने उन्हें एक हजार गौएं देने का वचन दिया।

प्रसन्न होकर **गार्ग्य ऋषि ने कहा** कि राजन् सूर्य के तेजोमय मंडल में जो अन्तर्यामी पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्मरूप में उपासना करता हूं।

राजा अजातशत्रु ने कहा : नहीं ऋषिवर! ऐसा नहीं है, यह सूर्य तो सर्वोच्च स्थिति में होने के कारण सबका मस्तक रूप है, समस्त ब्रह्मांड का मस्तक रूप है और इसकी इसी रूप में आराधना करनी चाहिए।

अब गार्ग्य ऋषि ने पुनः कहा : राजन्! जो चद्रमंडल में अन्तर्यामी पुरुष है, उसकी मैं ब्रह्म रूप में उपासना करता हूं।

राजा अजातशत्रु ने कहा : नहीं ऋषिवर! ऐसा नहीं है, यह तो सोम राजा है और समस्त जगत् के अन्न की आत्मा है और इसी रूप में इसकी उपासना करनी चाहिए।

गार्ग्य ऋषि ने कहा : यह जो विद्युत या बिजली आकाश में चमकती है, मैं तो उसकी ब्रह्मरूप में उपासना करता हूं।

राजा अजातशत्रु ने कहा : नहीं ऋषिवर! ऐसा नहीं है, यह तो तेज का सार या तेज की आत्मा है और इसकी इसी रूप में उपासना करनी चाहिए।

इस प्रकार पुनः गार्ग्य ऋषि मेघों के गर्जन में ब्रह्म की उपस्थिति का वर्णन करते हैं, परंतु राजा अजातशत्रु मेघ गर्जन में शब्द की आत्मा की स्थिति मानते हैं। ऐसे ही गार्ग्य ऋषि के आकाश, वायुमंडल, अग्निमंडल व जलमंडल में ब्रह्म की उपस्थिति को राजा अजातशत्रु क्रमशः पूर्ण, निर्विकार ब्रह्म, इन्द्र का वैकुण्ठ, विषासहि मानते हैं। (विष का तात्पर्य यहां हवि से है। अग्नि में चाहे किसी भी पदार्थ की हवि डाली जाए, उसे वह भस्म करके सहन कर लेता है, अतः विषासहि कहलाता है व नामधारी जीव के भाव की उपासना का संकेत देता है)।

पुरुष के संदर्भ में ब्रह्म का तुलनात्मक विवेचन

इसी वार्त्तालाप के क्रम में ऋषि गार्ग्य राजा से कहते हैं कि राजन्! दर्पण में जो पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्म रूप में उपासना करता हूं।

राजा : नहीं ऋषिवर! यह तो रूप का प्रतिबिम्ब मात्र होने के कारण प्रतिरूप है और मैं मनुष्य की ब्रह्म के प्रतिरूप के रूप में और संतान की मनुष्य के प्रतिरूप में उपासना करता हूं।

गार्ग्य ऋषि : अच्छा राजन्! जो प्रतिध्वनि में पुरुष हैं, उसकी मैं ब्रह्म रूप में उपासना करता हूं।

अजातशत्रु : नहीं ऋषिवर! यह तो द्वितीय (प्रतिध्वनि, ध्वनि की ही पुनरावृत्ति है) व अनपग (गति न होने के कारण) है, अतः इसकी इसी भाव से उपासना करके अपने द्वितीय भाग अर्थात् पत्नी को या पुत्र आदि को प्राप्त कर द्वितीयवान होता है।

गार्ग्य : अच्छा राजन्! पुरुष के पीछे जो ध्वन्यात्मक प्रतिश्रुत शब्द है, मैं उसकी ब्रह्म रूप में उपासना करता हूं।

अजातशत्रु : नहीं ऋषिवर! यह तो प्राण है (यहां ध्वन्यात्मक प्रतिश्रुत शब्द का अर्थ सांस लेते समय होने वाली ध्वनि से है) और मैं इसी भाव से ही उपासना करता हूं।

गार्ग्य : अच्छा राजन्! जब मनुष्य सो रहा होता है, उस समय स्वप्न में जो छाया पुरुष आता है, उसकी मैं ब्रह्म के रूप से उपासना करता हूं।

अजातशत्रु : नहीं ऋषिवर! उसकी तो मैं मृत्युरूप यम के रूप में उपासना करता हूं।

गार्ग्य : अच्छा राजन्! यह जो शरीर के अंदर पुरुष है, मैं उसकी ब्रह्म रूप में आराधना करता हूं।

अजातशत्रु : नहीं ऋषिवर! उसकी तो मैं प्रजापति (अर्थात् संतान के उत्पादन और पालन-पोषण में व्यस्त होने के कारण) के रूप में आराधना करता हूं।

गार्ग्य : अच्छा राजन्! यह जो दाएं नेत्र में पुरुष है, मैं उसे ब्रह्म मानता हूं।

अजातशत्रु : नहीं ऋषिवर! इसे तो मैं नाम का आत्मा रूप, अग्नि का आत्मारूप, व ज्योति का आत्मारूप मानता हूं।

गार्ग्य : अच्छा राजन्! यह जो बाईं आंख में पुरुष है, मैं उसे ब्रह्म मानता हूं।

अजातशत्रु : नहीं ऋषिवर! यह तो सत्य की आत्मा, विद्युत की आत्मा व तेज की आत्मा है और इसकी इसी रूप में आराधना होनी चाहिए।

अब बलाकानंदन गार्ग्य चुप हो गए और राजा अजातशत्रु को अपना गुरु मानकर उनका शिष्यत्व ग्रहण करने की इच्छा की।

हृदय क्षेत्र में ब्रह्म का वास

इस प्रकार अजातशत्रु के शिष्य के रूप में गार्ग्य ऋषि उनके साथ चलने लगे। चलते-चलते गुरु राजा अजातशत्रु ने एक सोते हुए पुरुष को पुकारा—हे ब्रह्म, हे सोम! परंतु वह पुरुष सोता ही रहा। तब राजा अजातशत्रु ने उस पुरुष के शरीर पर एक डंडे से चोट की। वह सोया हुआ पुरुष तुरंत उठ गया। राजा ने पूछा—शिष्यवर, यह पुरुष अचेत होकर कहां सोता था? जागृत होने पर यह कहां से आया है? गार्ग्य ऋषि इसका कोई उत्तर नहीं दे सके। तब राजा अजातशत्रु ने कहा—"शिष्य गार्ग्य, यह पुरुष जहां सो रहा था और जागृत होने पर जहां से आया है, वह स्थान हृदय कमल है, जहां 'हिता' नाम की प्रसिद्ध नाड़ी है। इस हृदय का विस्तार संपूर्ण नाड़ियों में है, जो केश के हजारवें भाग से भी सूक्ष्म है। शुक्ल, काला, पीत और रक्त इन सभी रंगों के सूक्ष्मतम अंशों से वह युक्त है। इन्हीं नाड़ियों में पुरुष सोते समय स्थित रहता है। इस सोए पुरुष में प्राण में ही सभी इन्द्रियों का भी एकीभाव हो जाता है।

पुनः एक रूपक के माध्यम से आत्मा का भी वर्णन किया गया है कि जैसे चाकू या तलवार को किसी आवरण या म्यान में रखते हैं, उसी प्रकार इसी हृदय—कमल रूपी आवरण में अंगुष्ठमात्र रूप में परमात्मा स्थित रहता है। या दूसरे शब्दों में जैसे अग्नि लकड़ी में व्याप्त रहती है, वैसे ही यह आत्मा में नख से शिख तक शरीर से व्याप्त रहती है।

अंत में इसी आत्मा को जानने पर बल दिया गया है और कहा गया है कि जब इस आत्मा को मनुष्य जान लेता है, तो वह श्रेष्ठता, अमरत्व व प्रभुत्व प्राप्त कर लेता है।

ॐ वाङ् मे मनसि।

मुद्गलोपनिषद्

यह उपनिषद् ऋग्वेद के केवल एक विशिष्ट सूक्त पर आधारित है। ऋग्वेद के दशम् मंडल का 90वां सूक्त प्रसिद्ध पुरुषसूक्त है, जिसमें भगवान विष्णु के विराट स्वरूप या सहस्ररूप से संसार के विभिन्न लोकों, जीवों व मनुष्यों की उत्पत्ति का विवरण है। इसी प्रसिद्ध पुरुषसूक्त की विशद आध्यात्मिक विवेचना इस उपनिषद् में वर्णित है।

पुरुषसूक्त का संक्षिप्त विषय निरूपण

पुरुषसूक्त में 18 मंत्र संकलित हैं, जिन्हें भगवान वासुदेव ने इन्द्र से कहा और उसका विवेचन किया। प्रथम मंत्र में कहा गया है कि परम पुरुष के सहस्रों मस्तक, सहस्रों नेत्र व सहस्रों चरण हैं। वह इस सम्पूर्ण विश्व से दस अंगुल ऊपर स्थित है, अर्थात् वह सम्पूर्ण ब्रह्मांड में व्याप्त होते हुए भी उससे निर्लिप्त है।

दूसरे मंत्र में कहा गया है कि वर्तमान, भूत व भविष्य यह सब उस परम पुरुष में ही व्याप्त है। इसके अतिरिक्त अमृत तत्त्व का सेवन करने वाले अर्थात् देवताओं व अन्न के द्वारा जीवित रहने वाले अर्थात् मनुष्य आदि जीव सभी के वह शासक हैं।

तीसरा मंत्र भगवान विष्णु के मोक्षप्रदत्व की चर्चा करता है।

चौथे मंत्र में परम पुरुष ब्रह्म के विश्व में केवल एक पाद प्रकट होने की चर्चा की गई है। उपनिषदों के अनुसार यह चारों प्रारंभिक मंत्र भगवान के चर्तुव्यूहात्मक स्वरूप वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न व अनिरुद्ध को भी अभिव्यक्त करते हैं।

पांचवे मंत्र में आदि पुरुष से ब्रह्मांड के उत्पन्न होने, छठे मंत्र में ऋतुओं के, सातवें मंत्र से पन्द्रहवें मंत्र तक क्रमशः पशु, वेद, गाएं, बकरियां, भेड़, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, समुद्र आदि के सृजन का वर्णन है, जिसे सृष्टिरूपी यज्ञ भी कहते हैं।

मुद्गलोपनिषद् में वर्णित इस पुरुष सूक्त का दैनिक अनुष्ठान में बहुत महत्त्व है, क्योंकि यह ब्रह्म, जीव व ब्रह्मांड में एक सहसंबंध स्थापित करता है। ऐसी परम्परा है कि इस सूक्त का पाठ प्रतिदिन विष्णुसहस्रनाम, भगवद्गीता व श्रीसूक्त के साथ किया जाना चाहिए।

ॐ वाङ् मे मनसि

सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद्

तीन खंडों में वर्णित यह उपनिषद् सांसारिक भोगों के लिए लक्ष्मी प्राप्ति के वैदिक अनुष्ठान के प्रावधान का वर्णन करता है। इन खंडों में पन्द्रह ऋचाओं वाले प्रसिद्ध श्रीसूक्त का वर्णन है, जिसके इन्दिरा, आनंद, कदर्म व चिक्लीत ऋषि हैं। प्रथम तीन ऋचाओं का अनुष्टुप छंद, चौथी ऋचा का वृहती छंद, छठी व सातवीं ऋचाओं का त्रिष्टुप छंद है, जबकि शेष आठ ऋचाओं का पुनः अनुष्टुप छंद है। श्री व अग्नि इन ऋचाओं के देवता हैं, हिरण्यवर्णाम बीज है और 'कां सोस्मि' यह शक्ति है।

द्वितीय खंड में प्राणायाम की विधि का विस्तार से वर्णन है तथा षट्चक्रभेदन व समाधि पर भी प्रकाश डाला गया है। तीसरे खंड में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, विशुद्ध आदि नव चक्रों का विवेचन है।

ऐसा कहा गया है कि इन पन्द्रह ऋचाओं का पन्द्रह दिन तक अग्नि में घृत की आहुति देकर पाठ करने से अन्न तथा लक्ष्मी की प्राप्ति होती है।

ॐ वाङ् मे मनसि

राधोपनिषद्

ऋग्वेद से संबंधित इस उपनिषद् में भगवान कृष्ण की आह्लादिनी शक्ति श्री राधा के सनकादिक महर्षियों को ब्रह्माजी द्वारा बताए गए 28 नाम हैं, जिनको पाठ करने से जीव भवसागर से मुक्त हो जाते हैं–

1. राधा, 2. रासेश्वरी, 3. रम्या, 4. कृष्णमन्त्राधिदेवता, 5. सर्वाद्या, 6. सर्ववन्द्या, 7. वृन्दावनविहारिणी, 8. रमा, 9. वृन्दाराध्या, 10. अशेषगोपीमण्डलपूजिता, 11. सत्या, 12. सत्यपरा, 13. सत्यभामा, 14. श्रीकृष्णवल्लभा, 15. वृषभानुसुता, 16. गोपी, 17. मूल प्रकृति, 18. ईश्वरी, 19. गान्धर्वा, 20 राधिका, 21. आरभ्या, 22. रुक्मिणी, 23. परात्परतरा, 24. परमेश्वरी, 25 पूर्णा, 26. पूर्णचन्द्रनिभानना, 27. मुक्तिमुक्तिप्रदा, 28. भवव्याधिविननाशिनी।

ॐ वाङ् मे मनसि

नादबिन्दु उपनिषद्

ऋग्वेद से संबंधित यह उपनिषद् तीन अध्यायों में ॐकार के स्वरूप की विशिष्ट व्याख्या प्रस्तुत करता है। प्रथम अध्याय पुनः तीन खंडों में विभक्त है, जिसका प्रथम खंड ॐकार की हंस रूप में उपासना का स्वरूप प्रस्तुत करता है। सुपर्ण की कल्पना के अनुरूप प्रणव इसी हंस का दाहिना पंख **''अ'' कार** व बायां पंख **''उ'' कार** स्वरूप माना गया है। **''म'' कार** ही उसकी पूंछ है तथा **अर्द्धमात्रा** ही शीर्ष है। रजोगुण व तमोगुण उसके पैरों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उसका शरीर सत्वगुण स्वरूपात्मक माना गया है। ऐसे ॐकार रूपी हंस पर जो साधक आरूढ़ हो जाता है, अर्थात् इस ॐकार का चिंतन करता है, वह बन्धनमुक्त हो जाता है।

प्रथम अध्याय के द्वितीय खंड में ॐकार की बारह मात्राओं के स्वरूप का वर्णन है। ये बारह मात्राएं क्रमशः **घोषिणी**[1], **विद्युन्माला**[2], **पतंङ्गी**[3], **वायुवेगिनी**[4], **नामधेया**[5], **ऐन्द्री**[6], **वैष्णवी**[7], **शाङ्करी**[8], **महती**[9], **ध्रुवा**[10], **मौनी**[11], **और ब्राह्मी**[12] हैं। इसके पश्चात् इन मात्राओं की सिद्धि और उन मात्राओं से प्राणत्याग से विभिन्न लोकों की प्राप्ति का फल बताया गया है। प्रथम मात्रा **घोषिणी** में साधक का प्राणान्त होने से वह भारतवर्ष में ही चक्रवर्ती राजा के रूप में जन्म लेता है। द्वितीय मात्रा में प्राणों का उत्क्रमण होने पर यक्ष, तृतीय में विद्याधर व चतुर्थ में गन्धर्व के रूप में जन्म लेता है।

पंचमी मात्रा **नामधेया** में प्राणान्त होने से तुषित नामक देवताओं के साथ निवास करता हुआ चन्द्रलोक में प्रतिष्ठित रहता है। बौद्ध कथाओं में यह चर्चा मिलती है कि भगवान बुद्ध तुषिता नामक स्वर्ग से उतर कर अपनी माता को उपदेश देने संकिशा नामक स्थान पर अवतरित हुए थे। छठी मात्रा में प्राणान्त से इन्द्र का सामुज्य और सप्तमी से भगवान विष्णु का वैकुण्ठलोक प्राप्त होता है। अष्टमी में रुद्रलोक में जाकर भगवान शंकर का सान्निध्य साधक को प्राप्त होता है। नवमी व दशमी मात्रा में महर्लोक व ध्रुवलोक की प्राप्ति होती है। एकादशी मात्रा में तपोलोक और बारहवीं मात्रा में उत्क्रमण से ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठित हो जाता है।

प्रथम अध्याय के तृतीय खंड में ध्यान द्वारा ब्रह्मभाव को प्राप्त करने का निर्देश है। द्वितीय अध्याय में सबसे सुंदर नाद की विभिन्न ध्वनियों का वर्णन है, जो योगी द्वारा साधना पथ पर अग्रसर होने पर सुनाई पड़ती है। आरंभ में नाद का शब्द बहुत जोर-जोर से और नाना प्रकार से सुनाई देता है। इसके पश्चात् योग-साधना में अभ्यास बढ़ जाने पर नाद की ध्वनि समुद्र के गर्जन की भांति सुनाई देती है, फिर वह बादलों के गर्जन में परिवर्तित हो जाती है। शनैः-शनैः वह भेरी व कलकल

बहते झरने की भांति हो जाती है तथा उसमें मृदंग की थाप सुनाई देती है। कभी-कभी इसमें घंटे व नगाड़े के समान भी ध्वनि होती है। उसके पश्चात् इसका स्वरूप सूक्ष्मतर होने लग जाता है। और अंत में यह वंशी, वीणा व भ्रमर के समान सुनाई पड़ने लग जाता है। यही नाद का अनुसंधान है और इसी नाद में योगी को अपना चित्त विलीन कर देना चाहिए।

तृतीय अध्याय में नाद द्वारा मन को वशीभूत करने का वर्णन है, जिसके द्वारा नाद में मन का लय हो जाता है, मन की सत्ता समाप्त हो जाती है और योगी तुरीय अवस्था में पहुंच जाता है।

ॐ वाङ् मे मनसि

बह्वृचोपनिषद्

इस उपनिषद् में देवी कामकला की सृष्टि की सृजनकर्त्ता के रूप में आराधना की गयी है तथा उन्हीं से ब्रह्मा, विष्णु व रुद्र की उत्पत्ति मानी गयी है। इसमें हादि कादि व शाम्भवी विद्याओं का वर्णन है जो वस्तुतः शक्ति की अभिव्यक्ति की ही विभिन्न अवधारणायें हैं। इस उपनिषद् में दस महाविद्याओं से एक ललिता महात्रिपुरसुंदरी की आराधना के भी बीज हैं, जो भावना कालान्तर में आदि शंकराचार्य द्वारा सौन्दर्यलहरी में पूर्णतः प्रस्फुटित होती है।

ॐ वाङ् मे मनसि

निर्वाणोपनिषद्

इस उपनिषद् में परमहंस परिव्राजकों द्वारा प्राप्त किए जाने वाले निर्वाण ज्ञान की व्याख्या प्रस्तुत है। ऐसे परिव्राजकों का वस्त्र आवरण धीरज को, संसार के प्रति उदासीनता के भाव को कौपीन, ज्ञानरूपी विचारों को दंड, पादुका को संपत्ति व कुंडलिनी को बंधन माना गया है। महाश्मशान उनके निवास के लिए आनंदवन के समान है और एकांत उनका मठ है तथा ब्रह्म के विषय में समस्त संदेहों को नष्ट करना ही उनके जीवन का उद्देश्य या निर्वाण दर्शन है।

ॐ वाङ् मे मनसि

आत्मप्रबोधोपनिषद्

दो अध्यायों के इस संक्षिप्त उपनिषद् में प्रथम अध्याय में प्रणव या ॐ की आराधना करने का उपदेश दिया गया है तथा भगवान विष्णु के शंख, चक्र, गदा, पद्मधारी स्वरूप का मनोहर व मनोरम वर्णन करते हुए "ॐ **नमो नारायणाय**" नामक तारक मंत्र की उपासना को बैकुंठ लोक की प्राप्ति का साधन बताया गया है। द्वितीय अध्याय में माया या अहम् व अहंकार रूप "**मैं**" को समूल नष्ट करते हुए द्वैत के भेद को मिटाकर चैतन्य सत्य दर्शन की अनुभूति का विभिन्न उदाहरणों से वर्णन किया गया है।

ॐ वाङ् मे मनसि

अक्षमालिका उपनिषद्

इस उपनिषद् में प्रजापति व गुह के मध्य हुए संवाद के माध्यम से दस प्रकार की मूंगा, कमल, रुद्राक्ष सहित विभिन्न मालाओं का विस्तार से वर्णन है। जिस प्रकार दानों की माला में विभिन्न दाने होते हैं उसी प्रकार अक्षरों की माला जो अ से प्रारंभ होकर क्ष पर समाप्त होती है, उसे अक्षमाला कहते हैं। इसी मात्रा के अनुरूप इस उपनिषद् का नामकरण अक्षमालिका उपनिषद् किया गया है तथा माला को अक्षमाला माता की संज्ञा दी गयी है।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

सामवेद व उसके उपनिषद्

छांदोग्य उपनिषद्
केन उपनिषद्
वज्रसूचिकोपनिषद्
वासुदेवोपनिषद्
जाबाल्युपनिषद्
महोपनिषद्
सावित्र्युपनिषद्
आरुणिकोपनिषद्
जाबालदर्शनोपनिषद्
गरुड़ोपनिषद्

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

छांदोग्य उपनिषद्

सामवेद से संबंधित यह उपनिषद् बहुत ही विस्तृत व विशद है। वस्तुतः यह छांदोग्य ब्राह्मण का ही विस्तार है, क्योंकि छांदोग्य ब्राह्मण के कुल 10 अध्याय हैं, जिनमें से अंतिम आठ अध्याय छांदोग्य उपनिषद् के रूप में संकलित हैं। इन आठ अध्यायों में कुल मिलाकर 630 ऋचाएं हैं, जिनमें ॐ शब्द की व्याख्या, सामोपासना, मधुविज्ञान, व पुनर्जन्म के सिद्धांत को दृष्टांतों के माध्यम से बहुत ही सुरुचिपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त किया गया है।

प्रथम अध्याय

इस अध्याय में कुल 13 भाग हैं, जिनमें विभिन्न दार्शनिक विषयों का वर्णन है। इस अध्याय में ॐ शब्द की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

ॐ की उद्गीथ के रूप में उपासना

उपनिषद् का प्रारंभ इस वाक्य से होता है कि मनुष्य को ध्यान व एकाग्रता के लिए ॐ की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि यज्ञ में उद्गाता ॐ अक्षर का ही सर्वप्रथम गान करता है। तत्पश्चात् कहा गया है कि पृथ्वी सम्पूर्ण तत्वों का आधार है। इस पृथ्वी का रस या आधार जल है। जल या रस का आधार ही विभिन्न पेड़-पौधे व वनस्पति जगत् है। इस वनस्पति जगत् से ही मनुष्य के शरीर का पोषण होता है। मनुष्य के शरीर का प्रभाव वाणी के माध्यम से प्रकट होता है और इस वाणी का सार रूप रस ऋचा है। ऋचा का रस साम के रूप में प्रकट होता है और अंत में साम का रस ॐ है। इस ओंकार को ही उद्गीथ की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार पृथ्वी से प्रारम्भ होकर उद्गीथ तक क्रमशः आठ रसों का वर्णन किया गया है और

ॐ को आठवां व सर्वोत्कृष्ट रस माना गया है। यह ॐ ही परम ब्रह्म है। अब अंतिम तीन रसों ऋचा, साम व उद्गीथ के बारे में पुनः बताया गया है कि वाणी ऋक् है व प्राण साम है तथा ॐ उद्गीथ है। पुनः कहा गया है कि वाणी (ऋक्) व प्राण (साम) यह दोनों भिन्न-भिन्न् न होकर एक युग्म या जोड़े के समान हैं तथा एक दूसरे के पूरक हैं। जैसे सांसारिक स्तर पर स्त्री व पुरुष के संयोग से जीव का सृजन होता है, वैसे ही वाणी व प्राण की आहुति के ॐ के सृजन में विलीन होने से वह दोनों पूर्ण काम या तृप्त हो जाते हैं। जो इस रहस्य को जानकर ॐ पर ध्यान लगाता है, उसकी सभी कामनाएं पूर्ण हो जाती हैं। इसी कारण ऋषिगण जब भी किसी वस्तु को अनुमति देते थे, तो केवल ॐ शब्द का ही उच्चारण करते थे, अतः ॐ की इस व्याख्या को समझकर ही यजुर व साम की उपासना करनी चाहिए।

द्वितीय खंड

इस खंड में देवता व असुरों के माध्यम से प्राण के महत्त्व को प्रदर्शित किया गया है।

एक बार प्रजापति की दोनों संतानें, देवता व असुर परस्पर लड़ रहे थे। देवताओं ने उद्गीथ या ॐ की उपासना के द्वारा असुरों को पराजित करना चाहा। सर्वप्रथम देवताओं ने नाक के माध्यम से घ्राणेन्द्रिय के रूप में प्राण को ही उद्गीथ मानकर उपासना प्रारंभ की, परंतु असुरों ने उसे अपने पाप से दूषित कर दिया। इसी कारण नाक उसके पश्चात् सुगन्ध (देवता) व दुर्गन्ध (असुर) दोनों को ग्रहण करने लगी। तब देवताओं ने जिह्वा के माध्यम से वाणी की उपासना की। उसे भी असुरों ने दूषित कर दिया। अतः उसके पश्चात् वाणी सत्य के साथ-साथ असत्य भी बोलने लगी। इसी प्रकार देवताओं द्वारा नेत्रों की उपासना करने पर असुरों ने उन्हें भी दूषित कर दिया और वे शुभ व अशुभ दोनों दृश्य देखने लगे। अब देवताओं ने कान के माध्यम से उपासना की, परंतु कान भी असुरों ने दूषित कर दिए और वह मधुर व कटु दोनों प्रकार की बातें सुनने लगे। फिर देवताओं ने मन की उपासना की, उसे भी असुरों ने दूषित कर दिया और मन भी अच्छे व बुरे, दोनों प्रकार के संकल्प करने लगा। अब अंत में देवताओं ने प्राण की उपासना प्रारंभ की और यहां आकर प्राण को पहले की भांति दूषित नहीं कर पाए और उसे दूषित करने के प्रयास में स्वयं ही नष्ट हो गए। अतः प्राण ही सर्वश्रेष्ठ है और प्राण सभी प्रकार की सुंगध, दुर्गंध, राग, द्वेष आदि से दूर है। अंत काल में मृत्यु होने पर प्राण ही ब्रह्म स्वरूप जीवात्मा को लेकर जाता है और यह सब इंद्रियां स्वयं ही मृत हो जाती हैं। यही प्राण की महिमा है। इसी प्राण की उद्गीथ रूप में उपासना अंगिरा, बृहस्पति आयास्य दल्म के पुत्र बक आदि प्रसिद्ध ऋषियों ने करके मनोवांछित की प्राप्ति की।

तृतीय खंड

ओंकार का वाणी से व विभिन्न शब्दों से संबंध

इस खंड में सूर्य की भी उद्‌गीथ के रूप में उपासना का वर्णन है। सूर्य के उदित होने से ही पृथ्वी पर अन्न की उत्पत्ति संभव है (यह बात विज्ञान द्वारा भी सिद्ध हो चुकी है कि प्रकाश संश्लेषण की क्रिया सूर्य के प्रकाश में ही संभव है)। अतः सूर्य भी उद्‌गीथ है। पहले खंड में वर्णित प्राण व सूर्य को एक ही माना गया है, क्योंकि प्राण को उष्णता सूर्य से ही प्राप्त होती है।

इसके पश्चात् श्वास की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सांस लेते समय जो वायु बाहर की ओर निकाली जाती है व उष्ण होती है, वही **प्राण** है तथा जो बाहर की वायु खींचकर अंदर की ओर ले जाई जाती है, वह अपान है। इन दोनों अर्थात् **प्राण** व **अपान** की संधि को **व्यान** कहते हैं। यह व्यान ही वाणी है। सांस को अंदर लाते समय (अपान) व बाहर निकालते समय (प्राण) मनुष्य बोल नहीं सकता और वाणी या बोलते समय श्वास-प्रश्वास की क्रिया रुक जाती है। जो वाणी है, वही ऋक् व साम है तथा जो साम है, वही ॐकार है। अतः व्यान ही ॐकार है और व्यान के रूप में उद्‌गीथ की उपासना करनी चाहिए। अब विभिन्न शब्दों के माध्यम से उद्‌गीथ की उपासना का वर्णन है। उद्‌गीथ में वस्तुतः तीन अक्षर हैं उत्, गीः एवं थ। इनमें **उत्** ही प्राण है, क्योंकि मनुष्य प्राण से ही उत्थान करता है। **गीः** वाणी को अभिव्यक्त करता है, क्योंकि संस्कृत में गीः वाणी का वाचक है एवं **थ** अन्न का प्रतिनिधित्व करता है।

एक दूसरे भावार्थ में **'उत्'** स्वर्गलोक का, **'गीः'** अन्तरिक्षलोक का और **'थ'** भूलोक का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार एक अन्य अर्थ में **उत्** आदित्य है, **गीः** वायु है व **''थ''** अग्नि है। एक अन्य व्याख्या में **उत्** सामवेद है, **गीः** यजुर्वेद है तथा **''थ''** ऋग्वेद है।

इस खंड के अंत में सप्त अंगों द्वारा मनोकामना सिद्धि के विशिष्ट साधना का वर्णन है। सर्वप्रथम सोम द्वारा इस देव की आराधना करें, दूसरे अंग में साम में प्रयुक्त विशिष्ट ऋचा में ही गायन करें। तीसरे अंग में जिस ऋषि ने उस मंत्र का संकलन किया हो, उस ऋषि का स्मरण करें। चतुर्थ अंग में अभीष्ट देवता का स्मरण करें। पांचवे अंग में विशिष्ट छंद व छठे अंग में स्तुति-समूह का स्मरण करें। अंत में सातवें अंग के रूप में उस विशेष दिशा की ओर मुख करके ही मंत्रोच्चारण करें, जो उस देवता विशेष से संबंधित हो। इस विधि से पूजा करने, कराने से साधक या यजमान की मनोकामना निश्चित रूप से पूर्ण होती है।

चतुर्थ खंड

ॐ की उपासना से अमृत की प्राप्ति

इस खंड में वर्णित है कि ॐ के उच्चारण से ही देवता ने अमृत पाया और मृत्यु को जीतकर अमरत्व प्राप्त कर सके।

पंचम् खंड

प्राण व सूर्य की ॐकार रूप में उपासना

इस खंड में कौषीतकि ऋषि अपने पुत्र को प्राण व शरीर की ॐकार रूप में उपासना का उपदेश देते हैं। ऋषि कहते हैं कि जो उद्‍गीथ है अर्थात् जो गाने योग्य है, वही प्रणव या ॐकार है। दूसरे शब्दों में हम ऐसे भी कह सकते हैं कि जो प्रणव है, वही उद्‍गीथ है। क्योंकि आकाश में विचरण करने वाला सूर्य ही उद्‍गीथ है, अतः सूर्य की ॐकार भाव से आराधना करनी चाहिए। ऋषि पुनः कहते हैं कि हे पुत्र! मैंने इसी प्रणव या ॐकार भाव से सूर्य की आराधना करके तुझे पुत्र रूप में पाया है और तू भी इसी प्रकार सूर्य की किरणों में ॐकार का चिंतन करके बहुत से पुत्रों को प्राप्त कर।

अब पुनः कौषीतकि ऋषि शरीर में प्राण के माध्यम से ॐकार की उपासना का वर्णन करते हुए कहते हैं कि श्वास के रूप में चलने वाला प्राण ही उद्‍गीथ है, प्रणवरूप है तथा ॐकार है। प्राण क्योंकि सूर्य का ही एक दूसरा रूप है, अतः जैसे हम सूर्य की ॐकार भाव से उपासना करते हैं, वैसे ही हमें प्राण की भी प्रणव या ॐकार भाव से उपासना करनी चाहिए, क्योंकि प्राणों के निरंतर आवागमन से ॐकार की ही ध्वनि प्रकट होती है, जिसे योगी तुरीयावस्था में नादब्रह्म के रूप में सुनते हैं। पुनः ऋषिवर अपने पुत्र से कहते हैं कि जैसे मैंने प्राणों में ॐकार की उपासना करके तुझे पाया है, उसी प्रकार तू भी बहुत से पुत्रों को प्राप्त कर। निष्कर्ष यह है कि सूर्य प्रणव व प्राण एक ही है और उसकी आराधना से पुत्र की प्राप्ति होती है।

षष्ठ खंड

विविध रूपों में ऋक् व साम का अन्तर्संबंध

इस खंड में ऋक् व साम के सहसंबंध के रूपक द्वारा उद्‍गीथ की व्याख्या की गई है। सामवेद की अधिकांश ऋचाएं ऋग्वेद से ही ली गई हैं, अतः दूसरे शब्दों में

यह भी कहा जा सकता है कि सामवेद का जन्म ऋग्वेद से ही हुआ और जो सामवेद में है, वह ऋग्वेद में है। यही भावना इस खंड में बहुत ही सुंदर ढंग से प्राकृतिक रहस्यों को आध्यात्मिक स्तर पर प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त की गई है।

यह पृथ्वी ऋक् है और अग्नि साम है। अर्थात् यह अग्नि रूप साम इस पृथ्वी रूप ऋक् में स्थापित है। इसी ऋक् में प्रतिष्ठित साम का गायन किया जाता है। साम के दोनों अक्षरों 'सा' व 'अम' का वर्णन करते हुए कहा गया है कि पृथ्वी **सा** है और अग्नि **अम** है और दोनों मिलकर साम है। दूसरे रूप में अंतरिक्ष ऋक् है और वायु साम है। अतः इस ऋक् में प्रतिष्ठत साम का ही वायु गायन करती है (सा=अन्तरिक्ष, अम्=वायु। द्युलोक व स्वर्गलोक ऋक् है व सूर्य साम है। अर्थात् सामरूपी सूर्य द्युलोक व स्वर्गलोग रूपी ऋक् में प्रतिष्ठित है। (द्युलोक=सा, सूर्य=अम (साम)। समस्त नक्षत्र मंडल ऋक् है और चद्रमा साम है और यही चंद्रमा रूपी साम नक्षत्ररूपी ऋक् में प्रतिष्ठित है। (सा=नक्षत्रमंडल, अम=चंद्रमा–नक्षत्र मंडल+ चंद्रमा=साम)।

अब अन्य संदर्भ में साम व ऋक् के अंतर्संबंध को प्रकट करते हुए कहते हैं कि जो दृश्यमान श्वेत आभा लिए सूर्य है, वही ऋक् है, जो उससे अन्तर्निहित नीलापन या श्यामरूपता है, वह साम है। यह नीलापन सूर्य के उस श्वेत आभारूप ऋक् में प्रतिष्ठित है। अतः ऋक् के साथ साम का गान किया जाता है (सा=श्वेत प्रभा या उज्ज्वल प्रकाश, अम=नीली या श्याम प्रभा–दोनों मिलकर साम हैं)। आगे वर्णन करते हुए ऋषिवर कहते हैं कि इस सूर्य में व्याप्त स्वर्णसदृश प्रकाशरूप पुरुष जिसकी दाढ़ी व केश भी सुवर्ण की भांति देदीप्यमान हैं, वही परमपुरुष परमेश्वर ब्रह्म है। उसके दोनों नेत्र काप्यास की भांति लाल कमल जैसे हैं (काप्यास वस्तुतः कपि या बंदर शब्द से बना है, लाल रंग के संदर्भ में उसकी तुलना करते हुए कहा गया है कि कपि के पृष्ठ भाग की भांति लाल)। उसका नाम उत् है अर्थात् सर्वोच्च, जिसके समतुल्य किसी का नाम नहीं है। जो भी उपासक अपने ज्ञान व दिव्य दृष्टि से ऐसे ब्रह्म का सूर्य में ध्यान करता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। संपूर्ण ऋक् व सामवेद इसी परमब्रह्म का गुणगान करते हैं। अतः वह उद्गीथ है और जो इन्हें गाता है, वह उद्गाता है। उद्गाता वस्तुतः उसी परमब्रह्म का गायन करता है और उसे प्राप्त करता है।

सप्तम् खंड

शरीर के माध्यम से ऋक् व साम के तुलनात्मक विवेचन द्वारा उद्गीथोपासना

इस खंड में कहा गया है कि वाक्-इंद्रिय ही ऋक् है, प्राण साम हैं। इसीलिए प्राण रूपी साम वाणीरूपी ऋक् में ही प्रतिष्ठित है (यहां पुनः यह ध्यान देने योग्य है

कि जब हम वाणी द्वारा बोलते हैं, तो श्वास नहीं ले सकते और जब श्वास लेते हैं, तो बोल नहीं सकते।) वाणी 'सा' है और प्राण 'अम' है और दोनों मिलकर साम् का सृजन करते हैं। आंखें ऋक् हैं और उनके भीतर की काली पुतली ही मानो साम है। यह काली पुतलीरूपी साम ही ऋक्‌रूपी नेत्र में प्रतिष्ठित है, नेत्र 'सा' है और पुतली 'अम' है और दोनों मिलकर साम का सृजन करते हैं। इसी भावना को कान और मन के संदर्भ में भी प्रकट किया गया है। अंत में नेत्रों के माध्यम से परब्रह्म के रहस्य का विवेचन किया गया है। नेत्रों की श्वेत आभा को ऋक् की संज्ञा दी गई है और काले भाग की आभा को साम की संज्ञा दी गई है। इन नेत्रों के भीतर जो पुरुष स्थित होकर देखता है या दिखाई देता है, वही ऋक्, साम व युजुर्वेद है। वही उक्थ और वही ब्रह्म है। इसी ब्रह्म को सूर्य रूप में भी देखा जाता है (पुरुषसूक्त देखें)। यही ब्रह्म पृथ्वी के नीचे के सभी लोकों का शासन करता है व मनुष्य को सभी भोग प्रदान करता है। इसी ब्रह्म की स्तुति का वीणा पर गान होता है और साम के रहस्य को प्रकट किया जाता है। इस रहस्य को जानने वाला उद्‌गाता अपने साम गायन द्वारा यजमान को मनोवांछित की प्राप्ति करा देता है।

अष्टम् व नवम् खंड

ऋषि शिलक, दालम्य व प्रवाहण के संवाद द्वारा उद्‌गीथ की व्याख्या

एक बार तीन ऋषि–शालावन के पुत्र शिलक, चिकितायन के पुत्र दालम्य और जीवल के पुत्र प्रवाहण परस्पर उद्‌गीथ पर चर्चा करने लगे। तदनंतर प्रवाहण ऋषि ने शेष दोनों को परस्पर बातचीत करने को कहा व स्वयं उनके शास्त्रार्थ को सुनने लगे। शास्त्रार्थ इस प्रकार है–

शिलक : साम का आश्रय कौन है?
दालम्य : स्वर ही साम का आश्रय है।
शिलक : स्वर का आश्रय कौन है ?
दालम्य : स्वर का आश्रय प्राण है।
शिलक : प्राण का आश्रय कौन है?
दालम्य : प्राण का आश्रय अन्न है।
शिलक : अन्न का आश्रय कौन है?
दालम्य : अन्न का आश्रय जल है।
शिलक : जल का आश्रय कौन है?
दालम्य : जल का आश्रय स्वर्गलोक है।
शिलक : स्वर्ग का आश्रय कौन है?

दालभ्य : स्वर्ग लोग में साम पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। क्योंकि साम द्वारा स्वर्गलोक की ही स्तुति की जाती है। शिलक तुम्हारा ज्ञान साम के बारे में पूर्ण नहीं है। साम का अंतिम आश्रय स्वर्ग नहीं है, अतः सुनो—स्वर्ग लोक का आश्रय मनुष्यलोक है और यहां साम पूर्णता को प्राप्त होता है।

इस पर प्रवाहण ऋषि ने कहा—आपका भी ज्ञान साम के बारे में सम्पूर्ण नहीं है, क्योंकि मनुष्यलोक का भी आगे आश्रय है, अतः सुनो—

मनुष्य लोक का आश्रय आकाश या सर्वत्र प्रकाशित परमात्मा है, क्योंकि समस्त जीव आकाश से उत्पन्न होते हैं और आकाश में ही विलीन हो जाते हैं। यह आकाश रूप परमात्मा ही उद्गीथ या गायन योग्य है और जो भी इस उद्गीथ रूप परमेश्वर की उपासना करता है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इस रहस्य का उपदेश इससे पूर्व शुनक के पुत्र अतिधन्वा नामक ऋषि ने उदारशाण्डिल्य नामक ऋषि को भी दिया था।

दशम् व एकादश खंड

उषस्ति ऋषि द्वारा यज्ञ से संवंधित देवताओं की व्याख्या

कुरुदेश में चक्र मुनि के पुत्र उषस्ति ऋषि अपनी पत्नी आरिकी के साथ हाथीवानों के ग्राम में रहते थे। एक दिन वह एक राजा की यज्ञशाला में पहुंचे और वहां जाकर स्तुति करने वाले उद्गाता आदि ऋत्विकों के साथ बैठ गए। तत्पश्चात् उन्होंने तीन प्रमुख ऋत्विकों प्रस्तोता, उद्गाता व प्रतिहर्ता से यज्ञ में उनके द्वारा पूजित किए जाने वाले देवता के बारे में विस्तार से जानना चाहा। वह तीनों ऋत्विक कोई समुचित व संतोषजनक व्याख्या न प्रस्तुत करने की स्थिति में थे। अतः उषस्ति ऋषि से अपने-अपने कर्म से संबंधित देवताओं के बारे में पूछने लगे। सर्वप्रथम प्रस्तोता (वह ऋत्विक् जो सर्वप्रथम देवता के स्तुति गान में उसका वर्णन प्रारंभ करता है या प्रस्ताव करता है, को बताते हुए उषस्ति ऋषि ने कहा कि प्रस्तोता से संबंधित देवता प्राण हैं। प्रलय के समय समस्त प्राणी प्राण में ही प्राणरूप होकर विलीन हो जाते हैं और पुनः सृष्टि के सृजन होने पर प्राण से ही प्रकट होते हैं। इस प्राण देवता का ही प्रस्तोता आह्वान करता है।

तत्पश्चात् उद्गाता (वह ऋत्विक जो सामवेद की ऋचाओं का उच्च स्वर में गायन करता है), को बताते हुए उषस्ति ऋषि कहते हैं कि तुम्हारे कर्म से संबंधित देवता सूर्य है, क्योंकि जिस प्रकार तुम जाकर देवता का यशोगान करते हो, उसी प्रकार समस्त प्राणी आकाश में स्थित सूर्य का यशोगान करते हैं। यह सूर्य देवता ही उद्गीथ से संबंध रखने वाला देवता है।

अंत में प्रतिहर्ता (वह ऋत्विक् जो प्रतिहार अर्थात् रक्षा कर्म करता है) को बताते हुए उषस्ति ऋषि कहते हैं कि प्रतिहर्ता से संबंधित देवता अन्न है, क्योंकि समस्त प्राणी व प्राण अन्न को खाकर ही जीवित रहते हैं। अतः प्रतिहार का देवता अन्न है।

द्वादश खंड

कुत्ते के रूप में ऋषियों द्वारा उद्गीथ का वर्णन

एक बार दल्भ ऋषि के पुत्र बक अथवा मित्रा के पुत्र ग्लाव ऋषि के नाम से प्रसिद्ध ऋषि स्वाध्याय के लिए ग्राम से दूर किसी निर्जन स्थान पर ध्यानरत थे। वहां एक दिव्य व अलौकिक कुत्ता (कुत्ते के रूप में ऋषि) प्रकट हुआ। तत्पश्चात् कई अन्य कुत्ते भी वहां प्रकट हो गए और उस श्वेत कुत्ते से कहने लगे कि उद्गीथ या ॐ का गायन करके हमारे लिए अन्न का प्रबंध करो, क्योंकि हम लोग क्षुधा पीड़ित हैं। इस पर वह श्वेत श्वान बोला कि अच्छा, कल प्रातः तुम इसी स्थान पर आना तो मैं अन्न का प्रबंध कर दूंगा। कुतूहलवश मित्रापुत्र ग्लाव ऋषि भी अगले दिन प्रातः निर्दिष्ट स्थान पर पहुंच गए। वहां जाकर उन्होंने देखा कि जिस प्रकार यज्ञकर्म में उद्गाता वहिष्यवमान स्त्रोत का पाठ करने से पूर्व एक दूसरे से मिलकर चलते हैं, उसी प्रकार वह ऋषिरूपी श्वान परस्पर मिलकर परिभ्रमण करने लगे और फिर एक स्थान पर बैठकर "हिं" स्तोभ का पाठ करने लगे (सामगान में स्वर और लय की पूर्ति में जो हा इ उ आदि 13 प्रकार के शब्द प्रयुक्त होते हैं, उन्हें स्तोभ कहते हैं)। ॐ हमें भोजन प्रदान करे। ॐ हमें जल प्रदान करे। ॐ वरुण देव, प्रजापति व सविता हमारे लिए भोजन का प्रबंध करें, अन्न का प्रबंध करें। अर्थात् ॐ के समुचित सामगान से देवताओं से अन्न व जल प्राप्त किया जा सकता है।

तेरहवां खंड

स्तोभों की रहस्यमय व्याख्या

यह अध्याय विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इस अंतिम अध्याय में बारहवें अध्याय में वर्णित 'हा' 'इ' 'उ' आदि 13 शब्दों की रहस्यात्मक व्याख्या को प्रस्तुत किया गया है।

"हाउ' शब्द मनुष्य लोक या मर्त्यलोक का द्योतक है।
'हाइ' शब्द वायुलोक या वायुतत्व का द्योतक है।
'अथ' चन्द्रलोक या वनस्पति जगत का द्योतक है।
'इह' आत्मा का द्योतक है।

'ॐ' सूर्यलोक या सूर्य की शक्ति का द्योतक है।
'ए' आह्वान का द्योतक है।
'औहोयि' विश्व देव का द्योतक है।
'हिं' प्रजापति का द्योतक है।
'स्वर' प्राण का द्योतक है।
'या' अन्न का द्योतक है।
'वाक्' भगवान के विराट स्वरूप का द्योतक है।
'हुं' सर्वत्र व्याप्त रहने वाला परब्रह्म है।

जो इन तेरह शब्दों के रहस्य को जान लेता है, वह संसार में संपूर्ण भोगों को प्राप्त कर लेता है।

द्वितीय अध्याय

24 खंडों के इस अध्याय में विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों में सामोपासना के विधान को बताया गया है।

प्रथम खंड

इस खंड में साम शब्द के एक विशिष्ट अर्थ को प्रस्तुत किया गया है। इस भावार्थ के अनुसार संसार में जो भी शुभ है, साधु है, सत्य है, धर्म है, वह साम है। इसी प्रकार अशुभ, असाधु, हानिकारक व असत्य के अर्थ में असाम शब्द का प्रयोग होता है।

द्वितीय से बीस खंड तक

साम की ही विभिन्न रूपों में पंचविधि से तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। (इन उन्नीस खंडों को समझने के लिए प्रथम अध्याय के 10, 11, व 12वें अध्याय को पहले समझना अत्यावश्यक है)।

इसके लिए आगे की तालिका देखें।

खंड	उपासना का माध्यम	हिंकार	प्रस्ताव	उद्गीथ	प्रतिहार	निधन
द्वितीय	लोक अधोगत लोक (विपरीत क्रम)	पृथ्वी द्युलोक	अग्नि आदित्य	अन्तरिक्ष अन्तरिक्ष	आदित्य अग्नि	द्युलोक पृथ्वी
तृतीय	वर्षा	पूर्ववायु	मेघ का निर्माण होना	मेघ का वरसना	विजली का चमकना व गर्जन	जल का ग्रहण हो जाना
चतुर्थ	जल	मेघ का सृजन	मेघ का वरसना या वरसात	वह नदियां जो इस जल को लेकर पूर्व दिशा में जाती हैं।	वह नदियां जो इस जल को लेकर पश्चिम दिशा में जाती हैं।	नदियों का अन्त समुद्र
पंचम्	ऋतु	वसन्त ऋतु (क्योंकि यह कामदेव की ऋतु होने के कारण प्रकृति में सृजन की इच्छा को अभिव्यक्त करती है। इसी कारण ऋतुराज भी कहलाती है)	ग्रीष्म ऋतु	वर्षा (क्योंकि इसी ऋतु के गर्जन या गायन की ध्वनि सुनाई देती है)।	शरद ऋतु	हेमन्त ऋतु
षष्ठम्	पशु	वकरा	भेड़	गाय	घोड़ा	पुरुष
सप्तम्	प्राण	प्राण	वाक्	चक्षु या आंखें	कान	मन
	आठवें खंड से दशम खंड तक प्राकृतिक शक्तियों की पंच विद्या न होकर सप्त विद्या की तुलना की गई है।					

अष्टम्	वाणी या वोलना	हिंकार हुं	प्रस्ताव प्र	आदि आ	उद्गीथ उत	प्रतिहार प्रति	उपद्रव उप	निधन नि
नवम्	सूर्य	उदय से पूर्व का	सूर्योदय	सूर्योदय के पश्चात	मध्यम या दोपहर का सूर्य	मध्याह्न के पश्चात् व अपराह्न	अपराह्न के पश्चात् व सूर्यास्त पूर्व	सूर्यास्त या सूर्यास्त सूर्यास्त के कुछ क्षण

अष्टम्	वाणी या बोलना	हिंकार हुं	प्रस्ताव प्र	आदि आ	उद्गीथ उत्	प्रतिहार प्रति	उपद्रव उप	निधन नि
		सूर्य (इस रूप पर पशु आश्रित है	उदित काल का उदित होता अरुण (इस रूप पर मनुष्य निर्भर है।	तीन मूर्हूत की सङ्गववेला (इस रूप पर पक्षी आश्रित है	इस सव पर देवता आश्रित है	(इस रूप पर गर्भस्थ शिशु आश्रित है	मध्य-दिवस (इस रूप पर वन्य पशु आश्रित है	पूर्व (इस रूप पर पितृगण आश्रित हैं
दशम	3 यह दोनों एक दूसरे के समान है			2 (2+1) यहां एक जोड़ने पर	4 (4–1) यहां एक घटाने पर	4 यह दोनो एक दूसरे के समान हो जाते हैं	4 इनमें एक अक्षर अधिक है परंतु वह भी इनमें समान है	3 समान

ये कुल 22 अक्षर हैं इनमें से 21 अक्षर या 21 की संख्या सूर्य को प्रकट करती है।
(12 मास + 5 ऋतु + श्लोक) = 20
12 आदित्य पांच प्राण तीन गुणा
इनमें 1 और जोड़ने से 21वां आदित्य है
22 वा अक्षर सूर्य से परे पाद है व जो इस 22 वे अक्षर के रहस्य को जान लेता हैं वह परम आनंद को प्राप्त होता है।

खंड निधन	उपासना का माध्यम	हिंकार	प्रस्ताव	उद्गीथ	प्रतिहार	
ग्यारह	गायत्र यह गायत्र प्राणों में प्रतिष्ठित है तथा प्राण व आयु में वृद्धि करता है।	मन	वाक्	आंखें	कान	प्राण
वारह	रथन्तर (इसमें अग्नि प्रतिष्ठित है जो उपासना को व्रह्म तेज अन्न पूर्ण जीवन व कीर्ति देती है।	लकड़ी के दो टुकड़ों को परस्पर रगड़ना	धुआ	अग्नि का प्रज्जवलित होना	अंगारे	अग्नि का शांत होना बुझना या ठंडा होना

खंड	उपासना का माध्यम	हिंकार	प्रस्ताव	उद्गीथ	प्रतिहार	निधन
तेरह	वामदेव्य (इस साम की उपासना से पति-पत्नी परस्पर कभी विछुड़ते नहीं, उन्हें उत्तम संतान की प्राप्ति होती है (यहां पर यह यह चेतावनी विशेष रूप से दी गई है। परस्त्री गमन न करे यही व्रत है	स्त्री पुरुष का एक दूसरे की ओर आकर्षित होना	पुरुष का स्त्री को प्रस्ताव करना	सहशयन (साथ-साथ लेटना)	स्त्री के ऊपर लेटना (उसको ढकना उसका अवारण वन जाना	पुरुष की गर्भाशय में वीर्याहुति
चौदह	वृहत्साम यह सूर्य की उपासना का साम है इस विधि से उपासना करने से मनुष्य तेजस्वी, अन्नको भोगने वाला वह दीघार्यु है (तपते हुए सूर्य की कभी भी निंदा न करे यह व्रत है)	उदित होता हुआ सूर्य	उदित हुआ सूर्य	मध्याह्न कालिन	अपराह्न कालिन	अस्त होता सूर्य
पंद्रह	वैरुप इस साम रूप में मेघ की उपासना की जाती है तथा ऐसा उपासक सुंदर रूप, दीघार्यु व पशुधन को प्राप्त करता है **व्रत** : वरसते मेघ की निंदा न करे	वादलों का एकत्रित होना	मेघ की उत्पत्ति	जल का वरसना	विजली का चमकना व मेघ गर्जन	वर्षा की समाप्ति

खंड	उपासना का माध्यम	हिंकार	प्रस्ताव	उद्गीथ	प्रतिहार	निधन
सोलह	वैराज इस साम रूप में ऋतुओं की उपासना की जाती है तथा उपासना पशुधन दीघार्यु व ब्रह्मतेज प्राप्त करता है। **व्रत** : किसी भी ऋतु की निंदा न करे	वसंत ऋतु	ग्रीष्म ऋतु	वर्षा ऋतु	शरद् ऋतु	हेमंत ऋतु
सत्तरह	शक्वरी इस साम रूप में विभिन्न लोकों की उपासना का विधान है साधन दीघार्यु, उज्जवल जीवन कर्ति व पशुधन प्राप्त करता है। **व्रतः** लोकों की निंदा न करे	पृथ्वी	अन्तरिक्ष	द्युलोक	दिशाएं	समुद्र
अठारह	खेती उस साम द्वारा पशुओं की उपासना की जाती है। इस उपासना को करने वाला पशुधन को प्राप्त करता है। वह दीघार्यु व पशुओं के कारण प्रसिद्ध होता है पशुओं की निंदा न करे	बकरी	भेड़	गाय	घोड़ा	पुरुष
उन्नीस	यज्ञायज्ञीय	रोए या लोन	त्वचा	मांस	अस्थि	मज्जा
बीस	राजन	अग्नि	वायु	आदित्य	नक्षत्र	चन्द्रमा

इस प्रकार इस विभिन्न सामोपासनाओं के माध्यम से सृष्टि के यज्ञीय सहसंबंध की व्याख्या की गई है।

तृतीय अध्याय

19 खंडों के इस अध्याय में सूर्य की मधु रूप में उपासना का विस्तृत विवरण है। यही उपासना 'मधुविद्या' के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त पंचप्राणों की उपासना, पुरुष की यज्ञ रूप में अभिव्यक्ति और सूर्य को ही ब्रह्म रूप में अभिव्यक्त किया गया है।

प्रथम खंड

सूर्य की देवताओं के मधु रूप में कल्पना

एक मधुमक्खी के छत्ते में शहद एकत्रित होने की प्रक्रिया को यहां सूर्य व देवलोक की तुलनात्मक समानता के रूप में प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि सूर्य स्वयं मधु है। द्युलोक या आकाश वह तिरछा बांस है, जिस पर वह लटका हुआ है, अंतरिक्ष या संपूर्ण वायुमंडल उसका छत्ता है, सूर्य की किरणें मधुमक्खियां हैं। इस सूर्य रूपी छत्ते की पूर्व दिशा मानो पूर्व दिशा में स्थित छत्ते के छिद्र हैं। ऋक् ही मधुकर है, ऋक् ही फूल व फूलों का मकरंद है और जल ही अमृत है जैसे मधुमक्खियां फूलों का रस चूस-चूसकर शहद बनाती हैं, वैसे ही ऋग्वेद की ऋचाओं में वर्णित प्रक्रियाओं से तेज़ रूपी शहद बनता है, जो सूर्य के रूप में आभावान है)। ऋग्वेद का तेज ही सूर्य की पूर्वी दिशा में स्थित है और प्रातःकालीन उदित सूर्य का लाल रंग इसी शक्ति को अभिव्यक्त करता है। इसी तेज से वीर्य, अन्न आदि वस्तुएं उत्पन्न होती हैं।

द्वितीय खंड

दक्षिण दिशा यजुर्वेद व सूर्य

इस खंड में वर्णित सूर्य की पूर्व दिशा के अनुरूप अब अन्य दिशाओं का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि मानो दक्षिण दिशा में स्थित जो छत्ते के छिद्र हैं, वे यजुर्वेद रूपी पुष्प से पुष्ट होते हैं। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि दक्षिण दिशा में सूर्य का तेज यजुर्वेद के वर्णित मंत्रों के अनुष्ठान से होता है। सूर्य का चमकने वाला श्वेत रूप यजुर्वेदीय तेज को ही माना गया है। इसी औपनिषदिक भावना के अनुरूप आदि शंकराचार्य ने चारों दिशाओं में अम्नाय स्थापित करते समय प्रत्येक दिशा के मठ का एक वेद निश्चित कर दिया था, जो इस अध्याय में वर्णित मधुविद्या पर ही आधारित है।

1. पूर्व दिशा :	ऋग्वेद :	गोवर्धन मठ	(उड़ीसा)।
2. पश्चिम दिशा :	सामवेद :	शारदा मठ	(गुजरात)।
3. उत्तर दिशा :	अथर्ववेद :	ज्योतिर्मठ	(बद्रीनाथ, उत्तर प्रदेश)।
4. दक्षिण दिशा :	यजुर्वेद :	श्रृंगेरी मठ	(कर्नाटक)।

तृतीय खंड

पश्चिम दिशा सामवेद व सूर्य

सामवेद के गायन को ही पश्चिम दिशा में स्थित सूर्य रूपी छत्ते का मधु माना गया है। इससे पश्चिम दिशा में तेज, वीर्य व अन्न उत्पन्न होता है तथा सूर्य का जो कृष्ण या काला रंग दिखाई देता है, उस समय सामवेद का तेज ही प्रकट होता है।

चतुर्थ खंड

उत्तर दिशा अथर्ववेद व सूर्य

उपरोक्त तीनों दिशाओं से थोड़ा-सा भिन्न उत्तर दिशा का तेज या मधु है, जो अथर्व व आंगिरस श्रुतिओं के द्वारा एकत्रित किया जाता है, परंतु उसके पुष्प इतिहास व पुराण में वर्णित कथाएं हैं। इनके पाठन व श्रवण से उत्तर दिशा में उत्पन्न हुआ तेज सूर्य को गहरा काला या अत्यन्त कृष्ण रूप देता है। उस दिशा के अन्न, वीर्य, यश व तेज को पुष्ट करता है।

पंचम् खंड

ऊर्ध्व (ऊपर की ओर जाने वाला) दिशा व ब्रह्म

सूर्य की ऊर्ध्व की ओर जाने वाली रश्मियां जिस मधु का निर्माण करती हैं, वह मधु प्रणव या ओंकार है, जो ब्रह्म रूपी पुष्प से संचित होता है। आदित्य के मध्य में जो कंपित तेज है, वह इस ब्रह्मतेज को अभिव्यक्त करता है। यह तेज किसी एक वेद से न होकर संपूर्ण वेदों के सार रूपी अमृत से प्रकट होता है।

छठा खंड

छठे से दशम् खंड तक अमृत की उपरोक्त पांच खंडों में वर्णित अमृतरूपी रस की पांच विभिन्न देवगणों में वितरण को लेकर है।

वसुओं द्वारा प्रथम अमृत की प्राप्ति व उनकी उपासना

प्रथम अमृत जो वेदों के रस के रूप में प्रकट होता है, उससे आठ वस्तुओं की पुष्टि होती है। वह इस अमृत को अग्नि के माध्यम में ग्रहण करते हैं। अर्थात् वेद मंत्रों के उच्चारण व यज्ञ से अग्नि को जो आहुति दी जाती है, वह अमृत रूप में परिवर्तित होकर वसुओं को पुष्ट करती है। अन्य देवगण न तो खाते हैं, न पीते हैं, केवल अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं। जो रस रहस्य को (अर्थात् यज्ञ द्वारा वस्तुओं को तृप्त करना) जान जाता है, वह स्वयं वसुओं में से ही एक होकर अग्नि की आहुति मात्र से तृप्त होने लग जाता है। सूर्य के पूर्व से उदित होकर पश्चिम में अस्त होने तक का समय वसुओं का समय है, जिसमें साधक उनकी कृपा प्राप्त कर सकता है।

सप्तम् खंड

रुद्र द्वारा द्वितीय अमृत की प्राप्ति व उनकी उपासना

द्वितीय अमृत जो वेदों के रस के रूप में प्रकट होता है, उससे 11 रुद्रों की पुष्टि होती है। रुद्र इस अमृत को इन्द्र के माध्यम से ग्रहण करते हैं और अन्य देवगण इस अमृत को केवल देखकर ही संतुष्ट हो जाते हैं। जो इस रहस्य को जानता है, वह इन रुद्रों में से ही एक होकर इन्द्र की प्रधानता से इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है। जितने समय में सूर्य पूर्व में उदित होकर पश्चिम में अस्त होता है, उससे दोगुने समय में वह दक्षिण में उदित होता है और उत्तर में अस्त होता है। इतने समय में वह उपासक रुद्रों की कृपा प्राप्त कर लेता है।

अष्टम् खंड

आदित्यों द्वारा तृतीय अमृत की प्राप्ति व उनकी उपासना

अमृत के तीसरे भाग को बारह आदित्य वरुण के माध्यम से ग्रहण करके संतुष्ट होते हैं। अन्य देवगण केवल देखकर ही संतुष्ट हो जाते हैं। जो इस रहस्य को जान लेता है, वह आदित्यों के आधिपत्य व स्वराज्य को प्राप्त होता है।

नवम् खंड

मरुतों द्वारा अमृत की प्राप्ति व उपासना

अमृत के चतुर्थ भाग को मरुत सोम के माध्यम से ग्रहण करते हैं। इस रहस्य को जानने वाला मरुतों का कृपापात्र हो जाता है।

दशम् खंड

साध्यों द्वारा अमृत की प्राप्ति व उपासना

साधक या उपासकगण अमृत के पांचवे भाग को ब्रह्मा की प्रधानता से ग्रहण करके पुष्ट होते हैं। अन्य देवगण केवल देखकर ही तृप्त हो जाते हैं और जो इस रहस्य को जान जाता है, वह साध्यगणों में से ही एक होकर ब्रह्मा की कृपा से अन्य देवताओं की भांति अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाता है।

एकादश खंड

मधुविद्या व ब्रह्मविज्ञान के अधिकारी साधक

इस तृतीय अध्याय के दस खण्डों में वर्णित मधुविद्या का वैदिक काल में बहुत महत्त्व था। इसे सूर्य-विज्ञान के नाम से जाना जाता था। (1925 में वाराणसी में गंध वाले बाबा के नाम से प्रसिद्ध स्वामी विशुद्धानंद जी इस विद्या के प्रकांड विद्वान् थे, जो सूर्य की विभिन्न रश्मियों से संसार की किसी भी वस्तु का निर्माण कर देते थे।) प्रसिद्ध ब्रिटिश पर्यटक पाल ब्रंटन ने 'रहस्ममय भारत' (Secret India) नामक अपनी पुस्तक में भी उनका व सूर्य विद्या का वर्णन किया है। औपनिषदिक काल में ब्रह्मा से प्रजापति व मनु के माध्यम से यह विद्या ऋषियों तक पहुंची। अरुण के पुत्र उद्दालक को उसके पिता ने यह विद्या दी थी। अतः ऋषिगण यह विद्या अपने ज्येष्ठ पुत्र या सुयोग्य शिष्य को ही दें, अन्य किसी को नहीं।

बारहवां खंड

गायत्री की सर्वव्यापकता

जो कुछ भी इस संसार में दृश्य व अदृश्य है, स्थावर जंगम है, वह सभी भूत व प्राणी गायत्री ही है या गायत्री में व्याप्त है। वाक् या वाणी भी गायत्री का ही एक रूप है। गायत्री ही सम्पूर्ण पृथ्वी का आधार है, क्योंकि इसमें सभी भूत (पंच महाभूत) स्थापित हैं। जिस प्रकार पुरुष शरीर के आवरण में व्याप्त है और शरीर में हृदय है व हृदय में प्राण स्थित है, उसी प्रकार गायत्री भी सम्पूर्ण शरीर में प्राणों के माध्यम से व्याप्त है। यह गायत्री चार पैरों वाली और छः प्रकार की है, (छः प्रकार का यहां अर्थ **पृथ्वी, सम्पूर्ण भूत,** वाक्, **शरीर, हृदय** व **प्राण** में गायत्री की सर्वव्यापकता से है, जिसका ऋग्वेद वर्णन करते हैं)। वस्तुतः प्रसिद्ध गायत्री मंत्र ऋग्वेद के तीसरे मंडल के 42वें सूक्त में वर्णित है, जिसमें सविता (सूर्य के व्यक्त व अव्यक्त दोनों

रूपों) की स्तुति की गई है। जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण जगत, भूत व शरीर में व्याप्त है, वैसे ही गायत्री भी पुरुष, भूत व आकाश में व्याप्त है।

तेरहवां खंड

पंचप्राणों, इन्द्रियों व देवताओं का सहसंबंध

मनुष्य के शरीर में प्राण को कार्य-भेद व स्थान-भेद के आधार पर यद्यपि दस भिन्न नामों में विभक्त किया गया है, परंतु इन दस में से भी पांच प्रमुख हैं, जो क्रमशः प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान के नाम से जाने जाते हैं। इनमें से प्राणवायु हृदय में, अपान नाभि से नीचे गुह्य प्रदेश में, समान हृदय से नाभि तक, व्यान सारे शरीर में (रक्त परिसंचरण के माध्यम से) व उदान कंठ में व्याप्त है। प्राण श्वास को अंदर ले जाता है व बाहर निकालता है व अन्न को पचाकर मल, मूत्र व वीर्य को बनाता है। अपान गुदा से मल, उपस्थ से मूत्र, अंडकोश से वीर्य व गर्भ से शिशु को बाहर की ओर धकेलता है। समान अन्न के रस को रक्त परिसंचरण के माध्यम से सारे शरीर में पहुंचाता है। व्यान स्थूल व सूक्ष्म नाड़ियों में गति प्रदान करता है। उदान मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से बाहर निकालता है। इन्हीं पंच प्राणों की इस खंड में व्याख्या की गई है।

इस खंड में कहा गया है कि हृदय में पांच देवसुषि या छिद्र हैं। इनमें जो पूर्ववर्ती छिद्र है, वह प्राण है। उसकी शक्ति ही आंखों में है। वही सूर्य है, वही तेज है और वही अन्न आदि है। उसकी इस रूप में उपासना या ध्यान से मनुष्य तेजस्वी व स्वस्थ शरीर से युक्त रहता है। दक्षिण दिशा में जो छिद्र है, वही व्यान है। वह कानों में व्याप्त है। वही चन्द्रमा की शीतलता है तथा श्री व यश है। जो इस भाव से उपासना करता है, वह यशस्वी व श्री युक्त होता है।

पश्चिम दिशा का छिद्र अपान है। यही वाक् से प्रकट होता है। यह अग्नि व ब्रह्म तेज है। जो इस भाव से उपासना करता है, वह ब्रह्मतेजस्वी व अन्न का भोक्ता होता है। इसी प्रकार उत्तर दिशा का जो छिद्र है, वह 'समान' है। वही मानव शरीर में मन है। आकाश में वही मेघ के रूप में प्रकट होता है और यही देह में लावण्य को प्रकट करता है। हृदय या ऊर्ध्व छिद्र उदान वायु है। यही स्थूल रूप में वायु व आकाश है। यही ओज व तेज के रूप में भी प्रकट होता है। इन्हें ही ब्रह्म रूपी पुरुष के द्वारपाल कहा गया है, क्योंकि योगी योग क्रिया द्वारा इन्हीं प्राणों पर विजय पाकर स्वयं में ही ब्रह्म को पा लेते हैं। इन पांच द्वारपालों का दूसरा भावार्थ **आंख, कान, वाणी, मन** व **प्राण** से भी है, जिनके ऊपर विजय पाकर अथवा उनकी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी करके ध्यान द्वारा ब्रह्म को स्वयं में पाया जा सकता है।

चौदहवां खंड

शांडिल्य विद्या तथा आत्मा व परमात्मा में स्थूल व सूक्ष्म का भाव

इस खंड में पुनः इसी विचार को पुष्ट किया गया है कि सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता है। अतः ज्ञानी पुरुष राग-द्वेष से रहित होकर शांत मन से इसी ब्रह्म की उपासना करें। इसके पश्चात् शांडिल्य ऋषि द्वारा निम्नलिखित प्रमुख सिद्धांतों को अभिव्यक्त किया है, जो उपनिषदों में शांडिल्य विद्या के नाम से प्रसिद्ध है–

1. पुरुष का मृत्यु के पश्चात् जन्म उसके अंत समय में किए गए निश्चय के आधार पर होता है। (यह भाव **अन्तमति सो गति** के द्वारा भी अभिव्यक्त किया जाता है।) अतः मनुष्य को पूर्ण रूप से ब्रह्म में ही ध्यान लगाना चाहिए और निश्चय-पूर्वक उसे ही प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

2. एक ओर मानव शरीर में आत्मा हृदय कमल के अंदर इतनी सूक्ष्म है कि उसकी तुलना धान से, यव से या सरसों से की जा सकती है, तो दूसरी ओर यह आत्मा परब्रह्म का अंश होने के कारण इतनी विशाल है कि यह पृथ्वी, अंतरिक्ष व द्युलोक सभी में व्याप्त है।

3. इस स्थूल व सूक्ष्म, समष्टि व व्यष्टि, ससीम व असीम के भाव को जानकर जो आत्मज्ञान द्वारा निश्चय करके स्वयं में ब्रह्म को अनुभूत कर लेता है, वही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

पन्द्रहवां खंड

इस खंड में रहस्यमय रूप से कुछ ऐसे मंत्र दिए गए हैं, जिनका जाप करने वाले को कभी भी पुत्र की मृत्यु पर रोना नहीं पड़ता। अर्थात् उनके पुत्र अल्पायु नहीं होते। इसके साथ ब्रह्म के विराट स्वरूप की उपासना का भी रहस्यमय वर्णन मिलता है।

अंतरिक्ष जिसका उदर है, पृथ्वी जिसका आधार है, दिशाएं जिसके कोण हैं, आकाश जिसका ऊपरी छिद्र (अर्थात् मुख) है, ऐसे विराट रूपमय ब्रह्म की यहां कल्पना की गई है। अब रहस्यमय शब्दावली प्रारंभ होती है। इस विराटकोशमय ब्रह्म की पूर्व दिशा **जूहू** कहलाती है। दक्षिण दिशा **सहभाना** नाम की है। पश्चिम दिशा **राज्ञी** नाम वाली है तथा उत्तर दिशा **सूभूता** नाम की है। इन दिशाओं का पुत्र वायु है। जो व्यक्ति इन दिशाओं व उनके पुत्र वायु को जान लेता है, उसे जीवन में अपने पुत्र के लिए रोना नहीं पड़ता। इसके पश्चात् भूः, भुवः व स्वः की शरण में जाने का वर्णन है, जिसमें पुत्र की दीघार्यु चाहने वाले को पुत्र का नामोच्चारण करना

चाहिए। इसके पश्चात् भूः, भुवः व स्वः की व्याख्या की गई है। भूः के द्वारा पृथ्वी, अंतरिक्ष व द्युलोक की शरण में जाने की इच्छा व्यक्त की गई है। भुवः के द्वारा अग्नि, वायु और आदित्य की शरण में जाने की इच्छा की गई है। स्वः के माध्यम से ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद की शरण में जाने की व्याख्या की गई है।

सोलहवां खंड

मनुष्य के जीवन की यज्ञ रूप से तुलना व नीरोग और दीर्घायु का रहस्य

ऋषि ऐतरेय महिदास ने मनुष्य का जीवन 116 वर्ष माना है और इसे तीन खंडों क्रमशः 24, 44 व 48 वर्षों में विभाजित किया है। उनके अनुसार मनुष्य की आयु के पहले 24 वर्ष प्रातःसवन के हैं, क्योंकि गायत्री भी 24 अक्षरों वाली है और प्रातःसवन से संबधित है। इस प्रातःसवन के देवता वसु हैं, जो वस्तुतः प्राण ही हैं। अतः यदि जीवन के पहले 24 वर्षों में कोई कष्ट या रोग हो, तो वसुगणों की उपासना करने से वह नीरोग हो जाता है। इसके पश्चात् के 44 वर्ष माध्यान्दिसवन के हैं, जो त्रिष्टुप छंद से संबंधित हैं, क्योंकि वह भी 44 अक्षरों वाला है। इसका देवता रुद्र है और प्राण ही रुद्र है। अतः यदि 24 से 68 वर्ष की आयु में कोई रोग सताए, तो यज्ञरूपी मनुष्य रुद्रों की उपासना करने से नीरोग हो जाता है। इसके पश्चात् 68 से 116 वर्ष तक जो 48 वर्ष का समय है, वह जगती छंद से संबंधित है, क्योंकि जगती छंद में 48 अक्षर हैं और यह तृतीय सवन है। इस सवन पर आदित्यगणों का अधिकार है और प्राण ही आदित्य है। अतः इस आयु में कष्ट होने पर आदित्यों की उपासना से मनुष्य नीरोग हो जाता है। अंत में ऋषि महिंदास कहते हैं कि इस विधि से वह 116 वर्ष तक जीवित हैं और जो व्यक्ति ऐसे उपासना करेगा, वह भी 116 वर्ष तक जिएगा।

सत्रहवां खंड

इस अध्याय में पुनः मनुष्य के जीवन की तुलना यज्ञ से करते हुए कहा कहा गया है कि जैसे गुरु से दीक्षा लेते समय उपवास रखना पड़ता है, वैसे ही ब्रह्म ज्ञान के प्रारंभ में भी जब मनुष्य भूखा व प्यासा रहता है और भोगों से दूर होता है, तो जो उसको कष्ट या क्लेश होता है, वही दीक्षा है। उसके पश्चात् उपवास काल में कभी दूध लेने पर हुए क्षुधा-पिपासा तृप्ति का भाव आता है, तो वह वैदिक उपसाद क्रिया के समान है। इसके पश्चात् जो आनंद लौकिक पुरुष को हंसने, खाने व मैथुन में प्राप्त होता है, वही ब्रह्म उपासक को मंत्रोच्चारण व देवस्तुति में प्राप्त होता है। जैसे साधारण ब्राह्मण को दक्षिणा मिलती है, वैसे ही ब्रह्म ज्ञानी को दक्षिणा में तप, सत्य व आर्जव की प्राप्ति होती है। तुलना के इसी क्रमिक विकास में उपनिषद् कहते हैं कि जैसे साधारण व्यक्ति के घर प्रसूति होती है या बालक का जन्म होता

है, वैसे ही ब्रह्म ज्ञानी का सांसारिक अज्ञान को त्यागकर पूर्ण ज्ञानी के रूप में पुनर्जन्म है तथा जैसे ब्रह्मज्ञानी अंत में अवभृथस्नान करता है, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है। यह ज्ञान आंगिरस ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को दिया था।

अठारहवां व उन्नीसवां खंड

अठारहवें अध्याय में मन व आकाश, दोनों के असीमित विस्तार की ब्रह्म से तुलना की गई है।

तृतीय खंड के अन्तिम उन्नीसवें अध्याय में ब्रह्मांड की तुलना एक अंडे से की गई है, जो भारतीय दर्शन की एक विशिष्टता है और इस भाव को कई जगह अभिव्यक्त किया गया है। पहले असत् या अंधकार था, फिर सत्य प्रकट हुआ और संसार का सृजन संभव हुआ और यह सृजन एक अंडे के रूप में हुआ। एक वर्ष पश्चात् वह अंडा फूटा और वह स्वर्ण व रजत में विभाजित हो गया। चांदी या रजत से पृथ्वी की रचना हुई और सुवर्ण से देवलोक की रचना हुई। उसकी बाहर की झिल्ली या जरायु से पर्वतों की रचना हुई और अंदर की झिल्ली से बादलों का निर्माण हुआ। अंडे की नाड़ियों से नदियों की उत्पत्ति हुई और जो द्रव था उससे समुद्रों का जन्म हुआ। इस अंडे से जिस जीव का जन्म हुआ वह सूर्य या आदित्य है, जो प्रतिदिन अपनी किरणों से अपने सृजन के समय बने सम्पूर्ण पदार्थों को पुष्ट करता है। अतः सूर्य की ब्रह्म रूप में उपासना करनी चाहिए।

चतुर्थ अध्याय

17 खंडों के इस अध्याय में राजा जनश्रुति व रैक्व के संवाद के माध्यम से वायु व प्राण की श्रेष्ठता, सत्यकाम जबाला के वृषभ, अग्नि, हंस व आचार्य द्वारा ब्रह्म का उपदेश तथा उपकोशल नामक शिष्य द्वारा अग्नि की रहस्यमय व्याख्या को प्रस्तुत किया गया है। प्रथम तीन खंडों में राजा जनश्रुति व गाड़ीवान रैक्व का संवाद है। कथा इस प्रकार है कि–एक बार प्रसिद्ध राजा जनश्रुति के महल के ऊपर से कुछ हंस उड़े जा रहे थे और परस्पर बात करते हुए कह रहे थे कि यद्यपि राजा के महल से उसके ब्रह्मज्ञान के कारण तेज प्रस्फुटित हो रहा है, परंतु यह उतना तीव्र नहीं है, जितना गाड़ीवान रैक्व का है। यह सुनकर राजा ने रैक्व को ढूंढ़कर उससे मिलने की इच्छा प्रकट की और अनेकों उपहार लेकर रैक्व के समीप पहुंचा, परंतु रैक्व ने ब्रह्मज्ञान देने से मना कर दिया। अब राजा दूसरी बार अपनी राजकुमारी को रैक्व को पत्नी रूप में प्रदत्त करने को पहुंचा, तो रैक्व ने राजकुमारी के आदर के लिए राजा को ब्रह्मज्ञान देने का निश्चय किया।

रैक्व ने कहा कि हे राजा! जनश्रुति वायु की ब्रह्मरूप में उपासना करो, क्योंकि प्रत्येक अन्य महाभूत इसी में विलीन होता है। जब अग्नि शांत होती है, तो वह वायु में ही विलीन हो जाती है। उसी प्रकार जब जल सूखता है, तो वह भी वायु में ही विलीन हो जाता है। यही वायु मनुष्य के शरीर में प्राण के रूप में उपस्थित रहती है। सोते समय अन्य सभी इंद्रियां जैसे आंखें, कान व मन इस प्राण रूपी वायु में ही तो विलीन हो जाते हैं, अतः देवताओं में वायु व मनुष्यों में भी प्राण रूपी वायु ही सर्वश्रेष्ठ व पूजनीय है।

चतुर्थ से नवम् खंड

चतुर्थ से नवम् खंड तक छः खंडों में जबाला पुत्र सत्यकाम की कथा है, जिसमें वृषभ (बैल), अग्नि, हंस, व ऊदबिलाव के माध्यम से ब्रह्म का उपदेश दिया गया है। वस्तुतः बैल पृथ्वी तत्व का, अग्नि स्वयं अग्नि क़ा, हंस वायु तत्व का व ऊदबिलाव जल तत्व का प्रतीक है। एक अन्य मतानुसार बैल वायु देवता का, अग्नि अग्नि देव का, हंस आदित्य या सूर्य का व ऊदबिलाव प्राण को अभिव्यक्त करते हैं।

एक बार सत्यकाम ने अपनी माता जबाला से पूछा कि हे मां! हम किस गोत्र के हैं और मेरे पिता कौन हैं, कृपा कर मुझे बताइए, क्योंकि मैं गुरुकुल में जाकर अध्ययन करना चाहता हूं। माता ने उत्तर दिया कि बेटा, युवावस्था में विभिन्न घरों में परिचायिका के रूप में कार्य करती थी। वहां किसके संसर्ग से मैंने तुम्हें प्राप्त किया यह तो मैं भी नहीं जानती, परंतु मेरा नाम जबाला है और तेरा सत्यकाम, अतः तेरा नाम 'सत्यकाम जबाला' है। सत्यकाम जबाला ने हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर इसी प्रकार अपना परिचय दे दिया। उसके सत्य से प्रभावित होकर गौतम ऋषि ने उसे अपना शिष्य स्वीकार कर लिया।

इसके पश्चात् उन्होंने उसे चार सौ गाएं चराने को दे दी और कहा कि इन गायों की संख्या जब एक हजार हो जाए, तब तुम इन्हें लेकर मेरे पास पुनः आना। काफी समय तक वन में गायों की सेवा करते-करते जब उनकी संख्या एक हजार हो गई तो, प्रमुख बैल या वृषभ ने सत्यकाम से कहा कि तुमने इतनी ज्यादा गो-सेवा की है, अतः मैं तुम्हें ब्रह्म के चार पदों में से एक पद का ज्ञान दूंगा। वृषभ रूपी वायुदेव बोले कि पूर्व, पश्चिम, दक्षिण व उत्तर दिशाएं प्रकाशमान ब्रह्म की ही चार कलाएं हैं। ब्रह्म के दूसरे पाद का ज्ञान तुझे अग्नि देव देंगे। ऐसा कहकर वृषभ मौन हो गया। दूसरे दिन अग्नि देव ने कहा कि हे सत्यकाम! मैं तुम्हें ब्रह्म के दूसरे पाद का उपदेश दूंगा। अनन्तवान ब्रह्म की पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक व समुद्र ये चार कलाएं हैं। तीसरे पाद का उपदेश तुम्हें हंस द्वारा प्राप्त होगा। ऐसा कहकर अग्नि मौन हो गई। तीसरे दिन हंस ने सत्यकाम से कहा कि अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा व विद्युत ज्योतिषमान ब्रह्म के तीसरे पाद की चार कलाएं हैं। चौथे दिन मदगु या ऊदबिलाव

ने सत्यकाम को उपदेश दिया कि प्राण, चक्षु, कान व मन यह आयतनवान् ब्रह्म के चौथे पाद की चार कलाएं हैं।

अब सत्यकाम अपने गुरु गौतम के निकट पहुंचा और गुरु ने शेष ज्ञान देकर उसे ज्ञान से पूर्ण कर दिया।

दशम् से सप्तदश खंड

दशम् से सत्रह खंड तक सत्यकामजाबाल के शिष्य उपकोसल को विभिन्न अग्नियों द्वारा तथा आचार्य सत्यकाम द्वारा दिए ब्रह्मज्ञान का विषद विवेचन है। इन्हीं खंडों में देवयान के मार्गों का भी वर्णन है।

उपकोसल नाम से प्रसिद्ध कमल का पुत्र अपने गुरु सत्यकामजाबाल के यहां ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन करता था। वहां उपकोसल ने 12 वर्षों तक आचार्य की अग्नियों की सेवा की, परंतु दीक्षा समाप्त होने पर आचार्य ने अन्य सभी शिष्यों का तो दीक्षान्त समावर्तन संस्कार कर दिया, परंतु उपकोसल का नहीं किया। इस पर उपकोसल बहुत दुःखी हो गया और उसने भोजन त्याग करने का निर्णय ले लिया। इस पर अग्नियों ने एकत्रित होकर निर्णय लिया कि इसको हम ब्रह्म ज्ञान का उपदेश देंगे। अग्नियों ने कहा कि हे उपकोसल! प्राण ही ब्रह्म है, क ब्रह्म है और ख ब्रह्म है। (वस्तुतः संस्कृत भाषा के प्रत्येक शब्द से किसी संज्ञा या तत्व की अभिव्यक्ति होती है, जैसे क पृथ्वी, ख जल, ग अग्नि, घ वायु, ङ आकाश आदि पंच तत्वों का आविर्भाव होता है। उसी प्रकार ल पृथ्वी तत्व, क जल तत्व का, र अग्नि तत्व का एवं ह गगनमंडल का द्योतक है) इसी ज्ञान का उपदेश देते हुए अग्नियों का संकेत है कि वर्ण ही ब्रह्म हैं। अब 'गार्हपत्याग्नि' अर्थात् गृहस्थ में जलने वाली अग्नि ने कहा कि पृथ्वी, अग्नि, अन्न और सूर्य ये मेरे ही चार शरीर हैं और आदित्य के अन्तर्गत जो पुरुष दिखाई देता है। वह ब्रह्मस्वरूप अग्नि मैं ही हूं। इसके पश्चात् 'अन्वाहार्यपचन' 'अर्थात्' पितृलोक' की अग्नि ने उपकोसल से कहा कि जल, दिशा, नक्षत्र और चन्द्रमा ये मेरे ही चार शरीर हैं और चन्द्रमा में जो ब्रह्म का प्रकाश दिखाई देता है, वह मैं ही हूं। अब 'विद्युत अग्नि आहवनीय' अर्थात् बादलों में चमकने वाली अग्नि ने कहा कि हे वत्स ! प्राण, आकाश, द्युलोक और विद्युत यह मेरे ही चार शरीर हैं और चमकती विद्युत में जो ब्रह्म का तेज प्रकट होता है, वह मैं ही हूं।

अब सत्यकामजावाल ने उपकोसल से कहा कि अब तुझे मैं शेष ज्ञान का उपदेश दूंगा। गुरु ने कहा कि हे पुत्र! जैसे कमलपत्र पर जल की बूंद स्थिर नहीं रहती और उसका उससे कोई संबंध नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म को जानने वाले को पाप स्पर्श नहीं करता। अब देवयान या ब्रह्मलोक के मार्ग की चर्चा की गई है। सत्यकाम शिष्य से कहते हैं कि नेत्रों में जो पुरुष दिखाई देता है, वही आत्मा है।

वही ब्रह्म है। (यहां तात्पर्य यह है कि जब मन पूर्ण पवित्र व अज्ञान के अंधकार से रहित हो जाता है, तो आंखें बन्द करके योगी परब्रह्म का दर्शन करते हैं।)

तांत्रिक मतानुसार दोनों आंखों के मध्य आज्ञा चक्र स्थित, जहां ध्यान लगाने से ॐकार स्वरूप प्रणव ब्रह्म का दर्शन होता है) ऐसा ब्रह्मज्ञानी योगी मृत्युपर्यन्त प्रकाश पुंज में समाहित हो जाता है। वहां से फिर दिन के प्रकाश में प्रकट होता है। फिर यह प्रकाश शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा में समाहित हो जाता है। यहां से उत्तरायण के सूर्य में चला जाता है (इसी कारण भीष्म पितामह ने सूर्य के उत्तरायण आने पर ही शरीर त्याग किया था)। उत्तरायण से मास में, मास से संवत्सर में, संवत्सर से पुनः आदित्य में, आदित्य से चन्द्रमा में और चन्द्रमा से विद्युत (बादलों में गर्जन के समय हुए तड़ित विद्युत से) और विद्युत से ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है। यही देवयान या ब्रह्म मार्ग है। इस मार्ग से जाने वालों का मृत्युलोक में पुनर्जन्म नहीं होता। अब अंत में चलती हुई वायु की यज्ञ से तुलना करते हुए कहा गया है कि यह वायु सभी वस्तुओं को पवित्र करती है। इस वायु का शरीर में मार्ग वाक् व मन के द्वारा है (यहां वाक् का तात्पर्य यज्ञ में मंत्रों के उच्चारण से है और मन का तात्पर्य उस मंत्र के मनन व ध्यान से है) और इन दोनों के मिलने से ही यज्ञ संभव है। प्रजापति ने इस यज्ञ में ध्यान के द्वारा ही लोकों का सृजन किया। पृथ्वी लोक से अग्नि, अंतरिक्ष से वायु और द्युलोक से सूर्य का आविर्भाव हुआ। तत्पश्चात् अग्नि से ही ऋक्, वायु से यजुः और सूर्य से सामवेद के मंत्रों का सृजन हुआ। गायत्री मंत्र का शब्द भूः ऋक् संहिता को, भुवः यजुः श्रुतियों को और स्वः सामश्रुति के सार को प्रकट करता है। जो इस रहस्य को जान लेता है वह स्वर्ग व अन्तरिक्ष को प्राप्त होता है।

पंचम् अध्याय

24 खंडों के इस अध्याय में प्राण की सर्वश्रेष्ठता, अग्नि का महत्त्व, जीवों की त्रिविध गति, वैश्वानर आत्मा के विषय पर सत्यकाम जाबाल, श्वेतकेतु व प्रवाहण संवाद, प्राचीनशाल व राजा अश्वपति की चर्चा के माध्यम से गूढ़तम विषयों को बहुत ही सरल भाषा में व्यक्त किया गया है।

प्रथम खंड

शरीर में प्राण की सर्वश्रेष्ठता

एक बार प्राण व अन्य सभी इन्द्रियों जैसे वाक् (बोलना), आंखें, कान, मन आदि में अपनी श्रेष्ठता को लेकर विवाद हो गया और वह उस विवाद को सुलझाने के

लिए प्रजापति ब्रह्मा के पास पहुंचे। ब्रह्माजी ने कहा कि तुम पांचों में से जिसके भी शरीर त्याग देने पर शरीर मृत या पापिष्ट हो जाए, वही तुम सबमें से श्रेष्ठ होगा। सर्वप्रथम वाकेन्द्रिय ने शरीर का त्याग कर दिया और एक वर्ष बाद पुनः शरीर में प्रवेश किया और पूछा कि तुम मेरे बिना कैसे जीवित रहे, तो अन्य इन्द्रियो ने कहा कि जिस प्रकार गूंगे लोग बिना बोले नेत्रों से देखते, कानों से सुनते व मन से चिंतन करते हैं तथा प्राण से प्राणन क्रिया करते हैं, वैसे ही हम जीवित रहे।

अब चक्षुइन्द्रिय ने एक वर्ष के लिए शरीर त्याग दिया और प्रवास के उपरान्त आकर पूछा कि आप लोग मेरे बिना कैसे जीवित रहे? अन्य इन्द्रियों ने कहा कि जैसे अंधे लोग केवल देखे बिना अन्य सभी क्रियाएं करने में सक्षम होते हैं और जीवित रहते हैं, वैसे ही हम भी रहे। फिर श्रोत्रेन्द्रिय ने भी उत्क्रमण किया और एक वर्ष बाद शरीर में पुनः प्रवेश किया और अन्य इन्द्रियों से पूछा कि वह कैसे रहे, तो सब ने कहा कि जैसे बहरा व्यक्ति जीवित रहता है, वैसे ही वे सब भी जीवित रहे। अब मन ने भी शरीर छोड़ दिया और एक वर्ष की अनुपस्थिति के बाद पुनः प्रवेश किया और अन्य इन्द्रियों से पूछा, तो उन्होंने कहा कि जैसे बच्चा जिसका मन विकसित नहीं होता, किन्तु सभी क्रियाएं करता है और जीवित रहता है, वैसे ही हम जीवित रहे। अब अंत में प्राण ने शरीर छोड़ने का निश्चय किया। जैसे ही प्राण ने शरीर छोड़ना प्रारंभ किया, अन्य इन्द्रियों की शक्ति भी क्षीण होने लगी और वह प्राण से प्रार्थना करने लगीं कि हमें छोड़कर मत जाइए, हम आप पर ही आश्रित हैं। आप ही सर्वश्रेष्ठ हैं और इस प्रकार प्राण की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध हो गई।

द्वितीय खंड

इस खंड में 'मन्थ' नामक यज्ञ अनुष्ठान का वर्णन है। प्रथम खंड में वर्णित प्राण ने अपनी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध होने पर पूछा कि 'मेरा भोजन क्या होगा'? अन्य इन्द्रियों ने कहा कि अन्न ही तुम्हारा भोजन होगा। अब प्राण ने पूछा कि मेरे वस्त्र कौन से होंगे ? इस पर अन्य इन्द्रियों ने कहा कि जल ही तुम्हारा वस्त्र होगा (क्योंकि मनुष्य अन्न ग्रहण करने के पश्चात् जल ग्रहण करता है और अन्न पर जल का आवरण चढ़ा होता है)। यह ज्ञान सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्य वैयाघ्रपद्य गोश्रुति को प्रदान किया था। अब मन्थ अनुष्ठान का वर्णन करते हुए ऋषिवर कहते हैं कि यदि कोई जीवन में उच्च पद, सफलता व समाज में महत्त्व व प्रसिद्धि चाहता हो, तो इस अनुष्ठान को करे। सर्वप्रथम अमावस्या की रात्रि को इस अनुष्ठान को प्रारंभ करके पूर्णिमा की रात्रि को सर्वषौध, दही व मधु तथा घृत से हवन करे व निम्न मंत्र से आहुति दे–

ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा।
वसिष्ठाय स्वाहा।
प्रतिष्ठाय स्वाहा।
सम्पदे स्वाहा।
आयतनाय स्वाहा।

तत्पश्चात् अग्नि से कुछ दूर जाकर उपरोक्त वर्णित हवन सामग्री को मथ कर अंजलि में ले (इसीलिए इस अनुष्ठान का नाम मन्थ है) और निम्नलिखित मंत्र का जाप करे–

"अमो नामासि अमा हि ते सर्वम् इदम्
सा हि ज्येष्ठ श्रेष्ठो राजाधिपतिः
सा मा ज्येष्ठम् श्रेष्ठम् राज्यम् अधिपत्यम् गमायत्व
अहम् ऐवेदम् सर्वम अशनीति।

अब ऋग्वेद की निम्नलिखित ऋचा का पाठ कहते हुए मन्थ का भक्षण करें–

तत्सवितुर्वृणीमहे इत्यसमीति
वयं देवस्य भोजनम् (ऐसा कहकर भक्षण करे)
श्रेष्ठ सर्वधातमम् (ऐसा कहकर भक्षण करे)
तुरं भगस्य धीमहि (ऐसा कहकर शेष मन्थ धो कर पी ले)

तत्पश्चात् यज्ञभूमि के पीछे ही संयमपूर्वक शयन करे और स्वप्न में यदि स्त्री दिखाई दे, तो यह समझ लेना चाहिए कि अनुष्ठान सफल हो गया।

तृतीय खंड - दशम् खंड

इन आठ खंडों में अग्नि उपासना व देवयान तथा पितृयान का वर्णन है। देवयान व पितृयान भारतीय औपनिषदिक दर्शन की विशिष्ट संकल्पनाएं हैं, जिनके द्वारा मृत्यु के पश्चात् आत्मा के ब्रह्मलोक तक जाने के मार्ग को स्पष्ट किया गया है। इस संकल्पना को न केवल छांदोग्य उपनिषद् में अपितु कौषीतकी व वृहदारण्यक उपनिषद् में भी विस्तृत रूप से विवेचित किया गया है।

एक बार आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पांचाल देश की सभा में शास्त्रार्थ हेतु आया। वहां जीवल के पुत्र प्रवाहण ने उससे कुछ प्रश्न पूछे, जो इस प्रकार हैं–

प्रवाहण : इस लोक से जाने पर आत्मा कहां जाती है?

श्वेतकेतु : मैं नहीं जानता।

प्रवाहण : देवयान और पितृयान, इन दोनों मार्गों का वियोगस्थान क्या तुझे मालूम है?

श्वेतकेतु : मैं नहीं जानता।

प्रवाहण : मृत्यु तो निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है, परंतु पितृलोक पूर्णतः क्यों नहीं भरता?

श्वेतकेतु : प्रभु, मैं नहीं जानता।

प्रवाहण : पांचवी आहुति के हवन कर दिए जाने के पश्चात् ''पुरुष'' संज्ञा को कैसे प्राप्त होता है?

श्वेत केतु : प्रभु मैं नहीं जानता।

इस पर प्रवाहण ने कहा कि फिर तुम शास्त्रार्थ करने क्यों आए थे? इस पर श्वेतकेतु लज्जित होकर अपने पिता के पास आया और सारा वृतान्त कह सुनाया। इन प्रश्नों का उत्तर उसके पिता भी नहीं दे सके और वे दोनों राजा की सभा में पहुंचे तथा शिष्यत्व प्रदान करने की प्रार्थना की। राजा ने उन्हें सर्वप्रथम अग्नि की उपासना (पंचाग्निविद्या) का रहस्य बताया। तत्पश्चात् इन सभी प्रश्नों का समुचित उत्तर व देवयान तथा पितृयान के मार्ग का ज्ञान दिया।

राजा ने कहा हे ऋषिवर ! यह द्युलोक (जहां सूर्य स्थित है, वह द्युलोक कहलाता है) यही अग्नि है। सूर्य ही इस हवन की समिधा या सामग्री है। किरणें धुआं हैं। दिन आग की ज्वाला या लपटें हैं। चन्द्रमा कोयला या अंगारे हैं। नक्षत्र या तारागण चिंगारियां हैं। इस हवन की अग्नि में देवता श्रद्धा का हवन करते हैं, जिससे सोम की उत्पत्ति होती है।

इस तुलना के द्वारा स्वर्ग की यज्ञाहुति को प्रकट किया गया है। जैसे सूर्य को हवन सामग्री या समिधा रूप इसलिए कहा गया है, क्योंकि संसार में प्रकाश तभी होता है, जब सूर्य अपना प्रकाश प्रकट करता है। अग्नि में सामग्री डालने से धुआं उठता है। वैसे ही सूर्य रूपी सामग्री के देवलोकीय अग्नि में पड़ने से किरणों रूपी धुआं पृथ्वी पर आता है। दिन को आग की लपटें इसलिए कहा गया है, क्योंकि जैसे प्रारंभ में अग्नि की लपटें धीमी होती हैं, परंतु धीर-धीरे तीव्र होती जाती हैं और अंत में शांत हो जाती हैं, वैसे ही दिन में, प्रातःकाल में कम तीव्रता होती है। दोपहर में ताप अधिकतम होता है और सायंकाल पुनः ताप कम होने लग जाता है। जैसे अग्नि की लपटें शांत हो जाने पर भी अग्नि में अंगारों के रूप में दहकता व प्रकाश विद्यमान रहता है, वैसे ही दिन के अवसान होने पर रात्रि में चंद्रमा अंगारों के रूप में शेष अग्नि ही है। क्योंकि चंद्रमा का अपना कोई प्रकाश नहीं है, अपितु सूर्य के प्रकाश से ही वह चमकता है। अब दूसरे रूप में अग्नि की उपासना का मार्ग बताते हुए राजा कहते हैं कि हे गौतम! वर्षा ही अग्नि है। वायु ही उसकी सामग्री है। (क्योंकि वायु ही वर्षा को लाती है)। बादल धुआं है। दामिनी या बजली का चमकना ही यज्ञ की अग्नि की लपटें हैं। बादलों का गर्जन ही अंगारे हैं और गर्जन की ध्वनि ही चिंगारियां हैं। प्रथम आहुति से उत्पन्न सोम की यहां आहुति से यह वर्षा होती है।

अब राजा ने तीसरे रूप में अग्नि की उपासना की विधि बताई, जिसके अनुसार पृथ्वी अग्नि है। वर्ष या संवत्सर ही सामग्री है। आकाश ही धुआं है। रात्रि अग्नि

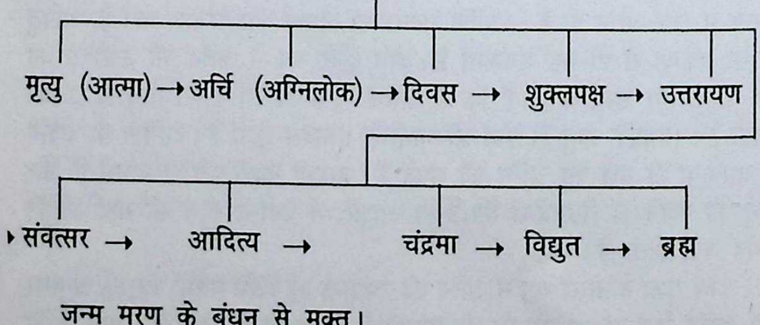
की लपटें हैं। दिशाएं अंगारे हैं और अन्य गौण दिशाएं चिंगारियां हैं। देवगण दूसरी आहुति से प्राप्त वर्षा की इस पृथ्वी रूपी अग्नि में आहुति देने से अन्न उत्पन्न होता है। (यह तो स्वयंसिद्ध है कि पृथ्वी में वर्षा होने पर ही अन्न व फसलें उत्पन्न होती हैं)।

अब चौथी अग्नि का उपदेश देते हुए राजा कहते हैं कि पुरुष रूपी अग्नि में वाक् रूपी सामग्री डालने से (अर्थात् वैदिक मंत्रोच्चारण से) प्राण रूपी धुआं प्रकट होता है। जिससे जिह्वा रूपी ज्वाला प्रकट होती है और आंखों के रूप में अंगारे प्रकट होते हैं तथा कानों में चिन्गारियां प्रकट होती हैं। इस पुरुष रूपी अग्नि में अन्न का होम करने से वीर्य उत्पन्न होता है।

अब स्त्री की अग्नि रूपी उपासना का वर्णन करते हुए कहते हैं कि स्त्री ही अग्नि है। उसका गर्भाशय ही हवन सामग्री है। पुरुष द्वारा स्त्री को सहवास के लिए आमंत्रित करना ही धुआं है। योनि ही अग्नि की ज्वाला है और मैथुन ही अंगारे हैं और रतिसुख ही चिंगारियां हैं। इस स्त्री रूपी अग्नि में पांचवी आहुति वीर्य की देने से गर्भ उत्पन्न होता है। (यही प्रवाहण के चौथे प्रश्न का उत्तर है कि पांचवी आहुति से पुरुष कैसे उत्पन्न होता है?) इस पांचवी आहुति से उत्पन्न पुरुष जन्म के पश्चात् अपनी आयु के अनुसार जीवित रहकर कर्मवश देवयान या पितृयान से पुनः द्युलोक में वापस चला जाता है।

देवयान मार्ग के अन्तर्गत पुरुष मृत्यु के पश्चात् अग्निलोक या प्रकाश पुंज रूप से दिवस या दिन के प्रकाश में समाहित हो जाते हैं। दिवस से शुक्लपक्षीय चंद्रमा के प्रकाश में और शुक्ल पक्ष से उत्तरायण सूर्य में आ जाते हैं (अर्थात् उत्तरायण के सूर्य के प्रकाश में आने से पूर्व आत्मा चंद्रमा पर स्थित रहती है)। इन 6 महीनों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को आदित्य से चंद्रमा को, चंद्रमा से विद्युत को, विद्युत से ब्रह्म में पुनः समाहित हो जाती है। यही देवयान मार्ग है। इस मार्ग से जाने वालों का पुनर्जन्म नहीं होता।

देवयान मार्ग



जन्म मरण के बंधन से मुक्त।

अब पितृयान का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिन्हें ब्रह्म ज्ञान नहीं होता वे लोग मृत्यु के पश्चात् धुएं के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। धूम्र से वह रात्रि में गमन करते हैं। रात्रि से कृष्णपक्ष में, कृष्ण पक्ष से दक्षिणायन सूर्य में समाहित हो जाते हैं। यह लोग देवयान की भांति संवत्सर को भी नहीं प्राप्त होते। दक्षिणायन से पितृलोक में, पितृलोक से आकाश में और आकाश से चंद्रमा में चले जाते हैं। वह ब्रह्म को प्राप्त नहीं होते।

पितृयान का मार्ग

मृत्यु → धूम्र → रात्रि → कृष्णपक्ष → दक्षिणायन → पितृलोक → आकाश → चंद्रमा

इसमें पुनः जन्म होगा।

अपने कर्मों का या पुण्य कर्मों का क्षय होने पर ये आत्माएं पुनः मृत्युलोक को लौटती हैं। ये आत्माएं उसी मार्ग से लौटती हैं, जिससे यह चंद्रमा तक गई थीं अर्थात् चंद्रमा से आकाश में, आकाश से वायु में, वायु से धूम्र व धूम्र से बादलों में चली जाती हैं वर्षा ऋतु अधिकांशतः दक्षिणायन में ही होती है। बादल के बरसने पर वह रात्रि में जल की बूंदों के माध्यम से पृथ्वी पर आते हैं और अन्न या औषधि आदि के रूप में प्रकट होते हैं। उस अन्न का जो भी भक्षण करता है, उसी के वीर्य में ये जीव पहुंच जाते हैं और पुनः मातृयोनि से जन्म लेते हैं चाहे वह मनुष्य योनि हो, पशुयोनि हो या कोई अन्य।

अब राजा तीसरे प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि क्योंकि पितृयान से जाने वाले पुनः जन्म लेते हैं, इसीलिए पितृलोक कभी नहीं भरता)। यही जीवन व मरण का रहस्य है।

एकादश–चौबीसवें खंड तक राजा अश्वपति व छः ऋषियों के बीच ब्रह्मज्ञान की चर्चा के द्वारा ब्रह्मांड व मानव शरीर की छः भागों में तुलनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

एक बार ऋषिवर प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन और बुडिल, उद्दालक ऋषि के साथ राजा अश्वपति के पास पहुंचे और उनसे आत्मा व ब्रह्म की तुलना करके दोनों के सहसंबंध को जानने की इच्छा प्रकट की। सर्वप्रथम प्राचीनशाल से

राजा ने पूछा—तुम किस रूप में ध्यान लगाकर आत्मा की उपासना करते हो?

प्राचीन शाल—राजन्, मैं द्युलोक पर ध्यान लगाकर आत्मा की उपासना करता हूं।

राजन्—यह तो केवल सुतेजा नामक विश्वव्यापी आत्मा का केवल मस्तक मात्र है। (यहां आत्मा व ब्रह्म के विराट स्वरूप की तुलना की गई है कि द्युलोक या आकाश विश्वव्यापी ब्रह्म का मस्तक है।)

राजा ने सत्ययज्ञ से पूछा—आप आत्मा की किस रूप में उपासना करते हैं?

सत्ययज्ञ—राजन्, मैं सूर्य या आदित्य रूप में आत्मा की उपासना करता हूं।

राजा अश्वपति—यह तो उस विश्वरूप वैश्वानर आत्मा के नेत्र मात्र हैं। (अर्थात् ब्रह्म के विराट व विस्तृत रूप को पूर्णतया जानो, खंडों या भागों में नहीं। आदित्य पूर्ण ब्रह्म नहीं, अपितु ब्रह्म के नेत्र हैं)।

राजा ने तीसरे ऋषि इन्द्रद्युम्न से पूछा— आप किस रूप में आत्मा की उपासना करते हैं?

ऋषि—मैं वायु रूप में आत्मा की उपासना करता हूं।

अश्वपति—यह तो ऋषिवर! केवल उस **पृथग्वकर्ता** वैश्वानर आत्मा का प्राण है। (जो कुछ भी मानव के शरीर में सूक्ष्म रूप में विद्यमान है, वही स्थूल या विस्तृत रूप में ब्रह्म या ब्रह्मांड में विद्यमान है। जैसे कुछ वायु मनुष्य की देह में प्राण है, वैसे ही सम्पूर्ण वायु ब्रह्म की देह का प्राण है—यद्पिंडे तद्ब्रह्मांडे)

राजा ने चौथे ऋषिजन से पूछा—आप किस रूप में आत्मा का ध्यान करते हैं?

जन ऋषि—राजन्, मैं आकाश रूप में आत्मा की आराधना करता हूं।

राजा अश्वपति— आपका ज्ञान भी अपूर्ण है, क्योंकि आकाश तो बहुलसंतक वैश्वानर आत्मा के शरीर का मध्य भाग है।

राजा ने पांचवे ऋषि बुडिल से पूछा— आप बताएं ऋषिवर, आप किस रूप में आत्मा की आराधना करते हैं?

बुडिल—राजन्, मैं जल रूप में आत्मा की उपासना करता हूं।

अश्वपति—ऋषिवर! जल तो उस रथिसंज्ञक वैश्वानर आत्मा का वस्ति या मूत्राशय है।

अंत में राजा ने उद्दालक ऋषि से पूछा—ऋषिवर ! आप किस रूप में आत्मा की उपासना करते हैं?

उद्दालक ने कहा— मैं पृथ्वी की ही आत्मा रूप में उपासना करता हूं।

अश्वपति— आपका भी ज्ञान अपूर्ण है, क्योंकि पृथ्वी तो प्रतिष्ठासंज्ञक वैश्वानर आत्मा के चरण हैं।

अब यदि यहां पर ध्यान पूर्वक विचार किया जाए तो, पंचतत्वों—पृथ्वी, जल, आकाश, वायु व अग्नि के स्थूल रूपों द्वारा ही ब्रह्म देह की रचना बताई गई है, जो द्युलोक से पृथ्वी तक व्याप्त है। द्युलोक मस्तक है और पृथ्वी चरण है) अतः ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त सर्वज्ञ सत्ता है, जो प्रकृति के कण-कण में विद्यमान है। अतः इसी रूप में उसकी उपासना करनी चाहिए।

अब पंचप्राण व शरीर की विभिन्न कर्मेन्द्रियों से उनके सहसंबंध का वर्णन किया गया है। प्राण के तृप्त होने से नेत्र तृप्त होते हैं, नेत्रों के तृप्त होने से सूर्य तृप्त होता है, सूर्य के तृप्त होने से द्युलोक तृप्त होता है और द्युलोक के तृप्त होने से अन्ततः ब्रह्म ही तृप्त होता है। वस्तुतः यहां अब मानव शरीर या पिण्ड का ब्रह्म के शरीर या ब्रह्मांड से अथवा सूक्ष्म का विराट से क्रमिक संबंध स्थापित किया गया है।

अब दूसरे प्राण व्यान के बारे में कहा गया है कि व्यान के तृप्त होने से श्रोत्रेन्द्रिय या कान तृप्त होते हैं। कानों से चन्द्रमा, चन्द्रमा से दिशाएं और चन्द्रमा व दिशाओं से ब्रह्म का संबंधित भाग तृप्त होता है। तीसरे प्राण अपान से क्रमशः वागेन्द्रिय, अग्नि, पृथ्वी और ब्रह्म के चरण तृप्त होते हैं। चौथे प्राण समान से क्रमशः मन, पर्जन्य, विद्युत व उससे संबंधित ब्रह्म का अंश तृप्त होता है। इसी प्रकार पंचम प्राण उदान से क्रमशः त्वचा, वायु, आकाश व ब्रह्म के प्राण व मध्य शरीर पुष्ट होते हैं। इस रहस्य को जानने वाला अग्निहोत्र यज्ञ के रहस्य को पूर्णतः जान जाता है।

छठा-अध्याय

16 खंडों के इस अध्याय में जगत् की उत्पति, ब्रह्म की त्रिगुणात्मक या त्रिवृत्करण प्रवृत्ति और विभिन्न सुंदर दृष्टांतो यथा नदी, वृक्ष, नमक आदि के माध्यम से ब्रह्मविषयक ज्ञान का विवेचन किया गया है।

प्रथम व द्वितीय खंड

प्रथम दो खंडों में जगत् की उत्पत्ति के बारे में बताया गया है, जहां श्वेतकेतु व उसके पिता में ब्रह्मचर्चा हो रही है।

पिता अपने पुत्र से कहते हैं कि सृष्टि के आरंभ से पूर्व केवल एकमात्र पर- ब्रह्म सत् था। इस अद्वितीय, निराकार, सत्यस्वरूप पर ब्रह्म ने संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊं। यह भाव आते ही ब्रह्म का तेज प्रकट हुआ। उस तेज से सर्वप्रथम जल की रचना हुई (इसीलिए जब भी पुरुष के शरीर में क्रोध या शोक के द्वारा तेज प्रकट होता है, तो तुरंत पसीने के रूप में जल स्वयं ही प्रकट़ हो जाता है)। जल से फिर विभिन्न अन्नों की उत्पत्ति हुई। इसी कारण जब भी जल बरसता है, पृथ्वी से विभिन्न अन्नों की उत्पत्ति होती है।

तृतीय व चतुर्थ खंड

इन दोनों खंडों में ब्रह्म द्वारा त्रिगुणात्मक सृष्टि के सृजन का वर्णन किया गया है। अब ब्रह्म ने त्रिगुणात्मक व त्रिविध सृष्टि की रचना की और तीन प्रकार के जीव उत्पन्न किए।

अंडज, जीवज और उद्विज। इसी त्रिविध प्रवृत्ति के अनुरूप अग्नि का जो लाल रूप है, वह तेज है, जो शुक्ल या पीला सा भाग है, वह जल है और बुझी हुई अग्नि का काला रूप अन्न है। इसी प्रकार सूर्य का जो प्रातःकालीन लाल रूप है, वह तेज है, जो शुक्ल रूप है वह जल है और रात्रि का कृष्ण रूप अन्न है। ऐसे ही चन्द्रमा व विद्युत के भी त्रिविधात्मक स्वरूपों की चर्चा की गई है।

पंचम् व षष्ठ खंड

इन खंडों में अन्न जल व तेज का त्रिगुणात्मक विवेचन किया गया है।
मनुष्य द्वारा खाया गया अन्न तीन भागों में बंट जाता है। स्थूल भाग से मल बन जाता है। मध्यम भाग से मांस में वृद्धि होती है, जबकि सूक्ष्म भाग से मन का निर्माण होता है। इसी प्रकार पिए हुए जल की भी त्रिगुणात्मक प्रवृत्ति हो जाती है। स्थूल भाग मूत्र में परिवर्तित हो जाता है। मध्यम भाग से रक्त का निर्माण होता है और सूक्ष्म भाग से प्राण का निर्माण होता है। इसी प्रकार तेज प्रदान करने वाली वस्तुएं जैसे घृत आदि भी तीन प्रकार से विभाजित हो जाती हैं। स्थूल भाग से हड्डी का निर्माण होता है। मध्यम भाग से मज्जा बन जाती है, जबकि सूक्ष्मतम भाग से वाक् बन जाता है। कहने का तात्पर्य है कि अन्न से मन, जल से प्राण और तेज से वाक् का निर्माण होता है।

सप्तम् खंड

एक दृष्टांत के द्वारा मन और अन्न का सहसंबंध
अरुण ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा कि पुत्र, तुम पन्द्रह दिन तक भोजन मत करो और केवल जल पर ही निर्भर रहो। श्वेतकेतु ने पंद्रह दिन तक अन्न ग्रहण नहीं किया और जल द्वारा प्राणों को पुष्ट करता रहा। 15 दिन के पश्चात् उसके पिता ने कहा कि पुत्र जाओ अब ऋक्, यजुः व साम का पाठ करो। श्वेतकेतु ने कहा कि पिता जी, मुझे भोजन न करने के कारण मंत्र पूर्णतः याद नहीं आ रहे, स्फुरित नहीं हो रहे। तब पिता ने कहा कि अच्छा, अब तू जाकर भोजन करके आ। भोजन के पश्चात् श्वेतकेतु को पुनः सबकुछ स्फुरित होने लगा। इस दृष्टांत के माध्यम से उसके पिता ने उसे यह ज्ञान दिया कि यद्यपि प्राण केवल जल पर निर्भर है, परंतु मन के लिए अन्न अत्यावश्यक है।

अष्टम् खंड

इस खंड में जीवन व मृत्यु के संदर्भ में तीनों तत्वों अन्न, जल, तेज तथा मन, प्राण वाक् का सृजन व संहार का क्रम बताया गया है।

उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा कि हे पुत्र ! सोते समय पुरुष ब्रह्म के साथ जुड़ जाता है अर्थात् उस समय वह सत्य रूप में स्वयं को पा लेता है।

परंतु जैसे रस्सी या डोरी से बंधा पक्षी विभिन्न दिशाओं में उड़कर भी पुनः अपने पुराने स्थान पर लौट आता है, वैसे ही यह मन प्राण रूपी डोर से बंधा होने के कारण ब्रह्म की दिशा में उड़कर भी पुनः अपने शरीर रूपी पिंजडे में लौट आता है। यह शरीर जो अन्नद्वारा पुष्ट है और अन्न द्वारा ही निर्मित है, यही अन्नमय शरीर (बालक के जन्म लेने के पश्चात् उसका विकास अन्नमय शरीर के रूप में अन्न से होता है। अतः यह देह अन्नमय है।) है अन्न को शरीर के विभिन्न भागों में जल द्वारा ग्रहण किया जाता है, क्योंकि जैसे शरीर का आधार अन्न है, वैसे ही अन्न का आधार जल है। इस शरीर में जल, अन्न को लेकर विभिन्न भागों में पहुंचता है, तो उसकी गति का आधार तेज या ऊर्जा है, क्योंकि वही जल को गति देती है। अतः जल का आधार तेज है।

अब मृत्यु के संदर्भ में इन तत्वों के विलीनीकरण का क्रम बताया गया है। सर्वप्रथम, अग्नि तत्व शरीर को छोड़ देता है और क्योंकि वाक् अग्नि पर आधारित है, अतः मरते हुए मनुष्य की सबसे पहले वाणी समाप्त हो जाती है, परंतु मन क्रियाशील होता है। अब मन जिसमें पृथ्वी तत्व प्रमुख होता है, अन्न के कारण वह प्राणों में विलीन हो जाता है और मनुष्य सोचने-समझने व पहचानने की शक्ति खो देता है। अंत में प्राण भी तेज में विलीन हो जाता है। अब जीवन या मृत्यु की पहचान शरीर को छूकर करते हैं, यदि वह गर्म है अर्थात् अभी तेज शेष है, तो वह जीवित है, अन्यथा मृत हो गया है। अंत में यह तेज भी शरीर को त्याग देता है और मृत्यु हो जाती है।

नवम् से तेरहवां खंड

इन पांच खंडों में मधु, नदी, वृक्ष, बट बीज और नमक के सुंदर दृष्टांतों के माध्यम से ब्रह्म की सर्वव्यापकता के सिद्धांत को अभिव्यक्त किया गया है। नवम् खंड में कहा गया है कि जैसे मधुमक्खियां विभिन्न पुष्पों का रस लाकर मधु का निर्माण करती हैं, परंतु मधु बन जाने पर कोई भी यह भेद नहीं कर सकता कि मधु में किस पुष्प का रस है, इसी प्रकार जो ब्रह्म को यथार्थ में जान लेता है, वह स्वयं को ब्रह्म से भिन्न नहीं मानता।

दशम् खंड में नदियों के माध्यम से कहा गया है कि जैसे सभी नदियां चाहे वह पूर्ववाहिनी हों या पश्चिमवाहिनी, समुद्र में मिल जाने के पश्चात् यह भेद नहीं कर सकतीं कि यह मेरा जल है, यह दूसरी का जल नहीं है, वैसे ही जो ब्रह्म को यथार्थ में जान लेता है वह अपने अस्तित्व को ब्रह्म से पृथक् नहीं मानता। ग्यारवें खंड में वृक्ष के माध्यम से कहा गया है कि जैसे वृक्ष के मूल पर चोट की जाए या शाखा पर, वह तो रसस्राव ही करेगा क्योंकि वृक्ष में जीव आत्मा स्थित है और क्योंकि यह आत्मा ब्रह्म का ही एक अंश है, अतः चाहे व वृक्ष में है या श्वेतकेतु तुझमें है या

अन्यत्र है यह ब्रहम की ही सर्वव्यापकता। अंत में नमक का बड़ा सुंदर दृष्टांत दिया गया है। आरुणि ने कहा कि हे पुत्र ! यह लो नमक, इसे जल में डाल. दो। श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। प्रातःकाल पिता ने कहा कि हे पुत्र, जाओ अब वह नमक ले आओ। नमक तो जल में घुल चुका था, अतः श्वेतकेतु उसे नहीं ला सका। वह नमकीन जल अवश्य ले आया। अब पिता ने कहा, तू इस जल को ऊपर से पीकर देख कि यह कैसा है? श्वेतकेतु ने कहा कि नमकीन। अच्छा, अब बीच में से पी कर देख कैसा है? उसने फिर कहा नमकीन। अच्छा, अब नीचे से पीकर देख अब कैसा है? श्वेतकेतु ने तब भी नमकीन ही कहा। आरुणि ने कहा कि पुत्र! जैसे न दिखते हुए भी नमक पूरे जल के कण-कण में विद्यमान है, वैसे ही ब्रह्म जीव व संसार के कण में अदृश्य होते हुए भी विद्यमान है।

अंतिम तीन खंडों में ब्रह्म के सत्यस्वरूप को स्वयं में स्थित आत्मा के माध्यम से जानने व पहचानने का उपदेश दिया गया है।

सप्तम् अध्याय

26 खंडों के इस अध्याय में ब्रह्म के नाम से उत्तरोत्तर प्राण तक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रथम खंड से लेकर पन्द्रहवें खंड तक 15 विभिन्न संज्ञाओं में ब्रह्म की स्थिति बताई गई है।

एक बार नारद जी सनत्कुमार जी के निकट पहुंचे और कहा कि मुझे ब्रह्म ज्ञान का उपदेश दीजिए। सनत्कुमार ने पूछा कि हे नारद जी, अभी तक आपने क्या-क्या ज्ञान लिया है, वह बताइए? नारदजी ने कहा कि मैं चारों वेद, इतिहास, पुराण, नृत्य, संगीत आदि विभिन्न विद्याऐं जानता हूं। सनत्कुमार ने कहा कि ऋग्वेद, सामवेद, इतिहास, पुराण, नृत्य, संगीत यह सब तो ब्रह्म के केवल "नाम" हैं। अतः तुमने तो ब्रह्म के नामस्वरूप की ही आराधना की है। नाम से भी आगे बढ़कर वाक् या वाणी है, क्योंकि वाणी ही नाम का उच्चारण करती है। अतः वाणी भी ब्रह्म का एक रूप है। वाणी से आगे मन है, क्योंकि नाम का ध्यान मन में आने से ही वाणी उसे अभिव्यक्त कर सकती है। अतः मन नाम व वाणी, दोनों से ऊपर है। यदि मन में विचार ही न आए तो कोई कार्य नहीं हो सकता। परंतु मन से भी बढ़कर संकल्प है, क्योंकि यदि मन में आए विचार पर संकल्प या दृढ़ता से मनन न किया जाए, तो वह प्रेरित नहीं करता। (मन में तो प्रतिक्षण हजारों विचार आते-जाते रहते हैं, परंतु जिस विचार पर मन स्थिर होकर संकल्प करता है, वही पूर्ण होता है। संकल्प से ऊपर चित्त है, क्योंकि चित्त ही संकल्प की प्रेरणा देता है।) इसी प्रकार चित्त से उत्कृष्ट ध्यान है, क्योंकि ध्यान लगाने पर ही चित्त संकल्प

की प्रेरणा देता है। परंतु ध्यान से भी श्रेष्ठ विज्ञान है, क्योंकि विज्ञान का ज्ञान होने पर ही हम साधु-असाधु, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म, ऋग्वेद-सामवेद के वास्तविक अर्थ को समझकर हितैषी व लाभदायक वस्तु पर ही ध्यान लगाते हैं अन्यत्र नहीं। इसी क्रम में विज्ञान से श्रेष्ठ बल को और बल से श्रेष्ठ अन्न को बताया गया है। क्योंकि यदि जीव अन्न ही ग्रहण नहीं करेगा, तो न तो उसमें बल होगा, न ही विज्ञान होगा, न ही वह भूखा रहकर ध्यान लगा सकता है, न संकल्प कर सकता है और न ही मनन कर सकता है। अन्न से भी श्रेष्ठ जल है, क्योंकि अन्न के बिना कुछ समय तो जीवित रहा जा सकता है, परन्तु जल के बिना तो मनुष्य, पशु, पक्षी, पृथ्वी (वर्षा के बिना) कुछ भी करने में असमर्थ हैं। तेज जल से भी बढ़कर है, क्योंकि तेज या ताप न हो तो जीव जल की इच्छा न करे, ग्रीष्म ऋतु न हो तो पृथ्वी पर वर्षा ऋतु न आए। अतः तेज जल से भी श्रेष्ठ है। इसी प्रकार तेज से श्रेष्ठ आकाश को, आकाश से श्रेष्ठ स्मरण को, स्मरण से श्रेष्ठ आशा को और सबसे अंत में आशा से श्रेष्ठ प्राण को माना गया है, क्योंकि यदि प्राण नहीं है, तो जीवन ही नहीं रहेगा। अतः प्राण ही ब्रह्म है।

सोलहवें से 26 वें खंडों तक सत्य से लेकर आत्मा तक व्याप्त ब्रह्म के विभिन्न स्वरूपों का वर्णन किया गया है। प्रथम पंद्रह खंडों की भांति इसमें भी सत्य के उत्तरोतर आत्मा तक के जिज्ञासा मार्ग का विवरण दिया गया है।

सनत्कुमार ने नारद जी से कहा कि 'सत्य' के रहस्य को जिज्ञासापूर्वक जानना चाहिए। सत्य को जानने के लिए विज्ञान की जिज्ञासा करनी चाहिए और विज्ञान को जानने के लिए बुद्धि के द्वारा मनन करना चाहिए। बुद्धि के मनन के लिए श्रद्धा होनी चाहिए, क्योंकि बिना श्रद्धा के बुद्धि किसी विषय विशेष का मनन नहीं करती। श्रद्धा के साथ-साथ निष्ठा भी अनिवार्य है, क्योंकि बिना निष्ठा के श्रद्धा जन्म नहीं लेती है। ऐसे ही निष्ठा के लिए कृति का महत्त्व बताया गया है कि निष्ठा के लिए कोई वस्तु या कृति होनी चाहिए। कृति या वस्तु सुखदायक हो, तभी उस पर निष्ठापूर्वक श्रद्धा से बुद्धि विज्ञान पूर्वक मनन करके सत्य को खोजती है। सुख भूमा से प्राप्त होता है।

(यत् भूमा तत् सुखं) भूमा भारतीय दर्शन का एक विशिष्ट शब्द है, जिसका अर्थ है विशाल, विस्तृत, विराट, अन्नतव, असीम अर्थात् जब ज्ञान के प्रकाश के कारण मन संकुचित व सीमित सांसारिक पदार्थों तक ही लिप्त न होकर अन्नतव असीम ब्रह्म की जिज्ञासा करता है।

इसीलिए भूमा को अमृत, सर्वव्यापी, सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञ कहा गया है। इसे ही आत्मा की संज्ञा दी गई है क्योंकि इस आत्मा को स्वयं में जान लेने पर मनुष्य अविद्या से निवृत होकर भोग विषयारूपी आहार को छोड़कर शुद्ध अंतःकरण से ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

अष्टम् अध्याय

पन्द्रह खंडों के इस अंतिम अध्याय में आत्मा की शरीर में भौतिक स्थिति हृदय की आकाश से तुलना तथा आत्मा की अजरता व अमरता का विवेचन है। प्रथम छः खंडों में हृदय व आकाश की तुलना तथा आत्मा की शरीर में भौतिक स्थिति का वर्णन किया गया है। आचार्य शिष्यगणों से कहते हैं कि इस मानव शरीर में हृदय के अंदर बहुत ही सूक्ष्म रूप में ब्रह्म विद्यमान है। ''यद्पिंडे तत्ब्रह्मांडे'' की भावना के अनुरूप कहते हैं कि जितना बड़ा यह भौतिक रूप से दिखाई देने वाला आकाश है उतना ही बड़ा व विस्तृत चिदाकाश हृदय के अन्तर्गत में स्थित है। यह शरीर वृद्ध हो जाता है, जीर्ण हो जाता है और अंत में इसका नाश हो जाता है, परंतु इस देह की जरावस्था में भी हृदयाकाश में स्थित आत्मारूपी ब्रह्म न तो वृद्ध होता है, न ही जीर्ण होता है और न ही उसका नाश होता है। अतः इस ब्रह्म को जानना चाहिए। जब तक मनुष्य अज्ञानतावश इस सत्य को नहीं जानता, तभी तक वह तृष्णा व कर्म फल के बंधन में बंधा रहता है। यह आत्मा हृदय में स्थित है। ''हृदि अयम्'' (यह हृदय में है) इसीलिए यह हृदय है। इस हृदय की नाड़ियां हैं, जो पिंगलवर्ण सूक्ष्म रस की हैं और इन नाड़ियों में से ही आदित्य या सूर्य की शक्ति प्रवाहित होती है, जिसे प्राण भी कहते हैं। जब जीव सोता है, तो इन्हीं नाड़ियों के माध्यम से वह हृदय में प्रविष्ट हो जाता है और ब्रह्म से मिलकर एकीकृत हो जाता है। इन्हीं ऊर्ध्वगामी नाड़ियों के माध्यम से ब्रह्मज्ञानी पुरुष ॐकार या प्रणव का जाप करता हुआ आदित्य लोक में पहुंच जाता है।

सप्तम् से तेरहवां खंड

सप्तम से तेरहवें खंड तक सात अध्यायों में इन्द्र व वैरोचन द्वारा प्रजापति से उपदेश के माध्यम से आत्मा के वास्तविक स्वरूप को बताया गया है।

एक बार देवताओं का राजा व असुरों का राजा विरोचन प्रजापति ब्रह्म के पास ब्रह्मज्ञान व आत्मा के सत्य यथार्थ को जानने हेतु पहुंचे। उन्होंने वहां बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य वास किया (कहने का तात्पर्य है कि ब्रह्मज्ञान ब्रह्मचर्य के बिना प्राप्त नहीं हो सकता) और अंत में प्रजापति ने दोनों से कहा कि जो पुरुष या स्वरूप नेत्रों में दिखाई देता है या नेत्रों द्वारा दिखाई देता है, वही अभय अमृत स्वरूप आत्मा है। यह सुनकर दोनों ने दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर उसे ही परब्रह्म मान लिया और अज्ञानतावश दोनों इसे ही सत्य मानकर अपने-अपने लोक लौट गए। विरोचन अज्ञानतावश शरीर को ही ब्रह्म मानकर सुंदर वस्त्र पहनने लगा, भांति-भांति के अलंकार ग्रहण करने लगा और अपनी पूजा, यानी शरीर की पूजा को ही ब्रह्म की पूजा मानने लगा। उधर दूसरी ओर इन्द्र यद्यपि स्वर्गलोक चला तो गया, परंतु

उसे संतुष्टि नहीं हुई। वह पुनः प्रजापति के पास वापस आया और कहने लगा कि शरीर को ही ब्रह्म मान लेना मुझे फलप्रद नहीं लगता। तब प्रजापति ने कहा कि अच्छा जाओ और पुनः 32 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करो। 32 वर्ष बाद प्रजापति ने इन्द्र से कहा कि पुरुष के जिस स्वरूप का मनुष्य स्वप्न में दर्शन करता है और अनुभव करता है, वही परब्रह्म आत्मा है। इसे सत्य मानकर इन्द्र वापस चले गए (यहां एक अन्य प्रकार से ज्ञान की उत्तरोत्तर उच्च अवस्थाओं का वर्णन है। अज्ञानी के लिए शरीर ही सब कुछ है। आंशिक ज्ञानी के लिए ब्रह्म के आंशिक संपर्क का वर्णन है, क्योंकि सोते समय हृदय गत नाड़ियों से प्राण का हृदय में प्रवेश होने से जीव का आत्मा से क्षणिक सम्पर्क हो जाता है)। परंतु इन्द्र को इससे भी संतुष्टि नहीं हुई, क्योंकि यह तो ठीक था कि स्वप्न में दिखाई देने वाला पुरुष न तो देह के बीमार होने के बीमार होता है, न ही देह के सुख-दुःख में भागी होता है, परंतु देह के समाप्त हो जाने पर यह कहां चला जाता है? यह कोई नहीं जानता। अतः यह भी पूर्ण सत्य नहीं है। यह जानकर इन्द्र पुनः प्रजापति के पास पहुंचा और अपनी जिज्ञासा प्रकट की। इस पर प्रजापति ने पुनः 32 वर्ष तक ब्रह्मचर्य रखने की आज्ञा दी और फिर कहा कि जो सोते समय दर्शनवृति से रहित आनन्दित होकर स्वप्न का भी अनुभव नहीं करता, वही ब्रह्म है। अर्थात् जो शरीर के सभी प्रकार के राग-द्वेष से रहित है। इन्द्र ने सोचा कि उस समय जीव को तो ज्ञान ही नहीं होता कि वह कौन है, कहां है? अतः सत्य ज्ञान तो तभी प्राप्त होगा, जब स्वयं शरीर जागृत या ध्यान अवस्था में उससे संबंध स्थापित कर ले। अतः अभी भी ज्ञान में कुछ कमी है। अब वह पुनः प्रजापति के पास गए और आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानने की इच्छा प्रकट की। इस बार प्रजापति ने इन्द्र को केवल पांच वर्ष तक ब्रह्मचर्य धारण करने को कहा (कुल मिलाकर 100 वर्ष पूरे हो गए) और फिर कहा कि इन्द्र यह शरीर तो मरणशील व मृत्यु को प्राप्त होने वाला है, परंतु जो वास्तविक ब्रह्म स्वरूप आत्मा है, वह इससे भिन्न है, जो इस शरीर को कर्मबंधन के लिए धारण करता है और जिस प्रकार यह आत्मा आकाश से सूर्य की ज्योति को प्राप्त कर शरीर में प्रकट होती है, वैसे ही यह आत्मा शरीर के सुख-दुःख से निर्लिप्त कर्मबंधन समाप्त होने पर पुनः उस आदित्य में विलीन हो जाती है।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

केन उपनिषद्

सामवेद के तलवलकर ब्राह्मण से संबंधित यह उपनिषद् अपने प्रथम श्लोक में ही केन (अर्थात् किसके द्वारा) होने के कारण केनोपनिषद् या तलवलकर उपनिषद् के

नाम से प्रसिद्ध है। 35 श्लोकों का यह छोटा-सा उपनिषद् **चार** खंडों में विभाजित है, जिसमें परब्रह्म का गुरु-शिष्य संवाद के माध्यम से विवेचन किया गया है।

प्रथम खंड

इस खंड का प्रारंभ शिष्य के चार प्रश्नों से होता है।

प्रथम प्रश्न : किसकी इच्छा से मन में विचारों का उदय होता है?

द्वितीय प्रश्न : किसके द्वारा प्राण अन्य सबसे श्रेष्ठ चलता है?

तृतीय प्रश्न : किसके द्वारा क्रियाशील की गई वाणी को लोग बोलते हैं?

चतुर्थ प्रश्न : किस देवता के द्वारा नेत्र व कर्ण आदि इन्द्रियां अपने-अपने विषयों का अनुभव करती हैं?

अब इन्हीं प्रश्नों का उत्तर गुरु अपने शिष्यों को दे रहे हैं।

प्रथम उत्तर : बुद्धि और मन के जो विषय हैं, अर्थात् मन जिन विषयों पर मनन कर सकता है और बुद्धि जितना जान सकने में समर्थ है, वह परम ब्रह्म का स्वरूप नहीं है, क्योंकि जिस परब्रह्म की इच्छा से मन में विचारों का उदय होता है, वह तो इस मन बुद्धि की सीमा से परे है। उसके विषय में केवल इतना कहा जा सकता है कि मनन व निश्चय के लिए मन में जो सामर्थ्य है, वह ब्रह्म है।

द्वितीय उत्तर : अन्य इंद्रियों से श्रेष्ठ प्राण से अनुप्राणित जिस तत्व की उपासना की जाती है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है। क्योंकि जिसके अंश मात्र से यह प्राण सब चेष्टाओं में समर्थ होता है, वह सर्व शक्तिमान पूर्ण रूप में परमेश्वर ब्रह्म है।

तृतीय उत्तर : उपरोक्त दोनों प्रश्नों के उत्तर के अनुरूप ही इस प्रश्न के उत्तर का सार है कि वाणी का जितना व्यक्त स्वरूप है, वह ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप नहीं है, क्योंकि जिसके अंश मात्र से वाणी में अभिव्यक्ति की शक्ति आती है, वह तो स्वयं में परम ब्रह्म है।

चतुर्थ उत्तर : ब्रह्म के अंश से ही नेत्र व कर्ण इंद्रिय अपने-अपने विषयों का अनुभव करने में समर्थ हैं।

द्वितीय-खंड

इस खंड में गुरु अपने शिष्य को सावधान व सचेत करते हुए कहते हैं कि यदि तुम यह समझते हो कि तुम ईश्वर को भलीभांति जान गए हो, तो यह तुम्हारी भूल है, क्योंकि असीम की सीमा को ससीम कैसे पा सकता है? शिष्य गुरु को उत्तर देते हुए कहता है कि उस ब्रह्म को मैं भलीभांति जानता हूं। मैं यह भी नहीं मानता और न ही मैं यह मानता हूं कि मैं उसे नहीं जानता हूं, क्योंकि मेरा जानना ऐसा नहीं है जैसे कोई ज्ञाता किसी ज्ञेय वस्तु को जाने, क्योंकि परमात्मा सबसे विलक्षण और अलौकिक है। अंत में श्रुति इसका निष्कर्ष इस प्रकार देती है कि परमात्मा

का ज्ञान कराने वाला जो यह ज्ञान रूपी प्रकाशमय साधन है, वह भी मनुष्य को उस परमात्मा की ही कृपादृष्टि से प्राप्त होता है। मानव जन्म अत्यंत दुर्लभ है क्योंकि मानव जन्म के अतिरिक्त जितनी योनियां हैं, वे कर्म फलों के भोग के लिए हैं, उनमें कर्म किया जाना संभव नहीं है। अतः शीघ्र-से-शीघ्र इस दुर्लभ मानव देह के द्वारा परमात्मा को जानो।

तृतीय खंड

तृतीय व चतुर्थ खंड बहुत ही रोचक, महत्त्वपूर्ण व गहन दार्शनिक ज्ञान से ओतप्रोत हैं। इनमें भी महाभारत में पायी जानेवाली विख्यात युधिष्ठिर यक्ष संवाद की भांति यक्ष व देवताओं का संवाद है।

अ‌सुरों पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् देवताओं को स्वयं पर अभिमान हो गया और वह स्वयं को निमित्तमात्र न मानकर स्वयं की ही शक्तिशाली व बल-पौरुष से पूर्ण समझने लगे। उनकी इस भावना को समझकर परब्रह्म उनके सम्मुख दिव्य यक्ष के रूप में प्रकट हुए। यक्ष के दिव्य, अद्भुत व विशाल रूप को देखकर देवता आश्चर्यचकित हो गए और अग्नि देवता को कहा कि आप जातवेदा हैं। अतः आप इनका पूर्ण परिचय प्राप्त करें।

(अग्नि को क्योंकि समस्त जात पदार्थों का ज्ञान है और वह सर्वज्ञ है, इसलिए उन्हें जातवेदा की संज्ञा दी गयी है)।

1. अग्नि जब यक्ष के निकट गए तो यक्ष ने पूछ लिया : तुम कौन हो?
2. अग्नि : मैं प्रसिद्ध अग्नि हूं, मेरा ही नाम जातवेदा है।
3. यक्ष : आपमें क्या शक्ति है, आप क्या कर सकते हैं?
4. अग्नि : इस सकल ब्रह्मांड में जो कुछ भी है, मैं उसे जलाकर भस्म कर सकता हूं।

यक्ष ने अग्नि के सम्मुख केवल एक सूखा तिनका रख दिया और कहा कि आप इसे जलाकर दिखाएं। अग्नि ने अपनी पूर्ण शक्ति व तेज उस तिनके को जलाने में लगा दिया, परंतु वह उसे जला नहीं सके और लज्जित होकर लौट गए।

इसके पश्चात् देवताओं ने वायुदेव को भेजा। उन्हें भी यक्ष ने वही एक तिनका अपने वेग से उड़ाने को कहा, परंतु वह भी अपने सम्पूर्ण वेग से उड़ाना तो दूर, उसे हिला भी नहीं सके और अग्निदेव की भांति हतप्रभ व लज्जित होकर लौट आए। जब इन देवताओं से यक्ष के रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ, तो स्वयं देवराज इन्द्र उस यक्ष के सम्मुख पहुंचे परंतु उनके वहां पहुंचते ही वह यक्ष अन्तर्ध्यान हो गया और कुछ क्षणों के पश्चात् वहां हिमालयतनया शैलपुत्री उमा देवी साक्षात् प्रकट हो गईं। इन्द्र ने ब्रह्मविद्यास्वरूप आदिशक्ति उमा को प्रणाम किया व पूछा कि वह यक्ष कौन था?

चतुर्थ खंड

इस अंतिम खंड के इंद्र व आदिशक्ति उमा के मध्य ब्रह्मविषयक संवाद हैं तथा इसी उद्धरण द्वारा अध्यात्म का उपदेश है। इन्द्र के पूछने पर उमा देवी ने कहा : वह यक्ष परमब्रह्म ही थे, जिनकी शक्ति से तुमने असुरों पर विजय प्राप्त की है। अग्नि, वायु व इंद्र इन तीनों देवों ने ही अन्य देवों की अपेक्षा सर्वप्रथम ब्रह्म का साक्षात्कार किया, अतः इसी कारण इन्हें अन्य देवताओं में श्रेष्ठ माना जाने लगा।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

वज्रसूचिका उपनिषद्

इस संक्षिप्त उपनिषद् में 'ब्राह्मण' की परिभाषा दी गयी है। ब्राह्मणत्व का निर्धारक तत्व प्राणी, जाति, देह, ज्ञान व कर्म में से कौन सा है? इसी की इसमें दार्शनिक व तार्किक व्याख्या की गई है। निष्कर्ष रूप में परम ब्रह्म तत्व के ज्ञाता, त्यागी व अहंकाररहित व काम, क्रोध, लोभ, राग व द्वेष से हीन अद्वैत भावनावाले को ही ब्राह्मण माना गया है।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

वासुदेवोपनिषद्

इस उपनिषद् में भगवान वासुदेव ने देवर्षि नारद को गोपीचन्दन का महत्त्व, उसके धारण की विधि व फल का वर्णन किया है। चक्रतीर्थ में जहां भी गोमती चक्रशिला हो, उस शिला पर लगा हुआ पीला चंदन ही गोपीचंदन है। इसे ही ऋग्वेद के मंत्रों (1/22/16) व विष्णुगायत्री से तीन बार अभिमंत्रित करके गृहस्थों के लिए अनामिका अंगुली द्वारा व संन्यासियों के लिए तर्जनी अंगुली द्वारा क्रमशः 12 स्थानों व तीन स्थानों पर लगाने का प्रावधान है।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

जाबाल्युपनिषद्

इस उपनिषद् में भगवान जाबालि व पिप्पलाद के पुत्र पैप्पलादि मुनि के मध्य हुए संवाद के द्वारा महादेव, षडानन व कार्तिकेय की परम्परा से प्राप्त पशुपति मत के

अनुसार तत्व की व्याख्या की गई है। इसके पश्चात् भस्म धारण की विधि तथा उसके माहात्म्य के वर्णन के साथ त्रिपुण्ड अर्थात् शैव मतानुयायियों द्वारा मस्तक पर चक्षु और भ्रुवों के मध्य धारण की जाने वाली तीन रेखाओं को ॐ के अकार, उकार व यकार तथा गार्हपत्य दक्षिणाग्नि व आह्वनीय अग्नि तथा सत्व, रज व तमोगुण का प्रतीक माना गया है।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

महोपनिषद्

छः अध्यायों के इस विस्तृत उपनिषद् में प्रथम अध्याय में नारायण से सृष्टि के सृजन व उत्पत्ति की गाथा का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में शुकदेव व राजा जनक के मध्य हुए संवाद के द्वारा आत्मा, जीवनमुक्ति व विदेहमुक्ति के विविध स्वरूपों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में निदाघ नामक ऋषिपुत्र के द्वारा साढ़े तीन करोड़ तीर्थों में स्नान के पश्चात् मन में उदित होने वाले वैराग्यपूर्ण भावों का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में प्रत्युत्तरस्वरूप निदाघ के पिता ऋभु द्वारा अपने पुत्र को मोक्ष के चार द्वारों का व ब्रह्मज्ञान का वर्णन है। पांचवें अध्याय में पिता-पुत्र को अज्ञान व ज्ञान की सात भूमिकाओं के बारे में विस्तार से बताते हैं तथा अंतिम अध्याय में पुरुष के चार प्रकार के निश्चयों के वर्णन के साथ उपनिषद् समाप्त हो जाता है।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

सावित्र्युपनिषद्

इस उपनिषद् में सविता एवं सावित्री की सर्वव्यापकता, सावित्री के चार पाद 'भूः तत्सवितुवरिण्यम्', भुवः भर्गो देवस्य धीमहि आदि तथा उसे जानने का फल बला-अतिबाला विद्याओं के उपासना का फल बताया गया है।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

आरुणिकोपनिषद्

इस उपनिषद् में ब्रह्माजी अरुण के पुत्र आरुणि को संन्यास ग्रहण की विधि व संन्यासी के नियमों के बारे में विस्तार से उपदेश देते हैं।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

जाबालदर्शनोपनिषद्

दश खंडों के इस उपनिषद् में योगविद्या का इतना सूक्ष्म व विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है कि केवल इस उपनिषद् के अध्ययन से योग के समस्त रहस्यों को जाना जा सकता है। प्रथम खण्ड में अष्टांग योग के 8 अंग व 10 यमों का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में दस नियमों व तृतीय खंड में नौ प्रकार के यौगिक आसनों **स्वस्तिकासन, गोमुखासन, पदमासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन** और **सुखासन** की विधि का वर्णन है। चतुर्थ खंड में चौदह प्रधान नाड़ियों का परिचय, आत्मतीर्थ व आत्मज्ञान का वर्णन है।

पंचम् खंड में नाड़ी शोधन की विधियां, उपयुक्त स्थान व आत्मशोधन के बारे में उपदेश है। छठे खंड में प्राणायाम के प्रत्येक पक्ष को विस्तारपूर्वक विवेचन है। सप्तम् में प्रत्याहार व अष्टम् खंड में पंचधारणाओं के दो प्रकार के वर्णन हैं। नवम् खंड में दो प्रकार के ध्यान व उसके फल का विवेचन है। अंतिम दशम् अध्याय समाधि की विभिन्न दशाओं का वर्णन करते हैं।

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गनि

गरुड़ोपनिषद्

इस उपनिषद् में गरुड़ विद्या का वर्णन है जिसकी परम्परा क्रमशः ब्रह्मा नारद, वृहत्सेन, इंद्र, भारद्वाज, व जीवत्काम के द्वारा प्राप्त होती है। इस विद्या का मंत्र ॐ **नमः श्री गरुड़ाय पक्षींद्राय श्री विष्णुवल्लभाय त्रैलोक्यप्रपूजिताय उग्रभयंकरकालानलरूपाय** है। इसके पश्चात् गरुड़ के बयान का वर्णन है। जो भी व्यक्ति इस महाविद्या का अमावस्या को स्मरण करता है, उसे जीवन में कभी सर्प नहीं डसता।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

यजुर्वेद (शुक्ल) के उपनिषद्

वृहदारण्यक उपनिषद्
जाबालोपनिषद्
हंस उपनिषद्
सुबाल उपनिषद्
त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
अद्वयतारक उपनिषद्
भिक्षुक उपनिषद्
शाट्यायनीयोपनिषद्
ईशावास्योपनिषद्
याज्ञवल्क्योपनिषद्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

वृहदारण्यक उपनिषद्

वृहदारण्यक शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है–एक 'वृहत्' अर्थात् बड़ा, विशाल या विस्तृत और दूसरा 'अरण्य' अर्थात् वन या जंगल। आकार में बहुत विस्तृत होने तथा वन में ही अध्ययन योग्य होने के कारण यह उपनिषद् वृहदारण्यक कहलाया।

यह उपनिषदों की श्रृंखला में प्रमुख माने जाने वाला उपनिषद् शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण का अंतिम भाग वृहद आरण्यक है, जो ब्रह्मविद्या की विशिष्टता के कारण वृहदारण्यक उपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

यह विशिष्ट उपनिषद् 'तीन कांडों' में विभाजित है। ये तीनों कांड क्रमशः **मधुकांड, याज्ञवल्क्य कांड** या **मुनि कांड** तथा **खिल कांड** के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये कांड अध्यायों में तथा अध्याय ब्राह्मणों में विभाजित हैं (यह वृहदारण्यक उपनिषद् का विशिष्ट विभाजन क्रम है, जो और किसी उपनिषद् में देखने को नहीं मिलता, यहां ब्राह्मण शब्द का तात्पर्य न तो ब्राह्मण जाति से है, न ही वैदिक संहिताओं से संबंधित व्याख्यात्मक भाग ब्राह्मणों से है)।

मधुकांड में प्रथम **दो अध्याय, 12 ब्राह्मण (प्रत्येक अध्याय में 6 ब्राह्मण)** व 146 श्लोक हैं। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य या मुनि कांड में **तृतीय व चतुर्थ अध्याय 15 ब्राह्मण** (9 + 6) व 92 श्लोक हैं। खिल कांड में **पंचम व षष्ठ अध्याय, 20** ब्राह्मण (15 + 5) व 105 श्लोक हैं। इस प्रकार इस उपनिषद् में कुल 435 श्लोक हैं, जिनमें वैदिक भारतीय जीवन व दर्शन का सार प्रस्तुत किया गया है।

मधु कांड : प्रथम कांड

प्रथम अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

विश्व की यज्ञ के अश्व के रूप में कल्पना

इस ब्राह्मण में वस्तुतः वैदिक काल के प्रसिद्ध अश्वमेध यज्ञ का ''यदपिण्डे तत्ब्रह्मांडे'' की भावना के अनुरूप सांकेतिक व विशिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

ॐ। उषा या ब्रह्ममुहूर्त यज्ञरूपी अश्व का सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, खुला हुआ मुख वैश्वानर अग्नि है और उसके शरीर का मध्य भाग संवत्सर या समय का प्रतीक है। उसकी पीठ द्युलोक या स्वर्ग है, वायुमण्डल या अन्तरिक्ष उसका उदर है, उसके खुर या पैर रखने का स्थान पृथ्वी है, चार प्रमुख दिशाएं पार्श्वभाग हैं, अन्य दिशाएं पसलियां हैं, ऋतुएं अंग हैं, मास व पक्ष (एक मास में दो पक्ष क्रमशः शुक्ल व कृष्ण होते हैं), उसके शरीर के संधिस्थान हैं। दिन व रात्रि मानों उसके पैर हैं। नक्षत्र अस्थियां हैं, मेघ उसके शरीर का मांस है, आमाशय में स्थित अधपचा भोजन ही पृथ्वी की सम्पूर्ण बालू है, शरीर की विभिन्न नाड़ियां ही नदियां हैं। यकृत ही पर्वत का प्रतिनिधि है। शरीर के रोम ही औषधियां व वनस्पतियां हैं। उदय होता सूर्य नाभि से ऊपर का भाग व अस्ताचल की ओर जाता सूर्य शरीर का कटि से पीछे का भाग है। अश्व की जमुहाई ही बिजली का चमकना है और शरीर का हिलाना मानों मेघों की गर्जना है। उसके द्वारा त्यागा गया मूत्र ही वर्षा है तथा हिनहिनाना ही वाणी है। उस अश्व के सम्मुख रखा हुआ पात्र महिमा ही दिन के रूप में प्रकट होता है और दिन की उत्पत्ति पूर्वी समुद्र से होती है। रात्रि इस अश्व के पीछे रखे हुए दूसरे महिमा नामक पात्र से प्रकट होती है, परंतु उसकी उत्पत्ति पश्चिमी समुद्र से होती है। ये दोनों पात्र ही अश्व के आगे-पीछे यज्ञीय पात्रों के रूप में प्रकट होते हैं। हय के रूप में देवताओं को, वाणी के रूप में गंधर्वो को, अर्वा के रूप में असुरों को और अश्व के रूप में मनुष्यों का वहन करता है। समुद्र ही इसका बन्धु है और समुद्र ही इसका उद्‌गम स्थान है।

व्याख्या : इस ब्राह्मण की भाषा वस्तुतः बड़ी ही सांकेतिक व रहस्यात्मक प्रतीत होती है। इस ब्राह्मण में यज्ञ की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन है। वैदिक काल में कोई भी राजा चक्रवर्ती पद की प्रतिष्ठा पाने के लिए अश्वमेध यज्ञ करता था, जिसमें अश्व को खुला छोड़ दिया जाता था और वह जहां चाहे वहां जा सकता था। उसके पीछे-पीछे सैनिक चलते थे। घोड़े को रोकना राजा की सत्ता को चुनौती

देना माना जाता था और उससे युद्ध होता था। अन्त में प्रदक्षिणा के पश्चात् उस घोड़े की यज्ञ में बलि दे दी जाती थी। (यह वृतांत विशेष रूप से चर्चित है, कि लव कुश ने भगवान राम के अश्व को रोका था। इसी प्रकार शुंग नरेश अग्निमित्र ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था। गुप्त राजाओं के अश्वमेध यज्ञों का अभिलेखीय साक्ष्य मिलता है। अतः यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण यज्ञ था।) इस अश्वमेध यज्ञ के कर्मकांड का विस्तार से वर्णन यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण से संबंधित है, इसी कारण यहां अश्व व अश्वमेध का वर्णन मिलता है।

अतः समुद्र को उसका बन्धु व उत्पत्ति स्थान माना गया है। अश्वमेध यज्ञ में घोड़े के आगे व पीछे क्रमशः सोने व चांदी के पात्र रखे जाते हैं। सोने का बरतन ही दिन का प्रतिनिधि बन जाता है, क्योंकि उदित होते दिन व स्वर्ण का रंग लगभग समान होता है, दूसरे अर्थ में इस संसार रूपी दिन का आविर्भाव जिस हिरण्यगर्भ से होता है (हिरण्य—सोना) वह स्वर्ण का ही होता है। अतः स्वर्ण से उसकी समानार्थकता है। इस पात्र की उत्पत्ति पूर्वी समुद्र से मानी गई है, जो वस्तुतः बंगाल की खाड़ी है, जिसे वैदिक साहित्य में रत्नाकर नाम से जाना जाता है (वैदिक साहित्य में हिंद महासागर को महोदधि, अरब सागर को वरुणालय व बंगाल की खाड़ी को रत्नाकर के नाम से पुकारा जाता था)।

दिन का उदय या सूर्य का आविर्भाव पूर्वी दिशा से होता है, अतः प्रतीकात्मक रूप से अश्व के पूर्व में स्वर्ण पात्र की उत्पत्ति पूर्वी समुद्र से मानी गई है। इसी भावना के अनुरूप सूर्यदेव को समर्पित प्रसिद्ध कोणार्क मंदिर पूर्व में बंगाल की खाड़ी के निकट स्थित है (आधुनिक समय में क्या संयोग है कि नए मिलेनियम 2000 की प्रथम सूर्य किरण ने बंगाल की खाड़ी में स्थित कच्छल द्वीप को ही स्पर्श किया)।

इसी प्रकार अश्व के पीछे स्थित चांदी का या रजत का पात्र रात्रि का प्रतीक है। क्योंकि चांदी चंद्रमा की प्रतिनिधि धातु है और चंद्रमा ही रात्रि का प्रतीक है। दूसरे अर्थ में रात्रि पितृलोक की प्रतीक है और पितृकर्म या श्राद्ध में इसी कारण चांदी के ही प्रयोग का विधान है। इसी प्रकार रात्रि का स्वामी चंद्रमा पश्चिम में सूर्य के अस्त होने के पश्चात् ही उदित होता है। अतः दूसरे महिमा पात्र की उत्पत्ति पश्चिम दिशा के समुद्र से मानी गई है। ऐसे गूढ़, विस्तृत व रहस्यात्मक पद्धति इस संपूर्ण वाक्य में परिलक्षित होती है।

द्वितीय ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में प्रलय के पश्चात् सृष्टि के नवसृजन की प्रक्रिया को रेखांकित किया गया है।

सृष्टि के प्रारंभ से पूर्व गहन अंधकार था। चारों ओर जल-ही-जल था। ऐसे में उस परब्रह्म ने संकल्प किया कि मैं एक से अनेक हो जाऊं। (संकल्प का अर्थ

महा अग्नि तत्व से है) इस संकल्प से "आप" (जल) का सृजन हुआ। क्योंकि अर्चन करने से यह जल प्राप्त हुआ। इसलिए इसे अर्क का अर्कत्व कहते हैं (अर्क अग्नि को कहते हैं)। जल धीरे-धीरे अग्नि के ताप से स्थूल रूप में एकत्रित होकर पृथ्वी तत्व का सृजक बना। इसके पश्चात् वह मृत्यु थक गया, क्योंकि जीवन के लक्षण प्रकट होने लगे। थकान से शरीर में ताप की वृद्धि हुई और वह ताप प्रजापति के शरीर से अग्नि पुंज के रूप में प्रकट हुआ, जो प्राण कहलाया। यह तापमय अग्निस्वरूप प्राण तीन भागों में विभक्त हो गया। एक भाग प्राण रूप में ही स्थापित रहा, दूसरा भाग आदित्य में और तीसरा भाग वायु में विभक्त हो गया।

इसके पश्चात् उस परब्रह्म के मन में इच्छा जाग्रत हुई कि अन्य शरीर उत्पन्न करने के लिए मिथुनात्मक सृष्टि का निर्माण हो। मिथुन भावना से रेतस का निर्माण हुआ (यहां रेतस का तात्पर्य संवत्सर या काल से है)। इसके पश्चात् याण शब्द रूपी नाद का जन्म हुआ। इन सबके पालन के लिए उसे अन्न की आवश्यकता हुई। अतः मन और वाणी द्वारा उसने मनक, यजु, साम, छन्द, यज्ञ और पशु आदि की रचना की। इसके पश्चात् गूढ रहस्यात्मक रूपक के माध्यम से अश्वमेध का वर्णन है।)

तृतीय ब्राह्मण

प्राणों की महत्ता तथा पाप व पुण्य का देवता व असुरों से सहसंबंध

प्रजापति के दो पुत्र थे—देवता व असुर। देवता संख्या में कम थे व असुरों का बहुमत था। उनमें परस्पर द्वेष व ईर्ष्या हो गई (इस ब्राह्मण के अर्थ को भलीभांति समझने के लिए इसमें प्रयुक्त रूपकों को समझना होगा)। यहां प्रजापति का अर्थ मानव शरीर से है, क्योंकि इसी शरीर में देवता व असुर दोनों निवास करते हैं। जो भी शुभ, सत्य, मंगलमय, उचित व पुण्यमय है, वही देवत्व है और जो अशुभ, असत्य, अमंगलमय निषिद्ध, अनुचित व पापमय है, वह असुरत्व है। जैसे वाणी जब वेदमंत्रों का उच्चारण करती है, तो देवमय हो जाती है और यही वाणी जब असत्य, अपशब्दों का उच्चारण करती है, तो यह असुरत्व से पूर्ण हो जाती है। इसी संदर्भ में इस ब्राह्मण को समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

इस प्रकार वे दोनों प्रजापति के द्वारा निर्मित रचनाओं में अपना अधिकार स्थापित करने लगे। देवताओं ने वाक् से कहा कि तुम हमारे लिए उद्गान करो। प्रारंभ में वाणी केवल शुभ व सत्य का ही उच्चारण करती थी और देवमय थी। कालान्तर में जब असुरों को इसका भान हुआ, तो उन्होंने वाणी पर अपना अधिकार स्थापित करने की चेष्टा की और उसे पाप व असत्य के विद्ध कर दिया। इसी कारण प्राकृतिक रूप से वाणी अशुभ नहीं उच्चारित करती, परंतु पाप, क्रोधावेश व असुरत्व में वह असुर रूप में अनुचित वचन बोलती है। इसी प्रकार गंध पर

प्रारंभ में देवताओं का अधिकार था और वह शुभ, मधुर व सुगन्ध को ही ग्रहण करती थी, परंतु असुरों द्वारा अतिक्रमण करने पर वह अशुभ व दुर्गन्ध को भी ग्रहण करने लगी। इसी प्रकार नेत्र पहले केवल उचित व शुभ वस्तुओं के ही दर्शन करते थे, परंतु असुरों ने उन्हें अनुचित व अशुभ दर्शन को भी बाध्य कर दिया। इसी प्रकार असुरों ने श्रोत्र (कान), मन आदि सभी इन्द्रियों को पुण्यमय के साथ पापमय रूप भी दे दिया।

सभी इन्द्रियों का अतिक्रमण करके जब असुर मुख स्थित प्राण को भी पापत्व के विद्ध करने का प्रयास करने लगे, तो यहां वह सफल नहीं हुए और प्राण में देवताओं का ही या देवत्व का ही पूर्ण प्रभाव रहा। भारतीय दर्शन में सर्वत्र ''यत्पिण्डे तत्ब्रह्मांडे'' की भावना दृष्टिगोचर होती है। इसी के अनुरूप यह ब्राह्मण अब प्राण की समष्टि व व्यष्टि भाव में व्याख्या प्रस्तुत करता है। व्यष्टि भाव में जो प्राण है, वही समष्टि भाव में वायु देवता है, पूर्ण देवत्व से युक्त। इसी प्रकार व्यष्टि भाव में जो देवत्व व असुरत्व से व्याप्त चक्षु है, वही समष्टि भाव में आदित्य है (यह आदित्य रूप उस अवस्था का द्योतक है, जब पूर्ण देवत्व था)। इसी प्रकार मनुष्य देह में जो पाप व पुण्य से व्याप्त श्रोण इन्द्रिय या कान हैं, वही ब्रह्मांड में ''दिशा'' का देवता है। इसी प्रकार पिण्ड का जो मन है, वही ब्रह्मांड का चन्द्रमा है। इसके पश्चात् अन्नों का विवरण है तथा वर्णन किया गया है कि जिस प्रकार अन्न शरीर में स्थित अन्य देवताओं का पोषण करते हैं, उसी प्रकार वह प्राणों का भी पोषण करते हैं। प्राण को ''आङ्गिरस'' की संज्ञा भी दी गई है, क्योंकि प्राण को व अन्य सभी अंगों को देबो का रस रूप माना गया है और इसीलिए जिस अंग को भी प्राण छोड़ देते हैं, वह सूख जाता है। जैसे पक्षाघात या लकवे में हाथ या पैर या जिह्वा सूख जाती है। प्राणों को बृहस्पति, साम व स्वर की संज्ञा देकर प्राण की महत्ता यहां स्पष्ट की गई है। इसके पश्चात् पवमान सामो के द्वारा, ***प्रसिद्ध त्रिमंत्रों (अस्तो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मामृतं गमय)*** के माध्यम से असुरत्व (असत्य, तमस् व मृत्यु) से देवत्य (सत्य, ज्योति व अमरत्व) की ओर जाने की प्रार्थना है।

चतुर्थ ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में पुरुषाकार आत्मास्वरूप परब्रह्म के द्वारा मानव, विभिन्न पशु समूह व अन्य समस्त जीवित मिथुनात्मक सृष्टि की सृजन प्रक्रिया का वर्णन है। इसके साथ ही चातुर्वर्ण्य सृष्टि के उत्पन्न होने की गाथा का भी वर्णन है।

पंचम् ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में सात प्रकार के अन्नों की उत्पत्ति का विवरण दिया गया है तथा संपूर्ण सृष्टि का मन, वाणी और प्राण के रूप में त्रिविधात्मक विभाजन प्रस्तुत किया गया है।

पिता अर्थात् प्रजापति ने सृष्टि के प्राणियों के लिए सात प्रकार के अन्नों की रचना की। इन सात अन्नों में से एक अन्न साधारण अन्न कहलाता है, जो सभी प्राणियों का भोग्य है। दो अन्न विशेष देवताओं के लिए ग्राह्य हैं। तीन स्वयं प्रजापति के अधिकार में है और अन्तिम एक अन्न पशुओं का भक्ष्य है। अब इन्हीं अन्नों का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा गया है कि साधारण अन्न प्रत्येक जीव द्वारा प्राकृतिक रूप से खाया जाता है, यह वही अन्न है। देवताओं के दो अन्न को दुत (हुत) व प्रदुत (प्रहुत) कहा जाता है। यही अन्न देवताओं को हवन व बलि के माध्यम से प्राप्त होता है। इन्हें दर्श व पूर्णमास कहते हैं। इसीलिए पूर्णिमा व अमावस्या को पूर्णमास व दर्शयज्ञ का विधान है। जो अन्न पशुओं के लिए निर्धारित किया गया है, वह दुग्ध है, इसी कारण मनुष्य व पशु के सद्योजात/नवजात शिशुओं को प्रकृति दूध रूपी अन्न ही प्रदान करती है। दुग्ध के महत्व को यहां इस प्रकार भी रेखांकित किया गया है कि एक साल तक दुग्ध का हवन करने पर आप मृत्यु को जीत लेते हैं। दूध का तो इतना महत्त्व है कि एक दिन भी यदि दुग्ध का विधिपूर्वक हवन किया जाए, तो मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है।

अब प्रश्न आता है कि स्वयं प्रजापति के अधिकार में जो तीन अन्न हैं, वे कौन-कौन से हैं? वह तीन हैं–मन, वाणी और प्राण। प्राणों पर आधारित मन से ही मनुष्य देखता और सुनता है, क्योंकि यदि किसी वस्तु में मन न लगे, तो मनुष्य उसे देखते हुए भी उसमें रुचि नहीं लेता और सुनते हुए अनसुना रहता है। अतः मन आत्मा की आंख व कान हैं। शब्द में ही आत्मा स्वरूप का, रूप का व अर्थ का प्रभाव जानता है। अतः शब्द ही वाक् है तथा आत्मा रूपी ब्रह्म का प्रकाश है। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान यह आत्मा रूपी ब्रह्म का विभिन्न रूपों में पोषण करते हैं, अतः यह आत्मा का अन्न है। अतः आत्मा वाक्मय, मनोमय और प्राणमय है। वाक् ही पृथ्वी लोक है, मन अंतरिक्ष लोक है, प्राण ही स्वर्ग लोक है। वाक् को ऋग्वेदस्वरूप, मन को यजुर्वेदस्वरूप और प्राण को सामवेदस्वरूप माना गया है।

(वाणी द्वारा मंत्रोच्चारण संभव है, इसी कारण वाक् को ऋग्वेदस्वरूप माना गया है। मन रूपी यज्ञकुंड में ही इन्द्रियों के विषय भोगों की आहुति होती है तथा योग में प्राणों की मन में आहुति होती है। अतः मन को यजुर्वेदस्वरूप माना गया है तथा प्राणशक्ति द्वारा ही गायन संभव हैं। अतः उसे सामवेद स्वरूप माना गया है।) वाक् को देवता, मन को पितृगण और प्राणों को मनुष्य की संज्ञा दी गई है।

(देवता मंत्र के अधीन होता है, मंत्र वाक् द्वारा ही संभव है। चाहे वह परा हो, पश्यन्ती हो, मध्यमा हो या वैखरी। अतः वाक् को इस संदर्भ में देवता माना गया है। पितृगण अर्थात् पिता या पितामह के अंश से ही मन का निर्माण होता है और मन पितृगण के प्रतिनिधि चन्द्रमा का भी समानधर्मी है। अतः मन को

पितृगण की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार जन्म के श्वास से अंतिम श्वास तक शरीर में प्राण ही प्रधान है, अतः प्राणों को मनुष्यों की संज्ञा दी गयी है)।

इसी प्रकार मन को पिता, वाक् को माता और प्राण को संतान की संज्ञा दी गई है। इसी प्रकार वाक् को विज्ञात, मन को विजिज्ञास्य और प्राण को अविज्ञात माना गया है।

एक अन्य संदर्भ में वाक् को पृथ्वी तत्व की प्रतिनिधि व अग्नि स्वरूप माना गया है। इसी प्रकार मन को द्युलोक का प्रतिनिधि व आदित्य स्वरूप माना गया है। आदित्य और अग्नि का मिथुन या परस्पर संयोग प्राण को उत्पन्न करता है।

इसके पश्चात् मनुष्यलोक, पितृलोक व देवलोक को क्रमशः पुत्र, कर्म व विद्या द्वारा जीतने का संदेश व व्रत के विचार से यह ब्राह्मण समाप्त हो जाता है।

षष्ठ ब्राह्मण

बहुत ही संक्षिप्त व सार रूप इस ब्राह्मण में नाम-रूप व कर्म की चर्चा की गई है।

द्वितीय अध्याय

(मधुकांड)

छह ब्राह्मणों के इस अध्याय में प्रथम अध्याय है, बालाकि व काशीनरेश अजातशत्रु के मध्य संवाद के माध्यम से आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट रूप से समझाया गया है। द्वितीय व तृतीय अध्याय में भी ब्रह्म के स्वरूप का ही वर्णन है। चतुर्थ ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य व मैत्रेयी के संवाद द्वारा पुनः परमात्मा के तत्व को ही स्पष्ट किया गया है। पांचवे व छठे ब्राह्मण में प्रसिद्ध मधुविद्या का उपदेश दिया गया है और उसकी परम्परा का वर्णन किया गया है।

प्रथम ब्राह्मण

एक बार गार्ग्य गोत्र में उत्पन्न बालाकि, राजा अजातशत्रु से जाकर बोला कि हे राजन्! मैं आपको ब्रह्म का उपदेश करूंगा। इस पर अजातशत्रु ने उन्हें सहस्त्र गाएं देने का वचन दिया। यह सुनकर गार्ग्य ने सर्वप्रथम कहा कि यह जो सूर्य में पुरुष स्थित है, उसी की मैं ब्रह्म रूप में उपासना करता हूं।

इस पर अजातशत्रु ने कहा : नहीं मुनिवर, मैं इसे समस्त भूतों अर्थात् पदार्थों का स्वामी और पालक मानता हूं। (क्योंकि यह सबका अतिक्रमण करके स्थित है) और इसी रूप में जो भी इसकी उपासना करता है, वह समस्त भूतों पर स्वामित्व प्राप्त कर लेता है।

बालाकि ने पुनः कहा–राजन्! अच्छा मैं चन्द्रमा में जो पुरुष है उसकी ब्रह्मरूप में उपासना करता हूं।

अजातशत्रु ने कहा : नहीं मुनिवर, मैं तो इसकी शुक्लवस्त्रधारी सोम के रूप में उपासना करता हूं।

(वस्तुतः इस चर्चा का प्रारम्भ सूर्य व चन्द्र के माध्यम से करने के पीछे गूढ़ व रहस्मय अर्थ दृश्यमान सूर्य व चन्द्र के माध्यम से करने के पीछे न होकर मणिपुर व स्वाधिष्ठान चक्रों तथा इड़ा व पिंगला से है। सूर्य की स्थिति मणिपुर केन्द्र में मानी गई है और वह मानव शरीर में नाभि क्षेत्र में स्थित है और नाभि ही मनुष्य का सृजन बिंदु भी है और जीव व ब्रह्म के संबंध की अंतिम कड़ी भी है। अतः रहस्यमय अर्थ में इसी भाव में सूर्य की सर्वप्रथम चर्चा की गई है। नाभि में प्रस्फुटित कमल ही सबको परिव्याप्त कर सृजनकर्ता का कार्यक्षेत्र बनता है, क्योंकि इसी की कर्णिका पर ब्रह्मा जी स्थित होकर पंचभूतमय संसार का निर्माण करते हैं। अतः यह भूतों का मस्तक है। इसी प्रकार चन्द्रमा स्वाधिष्ठान चक्र का भी संकेत देता है, क्योंकि उसका वर्ण भी श्वेत होता है तथा वह नाभि से नीचे स्थित चन्द्र के स्वरूप को व्यक्त करती है।)

इस पर बालाकि ने पुनः कहा : यह जो विद्युत में पुरुष है, मैं उसकी ब्रह्म रूप में उपासना करता हूं।

अजातशत्रु ने कहा : नहीं मुनिवर, इसकी तो मैं तेजरूप में आराधना करता हूं और जो भी इसकी इस रूप में आराधना करता है, वह स्वयं भी तेजस्वी होता है और उसकी संतान भी तेजस्विनी होती है।

बालाकि ने पुनः कहा : अच्छा राजन्! यह जो आकाश में पुरुष (अर्थात् आकाश तत्व) है, मैं तो उसकी ही ब्रह्मरूप में उपासना करता हूं।

अजातशत्रु ने भी पुनः स्पष्ट करते हुए कहा : नहीं मुनिवर, मैं तो एक सर्वव्यापक तत्व जो सम्पूर्ण है तथा गतिहीन है, उस रूप में इसकी उपासना करता हूं तथा ऐसी ही भावना रखने वाले को संतान व पशुधन का पूर्ण सुख मिलता है तथा उसकी संतति का विनाश नहीं होता।

बालाकि ने पुनः कहा : राजन्! मैं वायु रूप में स्थित पुरुष की ब्रह्म रूप में उपासना करता हूं।

अजातशत्रु ने कहा : नहीं मुनिवर! इसकी तो मैं इन्द्र, वैकुण्ठ और अपराजिता सेना के रूप में उपासना करता हूं।

बालाकि : अच्छा राजन्! मैं अग्नि में स्थित पुरुष की ब्रह्मरूप में उपासना करता हूं।

अजातशत्रु : नहीं मुनिवर! इसकी तो मैं विषासहि रूप में उपासना करता हूं। अग्नि में जो कुछ भी डाला जाता है, उसे वह भस्म कर देता है और उसके

सार तत्व को ग्रहण कर लेता है। चाहे वह विष भी क्यों ना हो। अतः अग्नि को विषासहि भी कहा जाता है।

बालाकि : अच्छा राजन्! मैं जल में जो पुरुष स्थित है, उसकी ब्रह्मरूप में उपासना करता हूं।

अजातशत्रु : पुनः नकारते हुए कहा कि मुनिवर! इसकी तो मैं प्रतिरूप अर्थात् रूप को वैसा ही दिखाने वाले के रूप में उपासना करता हूं तथा जो भी इसकी इस रूप में उपासना करता है, उसे अपना प्रतिरूप अर्थात् पुत्र प्राप्त होता है।

बालाकि : अच्छा राजन्! यह जो दर्पण में पुरुष दिखाई देता है, उसकी मैं ब्रह्मरूप में उपासना करता हूं।

अजातशत्रु : नहीं मुनिवर! इसकी तो मैं रोचिष्णु अर्थात् प्रकाशमान या दीप्तिमान के रूप में उपासना करता हूं।

बालाकि : राजन्! अच्छा यह जो शब्द उत्पन्न होता है, मैं उसी की ब्रह्म के रूप में उपासना करता हूं।

अजातशत्रु : नहीं मुनिवर! ऐसा नहीं है, इनकी तो मैं प्राण रूप में उपासना करता हूं।

वालाकि : अच्छा राजन्! यह जो दिशाओं के रूप में पुरुष स्थित है, इसी की मैं ब्रह्मरूप में उपासना करता हूं।

राजन : नहीं मुनिवर! इसकी तो मैं द्वितीय (साथी वाला या मित्रवान्) के रूप में तथा वियुक्तरूप में उपासना करता हूं।

इसी प्रकार छायामय पुरुष, आत्मामय पुरुष आदि के वास्तविक स्वरूप को भी लेकर तर्क-वितर्क हुआ, परंतु बालाकि अपने ज्ञान के द्वारा राजा अजातशत्रु को प्रभावित व संतुष्ट नहीं कर पाए और उन्होंने अपनी पराजय स्वीकार करते हुए राजा का शिष्यत्व ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की। इस पर अजातशत्रु ने कहा कि हे ऋषिवर! ब्राह्मण, क्षत्रिय के प्रति ब्रह्म ज्ञान की इच्छा से शिष्यत्व ग्रहण करे, यह तो विपरीत है। अतः मैं आपको शिष्य रूप में नहीं अपितु मित्र के रूप में ज्ञान प्रदान करूंगा। ऐसा कहकर अजातशत्रु ने चरण स्पर्श कराने के स्थान पर मित्रवत् उसका हाथ पकड़ लिया और प्रयोगात्मक ज्ञान देने की भावना से एक सोए हुए व्यक्ति के पास जा पहुंचे।

उस सोए व्यक्ति को अजातशत्रु ने पुकारा कि हे ब्रह्म! हे सोम! हे दिशा पुरुष! हे आकाश पुरुष! दिशा! जागिए! परंतु वह सोया ही रहा। उस पर इन संबोधनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अब राजा ने उसे हाथ से दबाकर जगाया तो वह तुरंत उठ बैठा।

अब राजा ने गार्ग्य से पूछा कि हे ऋषिवर! यह पुरुष जब सोया हुआ था तब यह कहां था? अब जगाने व जागने पर यह कहां से आया है, गार्ग्य कोई

उत्तर न दे सका। इस पर अजातशत्रु ने कहा कि यह जो विज्ञानमय पुरुष है, जब यह शयन करता है, तो सभी इन्द्रियां जैसे आंख, कान, वाणी, स्पर्श आदि मन में लीन हो जाती हैं और संपूर्ण चेतना शक्ति हृदय में स्थित आकाश अर्थात् स्थान में स्थित हो जाती हैं। इस अवस्था में पुरुष को "स्वपिति" के नाम से जाना जाता है। (स्वपिति पुरुष की अवस्था को जानने के लिए "विज्ञानमय" शरीर शब्द को विस्तार से जानने की आवश्यकता है। विज्ञानमय शरीर, अन्नमय, प्राणमय व मनोमय शरीर के पश्चात् मानव का चौथा शरीर है। कृपया प्रारंभ में पंचशरीरों का विवरण देखें)। जब मनुष्य गहन ध्यान की अवस्था में मन को या मानसिक ऊर्जा को घनीभूत करके अन्तर्मुखी कर लेता है, अर्थात् मन में विचारों का जो क्रमिक व निरन्तर प्रवाह है, उसके द्वारा शरीर से बाहर निकलने वाली ऊर्जा का क्षय या क्षरण रुक जाता है, तो चेतना या वास्तविक ज्ञान की अनुभूति होती है, यही विज्ञानमय शरीर है। इस अवस्था की चरम अनुभूति या तो योगी को तुरीयावस्था में होती है या इसकी हलकी सी अनुभूति गहन निन्द्रा की अवस्था से होती है)। इस अवस्था में प्रगाढ़ निद्रा में यह मन किसी के विषय में कुछ नहीं जानता, उसका किसी से कोई संबंध नहीं होता, वह संसार में स्थित होते हुए भी संसार से निर्लिप्त होता है। उस समय यह आत्मा विभिन्न लोको का, विविध रूपों का आनंद लेता है। अतः संसार के सोने पर जो जागता है और संसार के जागने पर जो सोता है, वही सत्य का सत्य यह आत्मा ही सत्यस्वरूप है।

द्वितीय ब्राह्मण

द्वितीय अध्याय का यह दूसरा अध्याय "यद् पिण्डे तत्ब्रह्माण्डे" (अर्थात् जो कुछ भी व्यापक व स्थूल रूप में "ब्रह्मांड में विद्यमान है, वह सबकुछ संकुचित व सूक्ष्म रूप में मानव शरीर में भी विद्यमान है, क्योंकि मनुष्य शरीर ब्रह्म का ही सूक्ष्म रूप है) की भावना को शिशु के रूप में स्पष्टतः अभिव्यक्त करता है। यह छोटा-सा ब्राह्मण दर्शन के रहस्यवाद की चरम अभिव्यक्ति को प्रकट करता है।

इस ब्राह्मण को भलीभांति समझने के लिए चार शब्दों का स्पष्ट शब्दार्थ जानना आवश्यक है।

1. आधान – आधार का अधिष्ठान।
2. प्रत्याधान – शीर्ष।
3. स्थूणा – अन्न व जल से प्राप्त होने वाली जैविक शक्ति।
4. दाम – बन्धन रज्जु (शिशु के संबंध में वह नाल जिससे वह माता से जुड़ा रहता है)।

ब्राह्मण का प्रारंभ इस प्रकार होता है कि जो भी आधान, प्रत्याधान, स्थूणा व दाम के सहित शिशु के वास्तविक रहस्य को समझता है, वह परम ज्ञान को

प्राप्त होता है। अब इसी कथन को प्राणों के संदर्भ में एक रूपक के रूप में प्रयोग करते हुए कहा गया है कि यह प्राण ही शिशु है। यह मानव शरीर ही आधान है। शीर्ष अर्थात् ज्ञानेन्द्रियां (आंखें, कान, नाक, जिह्वा आदि) ही प्रत्याधान है। श्वास ही स्थूणा है, और अन्न ही दाम है। इस सूक्तमय गूढ़ रहस्य को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि प्राण जो आचार्य शंकर की ब्रह्मसूत्र की व्याख्या के अनुसार-चैतन्य शक्ति है, वह ब्रह्म का ही लघु स्वरूप है। इसी कारण इसे शिशु कहा गया है। प्राण का शरीर से घनिष्ट संबंध है और यह इसी शरीर का आश्रय लेकर विभिन्न क्रिया-कलाप करता है। इसलिए शरीर इसका आधान माना गया है। मानव शरीर के भी चेतना की दृष्टि से दो भाग हैं—

1. कण्ठ से ऊपर का भाग या ज्ञानखंड।
2. कण्ठ से नीचे का भाग या कर्मखंड।

ज्ञानखंड में ही ज्ञानेन्द्रियां व सहस्रार चक्र स्थित है, जिससे चेतना का सम्पूर्ण व्यापार नियंत्रित होता है, अतः शीर्ष ही प्रत्याधान है। प्राणों का व्यापार ही शरीर में श्वास-प्रश्वास की नियंत्रित व अनियंत्रित क्रिया पर निर्भर है। अनैच्छिक व अनियंत्रित श्वास-प्रश्वास तो जन साधारण में सदैव व्याप्त रहता है, ऐच्छिक व नियंत्रित प्राणायाम व योग क्रियाओं द्वारा योगी ही कर सकता है, जिसमें उसका प्राण पर अधिकार हो जाता है। अतः श्वास ही प्राण की स्थूणा शक्ति है। प्राण के आधार इस अन्नमय शरीर की पुष्टि अन्न से ही होती है और अन्न पर ही यह आश्रित है। अतः अन्न ही दाम है? अब शिशु की आंख के माध्यम से ब्रह्मांड की दार्शनिक व्याख्या करते हुए कहा गया है कि जो ऊपरी पलक है, वह द्युलोक है और जो नीचे की पलक है, वह पृथ्वी लोक है। आंख का पलक झपक कर बन्द होना रात्रि है, व पलक का खुलना दिवस है। इन आंखों में जो लाल-लाल धमनियां हैं, वही रुद्र है या अग्नि तत्व है, इन नेत्रों में जो गीलापन है, वह जल तत्व है और वही इन पलकों में स्थित ब्रह्मांड का मेघ है, दर्शन शक्ति ही आकाश है, जो सफेद भाग है वही सूर्य है, जो कालिमा है वही पृथ्वी तत्व है तथा सफ़ेद भाग रूपी सूर्य में व्याप्त चन्द्रमा है, जो छोटा-सा छिद्र है, वही वायु तत्व का या प्राण का द्योतक है। जो इस रहस्य को आत्मसात कर लेता है, उसे जीवन में अन्न की क्षीणता का कष्ट नहीं होता।

अगले खंड में सप्तऋषि की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि हृदय रूपी आकाश या चिदाकाश के प्राण रूपी तीर पर स्थित सप्तऋषि कौन है? दो कान, दो नेत्र, दो नासिका और एक रसना ही सात (सप्तर्षि) ऋषि है और वेद के द्वारा संवाद करने वाली आठवीं वाणी है। यह दोनों कान ही गौतम व भारद्वाज ऋषि हैं। दोनों नेत्र ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। यह दोनों नासाछिद्र ही वसिष्ठ और कश्यप हैं तथा यह वाक ही आठवें अत्रि ऋषि हैं। इस रहस्यमय ज्ञान को जो भलीभांति समझ लेता है, वह अन्न का भोग्य हो जाता है।

तृतीय ब्राह्मण

तृतीय ब्राह्मण में ब्रह्म के दो विभिन्न रूपों मूर्त और अमूर्त, मर्त्य और अमर्त्य, स्थिर और चर, सत और त्यत का विशिष्ट वर्णन है।

चतुर्थ ब्राह्मण

वृहदारण्यक उपनिषद् का यह ब्राह्मण याज्ञवल्क्य ऋषि व उनकी विदुषी पत्नी मैत्रेयी के मध्य हुए वार्त्तालाप के माध्यम से परमात्मा तत्व की दार्शनिक व्याख्या के कारण विश्व प्रसिद्ध है।

संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होने को उद्यत याज्ञवल्क्य ऋषि अपनी पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं कि हे प्रिये! मैं अब गृहस्थ आश्रम त्याग रहा हूं। अतः धन-सम्पत्ति को तुझमें और कात्यायनी (दूसरी पत्नी) में बांटना चाहता हूं। इस प्रश्न के उत्तर में मैत्रेयी का कथन भारतीय नारी को गरिमा, विद्वता, त्याग व मुमुक्षा की भावना को प्रदर्शित करता है।

मैत्रेयी ने कहा : हे भगवन्, आप इस थोड़ी सी धन-सम्पति को बांटने की बात कर रहे हैं, अच्छा आप मुझे बताएंगे कि यदि धन से व्याप्त यह सम्पूर्ण पृथ्वी भी मुझे प्राप्त हो जाए, तो क्या अमरत्व को प्राप्त कर सकती हूं?

याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा : नहीं प्रिये, धन से अमरत्व की आशा करना ही व्यर्थ है। धन, भोग की सुख सामग्री तो प्रदान कर सकता है, परंतु अमृतत्व नहीं।

मैत्रेयी ने कहा : प्रभु, जिस वस्तु को पाकर मैं नश्वर की नश्वर ही रहूंगी, अमर नहीं हो सकती, तो इन भोगों का क्या लाभ? मुझे इस सम्पत्ति के बंटवारे में से धन नहीं चाहिए, अपितु आप तो मुझे अपने ज्ञान के भंडार में से अमृतत्व का साधन बतलाएं। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी की इस त्याग भावना से अतीव प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से याज्ञवल्क्य ऋषि ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया। ऋषिवर कहते हैं कि जैसे बजती हुई दुन्दुभि के शब्दों को कोई बांध नहीं सकता, उन्हें कोई पकड़ नहीं सकता, परंतु यदि दुन्दुभि के आघात को पकड़ लिया जाय, तो शब्द भी पकड़ा जा सकता है। एक अन्य दृष्टांत देते हैं कि जैसे बजती वीणा के शब्दों को कोई ग्रहण नहीं कर सकता, परंतु वीणा के तारों को स्पर्श करने से शब्दों को ग्रहण किया जा सकता है, वैसे ही ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, उपनिषद् आदि उस ब्रह्म के शब्द मात्र हैं। इनके उद्गम को जानने के लिए ब्रह्म को जानना आवश्यक है और ब्रह्म केवल एक मात्र सर्वसत्तात्मक सत्य है। पुनः एक अन्य प्रकार के दृष्टांत के द्वारा ऋषि इस क्लिष्ट विषय को सरल शब्दों में मैत्रेयी को समझाने का प्रयास करते हैं। दृष्टांत इस प्रकार है कि जैसे समस्त नदियों का आश्रय स्थल एक समुद्र ही

है, संसार की समस्त गंधों का आश्रय स्थल एक मात्र नासिका है। संसार के समस्त स्पर्शों का अनुभव केवल त्वचा को होता है, जैसे संसार के समस्त रूपों को ग्रहण करने वाला एक मात्र हस्त है, जैसे संसार के समस्त मार्गों व दूरी का एकमात्र साधन चरण है, वैसे ही समस्त वेदों का, वाणी का, ज्ञान का, सत्य का एकमात्र साधन उस परब्रह्म की सत्ता है। पुनः याज्ञवल्क्य एक उदाहरण देते हैं कि जिस प्रकार जल में डाला हुआ नमक जल में घुल जाता है और अदृश्य हो जाता है, परन्तु जल में उस नमक के गुण सदा के लिए आ जाते हैं। इसी प्रकार मानव देह में भी ब्रह्म की सत्ता प्रवेश करके सर्वव्यापक होकर अपने अस्तित्व को विलीन कर देती है, परन्तु उसकी सत्ता सदैव उसमें उपस्थित रहती है। आवश्यकता है, एकमात्र उस परब्रह्म के स्वरूप को अपनी देह में ढूंढ़ने की, खोजने की, पहचानने की। जब तक अविद्या के कारण द्वैत भाव रहता है और मनुष्य स्वयं में और ब्रह्म में भेदबुद्धि रखता है, तभी तक वह असत् के अंधकार में है। मैत्रेयी, तू इसी सत्य को जान।

पंचम् ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में रहस्ममयी मधुविद्या का उपदेश है, जिससे मनुष्य को पंचतत्वों पर अधिकार हो जाता है। पंचतत्वों की सिद्धि हो जाती है और वह पंचतत्वों के संयोजन से विभिन्न पदार्थों की रचना कर सकता है। कौशिक गोत्रीय विश्वामित्र इस विद्या में इतने निपुण थे कि उन्होंने समानान्तर विश्व की रचना का प्रयास भी किया था और पुरुष के समान रचना का प्रारंभ किया था, जिसका अवशेष आज भी नारियल के फल के रूप में प्रदर्शित होता है। इसी ब्राह्मण में आत्मा का भी विविध रूपों में वर्णन है।

पृथ्वी समस्त भूतों की मधु है और सब भूत इस पृथ्वी के मधु हैं। इस पृथ्वी में जो यह तेजमय स्वरूप युक्त अमृतमय आत्मा है, यही ब्रह्म है। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा, विद्युत, मेघ, आकाश, धर्म आदि के उदाहरण से मधु का विवरण दिया गया है। कहा जाता है कि इस मधु को दध्यङ्डाथवर्ण ऋषि ने अश्विनीकुमारों को कहा था। इसके पश्चात् पुनः बहुत ही रहस्यात्मक संकेतों के माध्यम से ब्रह्म के स्वरूप को निर्धारित किया गया है। ऋषि ने अश्विनीकुमारों को कहा कि परमात्मा ने दो पैरों वाले शरीर बनाए और चार पैरोंवाले भी शरीर बनाए। फिर वह परमात्मा पक्षी बनकर इन शरीरों में प्रविष्ट हो गया। वह परमात्मा समस्त शरीरों में है। ऐसा कुछ भी इस संसार में नहीं, जो उस परमात्मा से ढका न हो या उससे व्याप्त न हो या जिसमें उसका प्रवेश न हुआ हो। वह सर्वज्ञ, सर्वत्र, सर्वव्यापक सत्ता है। यह माया की ही महिमा है कि ईश्वर अनेक रूपों में प्रतीत होता है। केवल आत्मा ही उसका ज्योतिर्मय सत्य स्वरूप है, जो वेदों का सार व उद्देश्य है।

षष्ठ ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में मधु विद्या की गुरु-शिष्य परंपरा का वर्णन है।

मुनिकांड (याज्ञवल्क्य) कांड : द्वितीय कांड

तृतीय अध्याय

इस अध्याय में कुल नौ ब्राह्मण हैं। इन नौ ब्राह्मणों में याज्ञवल्क्य ऋषि का सात विभिन्न विद्वान् ब्राह्मणों व विदुषी ब्रह्मवादिनी गार्गी के मध्य हुए शास्त्रार्थ के माध्यम से भारतीय जीवन व दर्शन का निचोड़ प्रस्तुत किया गया है। ब्राह्मणों में चर्चित विषयों को साधारण रूप में पढ़ने पर वह बहुत ही सरल व साधारण प्रतीत होता है, परन्तु उनका वास्तविक अर्थ बहुत ही गूढ़ और सारगर्भित है। इस अध्याय में प्रश्नोत्तरों के साथ-साथ उनकी व्याख्या भी प्रस्तुत की गई है, जिससे पाठकगण उसमें छिपे भावार्थ को भलीभांति समझ सकें।

प्रथम ब्राह्मण

(याज्ञवल्क्य व अश्वल का संवाद)

विदेह देश के राजा जनक ने एक बार बहुत बड़ी दक्षिणा वाले यज्ञ का आयोजन किया, जिसमें कुरु व पांचाल देशों के ब्राह्मणों ने भाग लिया। भरी सभा में राजा ने घोषणा कर दी कि उपस्थित पूज्य ब्राह्मणों में से जो भी सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ हो वह एक हजार गाएं, जिनके सींगों में दस-दस पाद सुवर्ण बंधा है, उन्हें ले जाय। क्षणभर के लिए सभा में मौन छा गया। मौन को भंग करते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि की आवाज गूंजी। शिष्य सोमश्रवा! तू इन गायों को ले चल। इस पर उपस्थित अन्य ब्राह्मणों ने याज्ञवल्क्य ऋषि को चुनौती दी और उनसे शास्त्रार्थ का निर्णय लिया। सर्वप्रथम विदेहराज जनक के 'होता' (यज्ञ कर्म में एक विशिष्ट पद) अश्वल ने प्रश्न करने का निश्चय किया।

प्रथम प्रश्न : हे याज्ञवल्क्य! यह सब जो मृत्यु से व्याप्त है, मृत्यु द्वारा स्वाधीन किया हुआ है, उस मृत्यु की व्याप्ति का यजमान किस प्रकार से या किस साधन से अतिक्रमण करता है अर्थात् मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है?

नोट : मधु शब्द का यहां तात्पर्य पदार्थ के तात्विक सार से है।

ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा : यजमान होता ऋत्विक रूप अग्नि से और वाक् से मृत्यु को जीत सकता है। वाक् ही यज्ञ का होता है, यह जो वाक् है, वही अग्नि है; वही होता है, वही मुक्ति है।

व्याख्या : अग्नि से और वाक् से मृत्यु को जीत सकता है।—इस कथन का वस्तुतः अर्थ यह है कि अग्नि तत्व, जो मानव शरीर में स्थित है तथा जिसका स्थान नाभि के निकट मणिपुर चक्र है तथा जो स्वर लोक से संबंधित है, उस अग्नि तत्व और वाक् से मृत्यु को जीता जाय? अग्नि और वाक् का परस्पर संबंध क्या है? यह दोनों कैसे मृत्यु को जीतेंगे? शारंगदेव ने स्पष्टतः कहा है कि आत्मा या परब्रह्म को जब अभिव्यक्ति की इच्छा होती है, तो सर्वप्रथम मन में उस वस्तु से संबंधित विचार का जन्म होता है, विचार अमूर्त व अव्यक्त है, उसकी कोई भाषा नहीं होती। यही विचार शरीर में कंपन पैदा करता है, जिससे शरीर में स्थित प्राणवायु में कंपन होता है और वह कंपित वायु विचारों के साथ शरीर में स्थित अग्नि से टकराती है, जिससे शब्दों का जन्म होता है (विश्व में कभी भी, कहीं भी, जब भी किसी वस्तु पर आघात होगा या चोट लगेगी तो निश्चित रूप से ध्वनि या आवाज उत्पन्न होती है)। यही शब्द वाणी या वाक् के रूप में प्रकट होते हैं और हमें दूसरे के विचार, इच्छा, या भावना का पता चलता है। इसी प्रकार यदि मन में सांसारिक लोभ, इच्छा, ईर्ष्या व मोह के विचार के स्थान पर केवल ब्रह्म के ध्यान की इच्छा का भाव प्रकट हो, तो जो ध्वनि निकलेगी वह साधारण बोलचाल की वैखरी भाषा न होकर नाद ब्रह्म होगा, जिसके साधने से मनुष्य मृत्यु को जीत लेता है। ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से यही बात अक्षरशः कही गई है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते।

ऋचाएं आकाश में अक्षर रूप में व्याप्त है। उन्हीं में सम्पूर्ण देवताओं का वास है। यदि कोई इन ऋचाओं के रहस्य को नहीं जानता, उनके लिए यह ऋचाएं क्या करेंगी? जो जानते हैं, वे इनका सदुपयोग कर लेते हैं। (ऋग्वेद का पुरोहित 'होता' कहलाता है। अतः याज्ञवल्क्य होता का संकेत देते हैं।)

दूसरा प्रश्न : हे याज्ञवल्क्य! यह जो सब कुछ है। इस संसार में वह सब दिन और रात्रि से व्याप्त है, सब दिन और रात्रि के अधीन है। किस प्रकार दिन और रात्रि का अतिक्रमण किया जा सकता है अर्थात् इन्हें जीता जा सकता है?

याज्ञवल्क्य : अध्वर्यु ऋत्विक और चक्षुरूप आदित्य के द्वारा इसे जीता जा सकता है। अध्वर्यु यज्ञ का चक्षु ही है। ये जो चक्षु हैं, यही वह आदित्य है, यही मुक्ति देने वाला है।

व्याख्या : अध्वर्यु ऋत्विक यजुर्वेद से संबंधित होता है। इसका मुख्य कार्य यज्ञ में विधिवत् मंत्रोच्चार सहित आहुति प्रदान करने से होता है। दूसरी चर्चा

यहां चक्षु आदित्य की है। चक्षु नेत्र का पर्यायवाची है। दिन और रात्रि अर्थात् काल या समय को जीतने में नेत्र कैसे सहायक होंगे? यहां नेत्र का तात्पर्य भौतिक जगत् को देखने वाली आंखों से न होकर दोनों नेत्रों की भ्रू के मध्य में स्थित तीसरे गुह्य नेत्र से है, जिसे योगी आज्ञा चक्र के नाम से जानते हैं। इस चक्र में इड़ा व पिंगला नामक दो योग नाड़ियां आकर सुषुम्ना में मिलती हैं। इड़ा को चन्द्र नाड़ी व पिंगला को सूर्य नाड़ी कहते हैं। चंद्र रात्रि का अधिपति व सूर्य दिवस का है और यही दोनों नाड़ियां सम्पूर्ण मानव जीवन के क्रिया-कलाप को प्रभावित करती हैं और उसमें व्याप्त रहती है। अतः इसे ही आश्वल, दिन और रात्रि के रूप में गुह्य रूप में पूछ रहे हैं? इस योग केंद्र या रुद्र ग्रंथि पर ध्यानपूर्वक त्राटक सिद्धि से मनुष्य इड़ा व पिंगला को सुषुम्ना में लीन करके जीवनमुक्त हो जाता है। यही चक्षु का तात्पर्य है। इड़ा व पिंगला की सुषुम्ना में आहुति होने के कारण यहां अध्वर्यु ऋत्विक का संकेत दिया गया है।

तीसरा प्रश्न : हे याज्ञवल्क्य! यह जो कुछ है, सब चंद्रमा के शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष से व्याप्त है; सब शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष द्वारा वश में किया हुआ है। किस प्रकार यजमान इनसे मुक्त होता है?

याज्ञवल्क्य : उद्गाता ऋत्विक से और वायुरूप प्राण से, क्योंकि उद्गाता ही यज्ञ का प्राण है, जो प्राण है वही वायु है, वही मुक्ति है, वही अति मुक्ति है।

व्याख्या : वस्तुतः यहां चंद्रमा के शुक्ल पक्ष व कृष्ण पक्ष का तात्पर्य स्वर विज्ञान पर आधारित है, क्योंकि श्वास लेते समय मनुष्य का दायां या बायां स्वर चन्द्रमा के पक्ष पर निर्भर करता है। प्रतिपदा तिथि को प्रातः काल एक विशिष्ट स्वर गतिमान होता है, जिससे योगी काल को नियंत्रित करते हैं। वस्तुतः यहां याज्ञवल्क्य ऋषि का स्वर साधन की ओर संकेत है।

चौथा प्रश्न : यह जो अंतरिक्ष या आकाश है यह आधार रहित है, अतः यजमान किसकी सहायता से आकाश में या स्वर्गलोक में चढ़ता है?

याज्ञवल्क्य : ब्रह्म ऋत्विक व मन रूप चंद्र से। ब्रह्म यज्ञ का मन है। मन चन्द्रमा है। वही ब्रह्म है, वही मुक्ति है।

व्याख्या : इसकी व्याख्या तो अत्यन्त स्पष्ट और सरल है। आकाश में बिना आधार के कौन जा सकता है—विचार। विचार की उत्पति मन से होती है, इसी कारण महाभारत में कथा भी आती है कि जब यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया तो युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि मन सर्वाधिक वेगवान है। इसी मन से उत्पन्न विचारों की गति भी अनन्त है और यह निश्चित है कि मन में जो भी विचार जन्म लेता है, वह कभी भी नष्ट नहीं होता, वह सदैव आकाश में व्याप्त रहता है। अतः मन व विचारों के घनीभूत करके कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है। मन व विचारों की प्रबलता में तो इतनी शक्ति है कि मृत्यु के समय मन में जो विचार या संकल्प प्रभावी

होता है, वैसा ही अगला जन्म प्राप्त होता है। इसे ही याज्ञवल्क्य यहां रेखांकित कर रहे हैं।

इसके बाद के प्रश्नों में मुख्यतः यज्ञ क्रियाओं के सिद्धांतों का वर्णन है।

पांचवा प्रश्न : होता ऋत्विक आज कितनी ऋचाओं के द्वारा यज्ञ का संचालन करेगा?

याज्ञवल्क्य : तीन के द्वारा।

अश्वल : ये तीनों कौन-कौन सी हैं?

याज्ञवल्क्य : पुरोनुवाक्या, याज्या, शस्या।

(यज्ञ में जिस देवता का दो ऋचाओं द्वारा आह्वान किया जाता है और आहुति देने से पूर्व जिस ऋचा का पाठ करते हैं, उसे पहले बोली जाने वाली ऋचा को पुरोनुवाक्या कहते हैं तथा जिस ऋचा के पश्चात् आहुति दी जाती है, उसे याज्या कहते हैं। याज्या के अंत में वौषट शब्द जोड़कर आहुति दी जाती है।)

छठा प्रशन : अध्वर्यु आज इस यज्ञ में कितनी आहुतियां देगा?

याज्ञवल्क्य : तीन।

अश्वल : वे तीन कौन-कौन सी हैं?

याज्ञवल्क्य : प्रथम वह आहुति है, जो होम करने पर प्रज्ज्वलित होती है। दूसरी वह आहुति है, जो होम करने पर शब्द करती है। तीसरी वह आहुति है, जो होम करने पर पृथ्वी में लीन हो जाती है।

इन तीनों आहुतियों द्वारा यजमान क्रमशः देवलोक, पितृलोक और मनुष्यलोक को जीत लेता है।

(सातवें प्रश्न से पुनः यज्ञकर्म को मनुष्य के शरीर में निरंतर चल रही प्राणों की आहुति रूपी यज्ञ क्रिया के तुलनात्मक संदर्भ में व्यक्त किया गया है।)

सातवां प्रश्न : आज ब्रह्मा (यहां ब्रह्मा का तात्पर्य मुख्य पुरोहित से है, सृष्टिकर्ता ब्रह्मा से नहीं।)

यज्ञ में दक्षिण की ओर बैठकर कितने देवताओं द्वारा यज्ञ की रक्षा करेगा?

याज्ञवल्क्य : एक देवता द्वारा।

अश्वल : एक देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : मन।

आठवां प्रश्न : आज इस यज्ञ में उद्‌गाता कितनी ऋचाओं का स्तवन करेगा?

याज्ञवल्क्य : तीन।

अश्वल : कौन सी तीन?

याज्ञवल्क्य : पुरोनुवाक्या, याज्या और शस्या।

अश्वल : अच्छा, इन तीनों को मनुष्य के शरीर के संदर्भ में बताओ?

याज्ञवल्क्य : प्राण ही पुरोनुवाक्या है। अपान ही याज्या है। व्यान ही शस्या है।

इनसे किस-किस पर विजय प्राप्त होती है?

पुरोनुवाक्या – प्राण द्वारा पृथ्वी लोक पर विजय प्राप्त होती है।

याज्या – अपान द्वारा अन्तरिक्ष लोक पर विजय प्राप्त होती है।

शस्या – व्यान द्वारा द्युलोक पर विजय प्राप्त होती है।

द्वितीय ब्राह्मण

(याज्ञवल्क्य व आर्तभाग का संवाद)

इस ब्राह्मण में जारत्कारव आर्तभाग व याज्ञवल्क्य के मध्य हुए शास्त्रार्थ को अभिव्यक्त किया गया है।

प्रथम प्रश्न :

आर्तभाग : कितने ग्रह हैं और कितने अतिग्रह हैं? (यहां ग्रह का तात्पर्य आकाश में गतिशील पिंडों से न होकर मनुष्य शरीर में उन ग्रहों के प्रतिनिधि भागों से लेकर है) ग्रह का अर्थ यहां ग्रहण करने वाले या ग्राह्य से भी है।

याज्ञवल्क्य : आठ ग्रह हैं और आठ उनके अतिग्रह हैं।

आर्तभाग : वह कौन से आठ ग्रह हैं और कौन से उनके आठ अतिग्रह हैं स्पष्ट करो?

याज्ञवल्क्य : प्राण ही प्रथम ग्रह है और अपान उसका अतिग्रह है, क्योंकि प्राणी अपान से ही पृथ्वी तत्व के गुण व गंध को ग्रहण करता है। **वाक्** दूसरा ग्रह है और नाम उसका अतिग्रह है, क्योंकि प्राणी वाक् से ही नाम का उच्चारण करता है। **जिह्वा** तीसरा ग्रह है और इस अतिग्रह से ग्रहीत है, क्योंकि जीव जिह्वा से ही रसों को ग्रहण करता है। **चक्षु** ही चौथा ग्रह है और रूप नामक अतिग्रह को ग्रहण करते हैं, क्योंकि प्राणी आंखों से ही रूप को देखता है। **कान** ही पांचवा ग्रह है और शब्द नामक अतिग्रह को ग्रहण करता है, क्योंकि प्राणी कान से ही सुनता है। **मन** ही छठा ग्रह है और इच्छा, कामना तथा विचार ही उसके अतिग्रह हैं, क्योंकि प्राणी मन से ही मनोकामना करता है (वस्तुतः मन व चन्द्रमा एक दूसरे के पर्याय हैं और मानव शरीर में मन चन्द्रमा का प्रतिनिधित्व करता है और जैसे चंद्रमा कभी भी स्थिर नहीं रहता, कभी घटता है, कभी बढ़ता है, वैसे ही मन भी कभी स्थिर या शांत नहीं रहा सकता, उसमें सदैव विचारों का आवागमन लगा रहता है।) **हाथ** ही सातवां ग्रह है, क्योंकि यह कर्मो का अतिग्रहण करते हैं और कर्मकारक होने के कारण कर कहलाते हैं। (वस्तुतः जिस प्रकार मनुष्य देह पंचभूतात्मक है, वैसे ही हाथ की पांचो अंगुलियां पंच तत्वों की प्रतीक मात्र न होकर उसकी स्पष्ट कारक हैं।)

अंगूठे में अग्नि तत्व की प्रधानता है, तर्जनी में जल तत्व की, मध्यमा में आकाश तत्व की, अनामिका में वायुतत्व व कनिष्ठिका में पृथ्वी तत्व की प्रधानता

है। केवल इन अंगुलियों के सही उपयोग से शरीर के पंचभूतों को नियंत्रित व इच्छानुसार क्रियाशील किया जा सकता है। भगवान कृष्ण की गोवर्धन पर्वत धारण की कथा बहुत प्रसिद्ध है। वहां भी उन्होंने पर्वत जो पृथ्वी तत्व का प्रतीक है, उसे केवल कनिष्ठिका अंगुली पर ही उठा रखा है, क्योंकि यही अंगुली पृथ्वी तत्व की प्रतीक है। पंचभूतात्मक मानवदेह को यह पंचअंगुलात्मक कर ही कर्म का इस प्रकार अतिग्रहण करते हैं।

त्वचा ही आठवां ग्रह है और स्पर्श उसका अतिग्रहण है, क्योंकि स्पर्श को त्वचा से ही ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार यही आठ ग्रह व अतिग्रह हैं।

दूसरा प्रश्न : संसार में जो कुछ भी है, वह मृत्यु को प्राप्त होता है अर्थात् सभी मृत्यु का खाद्य है, वह कौनसा देवता है, जो मृत्यु को भी खा जाता है या वह कौन सा देवता है जिसका खाद्य मृत्यु है?

याज्ञवल्क्य : अग्नि ही मृत्यु है और वह जल का खाद्य है।

तीसरा प्रश्न : जब मनुष्य की मृत्यु होती है, तो उस समय क्या सभी प्राण शरीर को छोड़ देते हैं?

याज्ञवल्क्य : नहीं, सभी प्राण शरीर को नहीं छोड़ते, केवल—प्राण आत्मतत्व को लेकर शरीर से निकल जाता है, शेष प्राण शरीर में रहकर ही वायु को शरीर में खींचते रहते हैं। जैसा जीवन रहते हुए वह करते थे। इसी कारण वायु को भीतर खींचने से मृत देह फूल जाती है।

चौथा प्रश्न : मरने के बाद भी पुरुष को क्या नहीं छोड़ता है?

याज्ञवल्क्य : मरने के पश्चात् भी 'नाम' पुरुष को नहीं छोड़ता। उसका नाम उसके शुभ व अशुभ कर्मानुसार संसार में रहता है।

पांचवा प्रश्न : मृत्यु के समय वाणी अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में विलीन हो जाते हैं, दृष्टि सूर्य में, मन चन्द्रमा में, कान दिशाओं में, शरीर पृथ्वी में, रोम औषधियों में और केश वनस्पतियों में जा मिलते हैं। रक्त और वीर्य जल में स्थापित हो जाते हैं। उस समय पुरुष कहां रहता है?

(यहां इस प्रश्न का भावार्थ समझने के लिए पुरुष शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। पुरुष शब्द का अर्थ है, एक बड़े पुर के बीच रहने वाला अर्थात् इस शरीर रूप पुर में रहने वाली आत्मा का। यहां पुरुष का भावार्थ आत्मा से है।)

याज्ञवल्क्य : आर्तभाग, यह बहुत ही गोपनीय है और इसका उत्तर मैं तुझे एकान्त में दे सकता हूं। और याज्ञवल्क्य ने इसका उत्तर आर्तभाग को एकान्त में जाकर दिया, जिससे वह पूर्ण संतुष्ट हो गया।

तृतीय ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य व लाह्यायनिभुज्यु के मध्य शास्त्रार्थ द्वारा पारिक्षितों की चर्चा है।

चतुर्थ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य व चाक्रायण उपस्त के मध्य शास्त्रार्थ का विवरण है, जिसमें आत्मा की सर्वान्तरता की चर्चा है।

पंचम् ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और कहोल के मध्य शास्त्रार्थ का विवरण है, जिसमें पुनः ब्रह्म के अपरोक्ष रूप और सर्वान्तर आत्मा की चर्चा है।

षष्ठ ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य और गार्गी के मध्य हुए शास्त्रार्थ में जल से क्रमशः ब्रह्मलोक तक के लोकों की क्रमिक यात्रा का वर्णन है। यहां पर याज्ञवल्क्य गार्गी को बतलाते हैं कि जल, वायु में लीन हो जाता है, वायु अंतरिक्ष में, अंतरिक्ष गंधर्वलोक में, गन्धर्व आदित्यलोक में, आदित्वलोक चन्द्रलोक में, चन्द्रलोक नक्षत्रलोक में, नक्षत्रलोक देवलोक में, देवलोक इन्द्रलोक में, इन्द्रलोक प्रजापति लोक में और प्रजापतिलोक ब्रह्मलोक में क्रमशः आधारित है। निष्कर्ष यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड ब्रह्मलोक में आश्रित है।

सप्तम् ब्राह्मण

याज्ञवल्क्य व आरुयर्ण उद्दालक के मध्य हुए शास्त्रार्थ में आत्मा के स्वरूप का 'नेति नेति' (नहीं यह भी नहीं, यह भी नहीं है) की भावना के अनुरूप वर्णन है।

अष्टम् ब्राह्मण

अष्टम् ब्राह्मण बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें पुनः दूसरी बार याज्ञवल्क्य और गार्गी के मध्य शास्त्रार्थ है, जिसके प्रारंभ में गार्गी यह घोषणा करती है कि अब मैं केवल दो प्रश्न पूछूंगी और यदि उन्होंने इन दोनों प्रश्नों के उत्तर दे दिए, तो इनकी विजय निश्चित है, फिर इन्हें ब्रह्म विषयक ज्ञान में कोई पराजित नहीं कर सकता।

गार्गी ने कहा हे ऋषिवर याज्ञवल्क्य! जैसे काशी या विदेह का कोई वीर धनुष की प्रत्यंचा पर दो फल वाले पीड़ादायक तीर चढ़ाकर खड़ा होता है, वैसे ही मैं आपके सम्मुख अपने दो प्रश्न रूपी फल वाले तीर लेकर उपस्थित हूं, आप उनका उत्तर दें। याज्ञवल्क्य ने कहा, ''गार्गी पूछो।''

प्रथम प्रश्न : जो द्युलोक से ऊपर और पृथ्वी से नीचे है, जो द्युलोक और पृथ्वी के मध्य है, जो स्वयं ही द्युलोक और पृथ्वी है तथा जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान सभी व्याप्त हैं, वह स्वयं किससे व्याप्त है?

याज्ञवल्क्य : वह आकाश तत्व के रूप में सर्वत्र व्याप्त है।

दूसरा प्रश्न : अच्छा ऋषिवर, आकाश किससे ओतप्रोत है? किसमें व्याप्त है?

याज्ञवल्क्य : गार्गी अक्षर या शब्द रूपी नादब्रह्म आकाश को व्याप्त किए हुए है। अक्षर जिसका कभी क्षय नहीं होता, जो अजर अमर है, जो न तो मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न द्रव है, न छाया है, न अंधकार है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, न ही वह कुछ खाता है और न कोई उसे खाता है। जो यह नहीं है, वह नहीं है, परन्तु सब कुछ है, वही अक्षर ब्रह्म है। यही अक्षर देववाणी संस्कृत में ऋषियों द्वारा मंत्र रूप में आबद्ध है। जो इस अक्षर के रहस्य को जान लेता है, वही ब्राह्मण है। ऋग्वेद में कहा भी गया है :

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्
यस्मिनदेवता अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किऋचा करिष्यति।
य इत्तद्विदुस्त इमें समासते।

अक्षर से युक्त ऋचाएं परम आकाश में व्याप्त हैं। इन्हीं में सम्पूर्ण दैवीय शक्तियों का वास है। जो अज्ञानी इस रहस्य को नहीं जानते, उनके लिए यह क्या कर सकती है? जो ब्रह्मज्ञानी इस तथ्य से परिचित हैं, वे इन ऋचाओं या अक्षर ब्रह्म से सत्य को प्राप्त करते हैं।

इसके पश्चात् गार्गी ने भरी सभा में कहा कि अब कोई भी इनसे ब्रह्मविषयक चर्चा में जीतनेवाला नहीं है। यह कहकर गार्गी मौन हो गईं।

नवम् ब्राह्मण

इस अंतिम ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य व शाकल्य के मध्य क्लिष्टतम ब्रह्म विषयों पर शास्त्रार्थ है और अंत में याज्ञवल्क्य की विजय की घोषणा है।

प्रथम प्रश्न : याज्ञवल्क्य, देवता कितने हैं?

याज्ञवल्क्य : वैदिक मंत्रों में इनकी संख्या तीन, तीन सौ व तीन हजार वर्णित है।

दूसरा प्रश्न : पुनः वही, याज्ञवल्क्य स्पष्ट बताओ कि कितने देवता हैं?

याज्ञवल्क्य : 33

तीसरा प्रश्न : यह तो ठीक है, पर तुम पुनः बताओ कितने देवता हैं?

याज्ञवल्क्य : 6

चौथा प्रश्न : ठीक है। परंतु तुम बतलाओ कितने देवता हैं?

याज्ञवल्क्य : 3

पांचवा प्रश्न : यह भी ठीक है, परंतु तुम बतलाओ कितने देव हैं?

याज्ञवल्क्य : 2

छठा प्रश्न : यह भी ठीक। परंतु तुम बतलाओ कितने देवता हैं?

याज्ञवल्क्य : 1½ (डेढ़)।

सातवां प्रश्न : यह भी ठीक है। परंतु तुम बतलाओ कितने देवता हैं?

याज्ञवल्क्य : 1

आठवां प्रश्न : यह सब तो ठीक है, परंतु प्रारंभ में तो तुम उनकी संख्या 3, 300 व 3000 बता रहे थे, वह सब देवता कौन हैं?

याज्ञवल्क्य : तीन सौ व तीन हजार की संख्या तो उनकी महिमा प्रकट करने के लिए है। वस्तुतः तो देवगण 33 हैं।

नवां प्रश्न : अच्छा, फिर बताओ कि 33 देवता कौन-कौन से हैं?

याज्ञवल्क्य : 8 वसु हैं, 11 रुद्र हैं, 12 आदित्य हैं। यह 31 देवगण हैं और शेष दो इन्द्र और प्रजापति को मिलाकर इनकी संख्या 33 हो जाती है।

दसवां प्रश्न : वसु कौन हैं?

याज्ञवल्क्य : अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा व नक्षत्र यही 8 वसु हैं और क्योंकि सम्पूर्ण संसार का चर, अचर, चेतन व अचेतन, स्थावर व जंगम इन्हीं तत्वों से वास के कारण जीवन धारण करता है, इसीलिए ये वसु कहलाते हैं।

ग्यारहवां प्रश्न : 11 रुद्र कौन हैं?

याज्ञवल्क्य : पुरुष में दस इन्द्रियां व ग्यारहवां मन, यही 11 रुद्र हैं। इनके शरीर को त्याग देने से मृत्यु हो जाती है और तब यह निकट संबंधियों को रुलाते हैं। इसीलिए यह रूद्र है।

बारहवां प्रश्न : आदित्य कौन है?

याज्ञवल्क्य : बारह आदित्य एक संवत्सर (काल खंड या एक वर्ष) के 12 मासों में सूर्य के ही विभिन्न नाम हैं। (सूर्य चैत्र मास में अंशु, वैशाख में धाता, ज्येष्ठ में इन्द्र, आषाढ़ में अर्यमा, श्रावण में विवस्मान, भाद्रपद में मग, आश्विन में पर्जन्य, कार्तिक में त्वष्ठा, आग्रहयाण में मिम, पौष में विष्णु, माघ में वरुण और फाल्गुन में सूर्य कहलाता है।)

तेरहवां प्रश्न : इन्द्र कौन हैं? प्रजापति कौन हैं?

याज्ञवल्क्य : स्तनयित्नु (आकाश में चमकने वाली विद्युत सौदामिनी) ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है।

चौदहवां प्रश्न : स्तनयित्नु कौन है?

याज्ञवल्क्य : इन्द्र का वज्र।

पन्द्रहवां प्रश्न : यज्ञ कौन है?

याज्ञवल्क्य : पशु ही यज्ञ है, क्योंकि यज्ञकर्म भौतिकरूप से पशुओं पर निर्भर है और आध्यात्मिक रूप से मनुष्य के पशुताभाव को समाप्त करने से संबंधित है।

सोलहवां प्रश्न : अच्छा, याज्ञवल्क्य तुम तो कह रहे थे कि 6 देव हैं? वे कौन-कौन से हैं?

याज्ञवल्क्य : अग्नि, पृथ्वी, वायु, अंतरिक्ष, आदित्य व द्युलोक—ये 6 आदि देव हैं।

17वां प्रश्न : अच्छा तीन देव कौन हैं?

याज्ञवल्क्य : यह तीन लोक ही तीन देव हैं, क्योंकि अन्य सभी देवगण इन तीनों लोकों में ही व्याप्त हैं।

18वां प्रश्न : अच्छा, वह दो देव कौन से हैं?

याज्ञवल्क्य : अन्न व प्राण।

19वां प्रश्न : डेढ $1\frac{1}{2}$ देव कौन हैं?

याज्ञवल्क्य : यह जो सदैव संचरण करता है।

20वां प्रश्न : यह तो वायु है यह तो एक ही है, डेढ़ किस प्रकार हुआ?

याज्ञवल्क्य : क्योंकि यह एक होते हुए भी सभी को पुष्ट करता है, इसीलिए यह एक न होकर अध्यर्ध $1\frac{1}{2}$ है।

21वां प्रश्न : यह एक देव कौन है?

याज्ञवल्क्य : ''प्राण'' यही ब्रह्म है, इसी को त्यत कहते हैं। इसके पश्चात् शाकल्य व जिज्ञासा के दूसरे आयाम में प्रश्नोत्तर प्रारंभ करता है।

22वां प्रश्न : पृथ्वी जिसका विस्तार है, तेज जिसकी दर्शन शक्ति है और मन जिसकी संकल्प शक्ति है, जो इस परम आश्रय पुरुष को जनता है, वही पंडित है?

याज्ञवल्क्य : जिसे तुम परम आश्रय कह रहे हो, उस पुरुष को मैं जानता हूं? यह जो शरीर धारी पुरुष है, यही वह है।

23वां प्रश्न : इसका देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : मैं उसे जानता हूं, वह कायमय पुरुष है।

24वां प्रश्न : अमृत या अमरत्व?

याज्ञवल्क्य : काम में जिसका विस्तार है, हृदय जिसका निवास स्थान है और मन जिसका संकल्प स्थान है, जो इस आध्यात्मिक परम पुरुष को जानता है, वही ज्ञानी है।

25वां प्रश्न : इसका देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : स्त्रियां (क्योंकि काम की पूर्ति स्त्री भोग से ही होती है, परंतु यहां स्त्री भोग का तात्पर्य विषय रसभोग से कदाचित न होकर केवल संतानोत्पत्ति के लिए, ब्रह्म की एक से अनेक होने की इच्छा की निरन्तरता से है।)

26वां प्रश्न : रूप के द्वारा जिसका विस्तार है, आंखें ही जिसका निवास स्थान हैं और मन ही ज्योतिस्वरूप संकल्पस्थान है, जो ऐसे कार्यकारण समूह परम आश्रय में पुरुष को जानता है, वही ज्ञाता है, वही पण्डित है।

याज्ञवल्क्य : उस पुरुष को मैं जानता हूं, वह आदित्य रूप में पुरुष है।

27वां प्रश्न : उसका देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : "सत्य" ही एकमात्र प्रकाशमान है। अतः सत्य ही इसका देवता है।

28वां प्रश्न : आकाश के रूप में जिसका विस्तार है, श्रोत्र या कान जिसका निवास स्थान है, मन ज्योतिरूप संकल्पस्थान है, जो ऐसे परमपुरुष को जानता है, वही ज्ञाता है?

याज्ञवल्क्य : वह प्रतिश्रुत्क पुरुष है (प्रतिश्रत्क = ध्वनि का परावर्तित होकर पुनः सुनाई देना, प्रतिध्वनि)।

29वां प्रश्न : उसका देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : दिशाएं ही उसका स्वामी हैं।

30वां प्रश्न : अंधकार के माध्यम से जिसका विस्तार है, हृदय जिसका लोक है और मन जिसकी ज्योति है, जो ऐसे परम आश्रय को जानता है, वही पंडित है।

याज्ञवल्क्य : वह यही छायामय पुरुष है।

31वां प्रश्न : इसका देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : मृत्यु (जब तक अज्ञान का अंधकार रहता है, तभी तक मृत्यु इस छायामय पुरुष का देव है। इसीलिए इस अंधकार से प्रकाश की ओर जाने की प्रार्थना है—"तमसो मां ज्योतिर्गमय"।)

32वां प्रश्न : रूप ही जिसके आयतन का विस्तार है, नेत्र जिसका निवास स्थान है, मन ही ज्योतिर्मय संकल्प बिन्दु है, उसे जो जानता है, वही ज्ञाता है।

याज्ञवल्क्य : जो भी यह आदर्श दर्पण के भीतर पुरुष स्थित है। यह वही है।

33वां प्रश्न : इसका देवता कौन है।

याज्ञवल्क्य : "असु" इसका देवता है।

(यहां असु का अर्थ जीवन से है और दर्पण के भीतर स्थित पुरुष का तात्पर्य आत्मा से है।)

34वां प्रश्न : जल में ही जिसका विस्तार है, हृदय में जिसका वास है और मन ही जिसकी ज्योति है, उसे जो जानता है, क्या वही ज्ञाता है?

याज्ञवल्क्य : जो जल में स्थित पुरुष है (जल में स्थित जीवात्मा), वही यह है।

35वां प्रश्न : इसका देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : वरुण इसका देवता है।

36वां प्रश्न : वीर्य में ही जिसका विस्तार है, हृदय जिसका वास लोक है। मन जिसकी ज्योति है, उसे जो जानता है, वही परम ज्ञानी है।

याज्ञवल्क्य : जो पुत्र रूप में पुरुष प्राप्त होता है, वही यह है।

37वां प्रश्न : इसका देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : प्रजापति इसका देवता है।

इतने अधिक प्रश्नों की बौछार से याज्ञवल्क्य को सात्विक क्रोध आ गया और उन्होंने व्यंग्य करते हुए शाकल्य से कहा कि इन ब्राह्मणों ने संभवतः तुम्हें ज्ञान के अंगारे निकालने हेतु चिमटा बना रखा है। इस पर शाकल्य क्रोधित हो गया और बोला कि याज्ञवल्क्य तुम ब्रह्मवेत्ता हो, अभी इसका निश्चय नहीं हुआ। अभी शास्त्रार्थ होगा और फिर उन्होंने प्रश्न पूछा कि–

38वां प्रश्न : यदि तुम्हें देवता और दिशाओं का ज्ञान है, तो बताओ कि पूर्व दिशा में तुम किस देवता का वास मानते हो?

याज्ञवल्क्य : यहां मैं आदित्य या सूर्य देवता को स्वामी मानता हूं।

39वां प्रश्न : आदित्य मानव देह में कहां प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : नेत्रों में।

40वां प्रश्न : नेत्र किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : नेत्र रूपों में प्रतिष्ठित हैं, क्योंकि नेत्र रूप को ही देखते हैं।

41वां प्रश्न : रूप किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : रूप 'हृदय' में प्रतिष्ठित है? क्योंकि हृदय के भावों के अनुसार ही कोई रूप प्रिय और कोई रूप अप्रिय लगता है।

शाकल्य : याज्ञवल्क्य, तुम ठीक कहते हो।

42वां प्रश्न : अच्छा, यह बताओ कि दक्षिण दिशा का देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : यम।

43वां प्रश्न : यम किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : यज्ञ में।

44वां प्रश्न : यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : दक्षिणा में।

45वां प्रश्न : दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : श्रद्धा में (क्योंकि दान या दक्षिणा श्रद्धानुसार ही दिया जाता है)।

46वां प्रश्न : श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : हृदय में।

शाकल्य : हां, ऐसा ही है।

47वां प्रश्न : पश्चिम दिशा का देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : वरुण।

48वां प्रश्न : वरुण किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : जल में।

49वां प्रश्न : जल किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : वीर्य में।

50वां प्रश्न : वीर्य किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : हृदय में, प्रकारांतर में आत्मा में (इसीलिए पुत्र को आत्मज या आत्मा से उत्पन्न कहा गया है।)

शाकल्य : याज्ञवल्क्य तुम ठीक कहते हो। (एवम ऐवतत्)

51वां प्रश्न : याज्ञवल्क्य उत्तर दिशा का कौन सा देवता है?

याज्ञवल्क्य : सोम।

52वां प्रश्न : सोम किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : दीक्षा में।

53वां प्रश्न : दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : सत्य में।

54वां प्रश्न : सत्य किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : हृदय में।

शाकल्य : ऐसा ही है याज्ञवल्क्य।

55वां प्रश्न : ध्रुव दिशा अर्थात् (आकाश में स्थित सर्वोच्च बिन्दु) का देवता कौन है?

याज्ञवल्क्य : अग्नि।

56वां प्रश्न : अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : वाक् में।

57वां प्रश्न : वाक् किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : हृदय में।

58वां प्रश्न : हृदय किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य को पुनः क्रोध आ गया और उसने क्रोध में ''अहल्लिक'' शब्द का उच्चारण किया (अहल्लिक संस्कृत में प्रेत के लिए प्रयोग किया जाता है) और कहा कि हृदय तो शरीर में ही प्रतिष्ठित है, यह तो सर्वविज्ञ है, यदि हृदय ही न हो, तो जीवन की सत्ता तुरंत समाप्त हो जाएगी और यह पुरुष न होकर कुत्ते, पक्षियों का भोजन मृत देह हो जाएगी।

59वां प्रश्न : अच्छा याज्ञवल्क्य, तुम शरीर में प्रतिष्ठित हो या हृदय में?

याज्ञवल्क्य : प्राण में।

60वां प्रश्न : प्राण किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : अपान में।

61वां प्रश्न : अपान का क्या आधार है?

याज्ञवल्क्य : व्यान।

62वां प्रश्न : व्यान किसमें प्रतिष्ठित है?

याज्ञवल्क्य : उदान में।

63वां प्रश्न : उदान किसमें समाहित है?

याज्ञवल्क्य : समान में। जिसका नेति-नेति कहकर वर्णन किया गया है।

अब अंत में याज्ञवल्क्य ने शाकल्य से कहा कि हे शाकल्य ! तुम मेरे एक प्रश्न का उत्तर दो कि आठ आयतन, आठ लोक, आठ देवों से युक्त यह औपनिषदिक पुरुष कौन है? यदि तुम मुझे स्पष्टतया न बतला सके, तो तुम्हारा मस्तक कट कर गिर जाएगा। शाकल्य तो तर्क हेतु प्रश्न पूछ रहा था, ज्ञान की श्रद्धा युक्त भावना से नहीं। अतः वह इस प्रश्न का उत्तर न दे सका और उसका सिर धड़ से अलग हो गया और उसकी तत्काल मृत्यु हो गई और इसके पश्चात् किसी अन्य ब्राह्मण का याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछने का साहस नहीं हुआ। इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य ने पुरुष शरीर की वृक्ष से तुलना करते हुए ब्रह्मज्ञान का सभा को उपदेश दिया और तत्पश्चात् सभा विसर्जित हो गई।

चतुर्थ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में जनक व याज्ञवल्क्य का प्रसिद्ध संवाद है, जिसमें ब्रह्म के विशिष्ट स्वरूपों की विविध विद्वान् ऋषियों द्वारा की गई व्याख्या को विदेहराज जनक याज्ञवल्क्य ऋषि को सनाते हैं—

एक दिन ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य विदेहराज जनक की सभा में पहुंचे और दान व सूक्ष्मान्त (ज्ञान श्रवण) की इच्छा प्रकट की। इस पर राजा जनक ने कहा कि शिलिक ऋषि के पुत्र जित्वा ने मुझे ब्रह्म का स्वरूप ''वाक्'' के रूप में उपदेश दिया था। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि राजन्, यह तो एक ही पादवाला ब्रह्म हुआ। मुझसे, आप विस्तार से इसका आयतन व प्रतिष्ठा भी जानिए। वाक् ही इसका आयतन है, आकाश प्रतिष्ठा है और ''प्रज्ञा'' रूप में इसकी उपासना करनी चाहिए। राजा जनक ने पूछा कि ऋषिवर प्रजा क्या होती है?

याज्ञवल्क्य : वाक् या वाणी ही प्रज्ञा है, क्योंकि इसी के माध्यम से हमें ऋक्, साम, यजुर्वेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, आशित, पाथित व बंधुत्व का ज्ञान होता है। लोक परलोक व समस्त भूतों का भी वाक् से ही ज्ञान होता है। यही वाक् का प्रज्ञा धर्म है। इस पर प्रसन्न होकर राजा जनक ने उन्हें 1000 गाएं दान में दीं।

जनक : शुल्ब ऋषि के पुत्र उदङ्क ने तो मुझे उपदेश दिया था कि ''प्राण ही ब्रह्म'' है।

याज्ञवल्क्य : राजन्! यह भी ब्रह्म का एक ही पाद है। इसका आयतन प्राण व प्रतिष्ठा आकाश है। इसकी "प्रिय" रूप में उपासना की जाती है। राजन्! प्राण के लिए या प्राणों को प्रिय लगने वाली वस्तु के लिए लोग अमात्य से भजन कराते हैं। प्रतिग्रह न लेने वालों से प्रतिग्रह लेते हैं। सदैव इनकी रक्षा को तत्पर रहते हैं। इसीलिए प्राणों को प्रिय कहा गया है।

जनक : वृष्ण के पुत्र वर्कु ने मुझे उपदेश दिया है कि चक्षु ही ब्रह्म है।

याज्ञवल्क्य : राजन्! यह भी एक ही पाद वाला ब्रह्म है। चक्षु ही इसका आयतन है और आकाश प्रतिष्ठा है और "सत्य" रूप में उपासना होती है। राजन् आंखों से देखे जाने पर ही मनुष्य किसी घटना या वस्तु को सत्य मानता है और कहता है, मैंने देखा है कि यह "सत्य" है। अतः इनकी सत्य के रूप में प्रतिष्ठा है।

द्वितीय ब्राह्मण

इस ब्राह्मण ग्रंथ में विदेहराज जनक पुनः याज्ञवल्क्य ऋषि के समीप जाकर उनसे उपदेश की प्रार्थना करते हैं। इस पर याज्ञवल्क्य उनसे यह प्रश्न पूछते हैं, 'हे राजन्! जिस प्रकार लंबे मार्ग पर जाने वाला यात्री रथ या नौका आदि के साधन के द्वारा अपने गंतव्य पर पहुंचता है, उसी प्रकार भवसागर रूपी मार्ग को पार करने के लिए तुमने वेद व उपनिषदों के ज्ञान रूपी रथ का साधन तो कर लिया है, परंतु तुम्हारा गंतव्य स्थान क्या है? तुम्हारी यात्रा कहां समाप्त होगी? तुम इस शरीर को छोड़कर कहां जाओगे?

इस पर जनक ने कहा—मुनिश्रेष्ठ! यह तो मुझे ज्ञात नहीं। आप ही कृपा कर बतलाएं। इसके पश्चात् याज्ञवल्क्य मुनिवर जो कहते हैं, वह कूट भाषा या सांकेतिक भाषा के माध्यम से योग मार्ग द्वारा मोक्ष तक पहुंचने की यात्रा का वर्णन है।

याज्ञवल्क्य मुनि : राजन्! यह जो दक्षिण नेत्र में पुरुष है, उसका नाम इन्ध है, जिसे परोक्ष रूप में इन्द्र कहते हैं, इन्ध नहीं, क्योंकि देवता परोक्ष प्रिय हैं और प्रत्यक्ष से वह द्वेष रखते हैं (संकेत यह है कि योग साधना पूर्णतः गुप्त रखनी चाहिए और योग सिद्ध होने पर भी किसी को उसके बारे में नहीं बताना चाहिए अन्यथा सिद्धि तुरंत समाप्त हो जाती है।) बायां नेत्र इन्ध की पत्नी विराट है और दोनों के मिलने का वह हृदयांतर्गत आकाश है। इन दोनों का यह संगम ही भावी संचार का मार्ग है, जिससे यह हृदय के माध्यम से शरीर के अंग-अंग तथा रोम-रोम में व्याप्त हो जाता है। इसके पूर्व में प्राण है, पश्चिम में भी प्राण है, उत्तर में भी प्राण है तथा दक्षिण में भी, इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, न तो संसार में इसकी किसी वस्तु से तुलना ही की जा सकती, इसीलिए यह सांसारिक पदार्थों की दृष्टि से नहीं है। नेति-नेति रूप में इसका वर्णन किया जा सकता है। यह अशीर्य और असंग है, यही सत्य है। यही तेरा गंतव्य है।

साधारण तौर पर पढ़ने से याज्ञवल्क्य ऋषि का कथन समझ में नहीं आता, जिसके लिए वह प्रारंभ में ही संकेत दे चुके हैं कि देवताओं के कार्य परोक्ष रूप से ही सिद्ध होते हैं। वस्तुतः कथा का अर्थ है कि दाईं आंख व बाईं आंख का मिलान जहां पर होता है, अर्थात् जहां पर यौगिक रूप से आज्ञा चक्र स्थित है, उस पर ध्यान करने से रोम-रोम में व्याप्त प्राण की वास्तविक अनुभूति होती है और योगी इन प्राणों को योगबल के द्वारा ऊर्ध्वगति से सहस्रार चक्र में स्थित वदांध के भेदन के द्वारा जब शरीर से त्यागता है, तो मोक्ष की प्राप्ति होती है, वहमरंध्र में शिव का आवास है, वह भौतिक संसार में काशी है। प्रसिद्धि है कि काशी में मरने से मुक्ति होती है, परंतु क्यूं? काशी और ब्रह्मरंध में क्या समानता है? वस्तुतः काशी की ऐसी भौगोलिक स्थिति है कि वहां गुरुत्वाकर्षण बल गंगा की उत्तरवाहिनी होने के क्षेत्र के काफी क्षीण है और मृत्यु के समय आत्मा अन्य स्थानों पर साधारण पुरुषों के लिए (योगियों को छोड़कर) गुरुत्वाकर्ष बल की प्रबलता के कारण ऊर्ध्वगामी न होकर अधोगामी हो जाती है और ब्रह्मरंध के मार्ग से शरीर को नहीं त्याग पाती, जबकि काशी में यह बल क्षीण होने के कारण सहज ही ब्रह्मरंध से शरीर को त्याग देती है। इसी कारण काशी में प्राण त्याग को प्रकारांतर में मुक्ति प्रदायक मानने की परंपरा हो गई है। शरीर में आत्मा इसी मार्ग से प्रवेश करती है (विदृति मार्ग द्वारा—देखें ऐतरेयोपनिषद्) और यही इसके त्याग का मार्ग होना चाहिए। इसी मार्ग की याज्ञवल्क्य ऋषि चर्चा करते हैं।

तृतीय ब्राह्मण

यह ब्राह्मण भी याज्ञवल्क्य ऋषि और विदेहराज जनक के बीच हुए संवाद के माध्यम से आत्मा के स्वरूप को बहुत ही तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है।

चर्चा प्रारम्भ करते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि से विदेहराज पूछते हैं कि हे ऋषिवर! यह पुरुष सबकुछ ज्योति या प्रकाश के माध्यम से ही देखता है व अनुभूत करता है, वह ज्योति किसकी है? यह पुरुष किस ज्योतिवाला है?

याज्ञवल्क्य : यह सर्वविदित है कि आदित्य या सूर्य की ज्योति से ही यह उठता-बैठता और अन्य सब कर्म करता है।

विदेहराज : यह तो ठीक है ऋषिवर परंतु आदित्य के अस्त होने पर किसका प्रकाश सहायक होता है, तब यह किस ज्योति वाला होता है।

याज्ञवल्क्य : स्वाभाविक रूप से सूर्यास्त के पश्चात् यह चन्द्रमा की ज्योति से उठता-बैठता व अन्य सभी कर्म करता है।

विदेहराज : यह तो ठीक है ऋषिवर, परंतु रात्रि में सूर्य व कृष्णपक्ष तथा अमावस्या को तो चंद्रमा भी अस्त हो जाता है, तब यह किस ज्योति का आश्रय लेता है?

याज्ञवल्क्य : इन दोनों के अस्त होने पर यह अग्नि से उत्पन्न होने वाला प्रकाश का आश्रय लेता है। उसी के प्रकाश के माध्यम से इसके कर्म होते हैं।

विदेहराज : यह तो ठीक है राजन्, परंतु यदि सूर्य भी अस्त हो, चंद्र भी अस्त हो और अग्नि भी शांत हो अर्थात् प्रकाश या ज्योति की किसी प्रकार से भी कोई संभावना न हो, तो यह पुरुष किस प्रकार अपना कर्म व्यापार करता है अथवा गहन अंधकार में मनुष्य कैसे अपने अस्तित्व को प्रकट करता है?

याज्ञवल्क्य : ऐसे में मनुष्य की वाणी ही उसका ज्योति रूप प्रकाश हो जाती है, क्योंकि वाणी या आवाज के द्वारा ही पूर्ण अंधकार में मनुष्य सहज ही पुकार उठता है कि 'मैं यहां हूं' और इस आवाज के माध्यम से ही दूसरा उस तक पहुंच सकता है या गहन अंधकार में यदि कोई भी आए, तो या तो किसी वस्तु के उससे टकराने से कोई आवाज होगी या उसके पद-चाप की। हर परिस्थिति में आवाज़ ही उस समय प्रकाश का कार्य करती है।

विदेहराज : यह भी ठीक है, परन्तु यदि सूर्य, चन्द्र, अग्नि व वाणी ये चारों ही न हों, तो फिर इस पुरुष की ज्योति कौन होता है? ऐसी स्थिति योगी की होती है। ध्यानमय योग निद्रा में जिसे तुरीयावस्था भी कहते हैं, उस समय योगी न तो जाग रहा होता है, न सो रहा होता, न देख रहा होता है, न सुन रहा होता है परन्तु वह पूर्ण चैतन्य होता है।

याज्ञवल्क्य : विदेहराज! ऐसी स्थिति में आत्मा ज्योतिस्वरूप हो जाती है अर्थात् आत्मा जो स्वयं ब्रह्म का नैसर्गिक तेज है, वही कर्म व्यापार कराता है।

विदेहराज : पूज्य ऋषिवर, 'आत्मा' कौन है? आत्मा क्या है?

याज्ञवल्क्य : राजन्! प्राणों के द्वारा मन व बुद्धि की वृत्तियों के अनुरूप शरीर के हृदयाकाश में स्थित विज्ञानमय आनंदमय ज्योति का घनीभूत बिंदु स्वरूप पुरुष ही आत्मा है, जो लोक-लोकान्तरों में भ्रमण करती रहती है। यह लिप्त भी है और निर्लिप्त भी है। जब तक इस देह में यह स्थित रहती है, तब तक मन व बुद्धि की इच्छा व तर्क के अनुरूप यह चिंतन व विचारों को जन्म देती है व प्राणों के माध्यम से इंद्रियों को तदनुरूप चेष्टा कराती है। राजन! गहन निद्रा के समय वह अस्थायी रूप से इस शरीर को व इस लोक को त्यागकर लोक-लोकान्तर की यात्रा करती है। इसी कारण उस समय मन व बुद्धि चिंतन व विचार शून्य हो जाते हैं तथा इंद्रियां चेष्टा विहीन। उस समय यह आत्मा स्वयं अपने लिए वासनामय शरीर की रचना कर लेता है अर्थात् जैसी वासना या इच्छा मन में अचेत होते समय होती है, उसी के अनुरूप यह वासनामय शरीर के द्वारा एक नए लोक की रचना कर लेता है। कभी इस वासनामय शरीर के द्वारा वह मित्रों के साथ हंसता है, कभी भयभीत होता है, कभी स्त्रियों के साथ रमण करता है, तो कभी अपने मृत संबंधियों से मिलता है। सांसारिक लोग यही सोचते हैं कि वह सो रहा है, परंतु कोई भी

नहीं देख पाता कि 'वह' (आत्मा) क्या देख रहा है, यहां याज्ञवल्क्य ऋषि सावधान करते हुए कहते हैं कि इसीलिए वैद्य भी यही कहते हैं तथा **यह सत्य भी है कि सोए हुए व्यक्ति को कभी भी सहसा एकदम न जगाएं** क्योंकि ऐसा करने से आत्मा को शरीर में प्रविष्ट होकर मन व प्राण को सक्रिय करने का उचित समय नहीं मिल पाता और शरीर दुश्चिकित्स्य हो जाता है। जब वासनामय शरीर की तृप्ति हो जाती है, तो आत्मा स्वतः ही इस देह में प्रविष्ट कर जाती है और जीव को निद्रा से चेतन अवस्था में ले आती है। जिस प्रकार इस आत्मा को स्वप्न में किए गए पाप पुण्य से जागृत अवस्था में कोई संबद्धता नहीं रहती और जागृत अवस्था के पाप पुण्य से स्वप्नावस्था में कोई संबद्धता नहीं रहती, वैसे ही यह आत्मा पाप व पुण्य से पूर्णतः असंग है। जैसे कोई मछली दोनों तटों से संबद्ध हुई नदी में विचरण करती हुई भी दोनों तटों से संबद्ध नहीं होती, वैसे ही पाप-पुण्य से आत्मा संबद्ध नहीं रहती। अन्त में याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि हे राजन्, जैसे बहुत अधिक बोझ लाद देने पर छकड़ा शब्द करने लगता है, वैसे ही यह भेदी आत्मा कर्मों के मार से शरीर को छोड़ते समय श्वास के माध्यम से शब्द करती है और शरीर को त्याग कर चली जाती है, इस देह से पूर्णतः असंबद्ध, अनिर्लिप्त एवं असंग।

चतुर्थ ब्राह्मण

यहां आत्मा के शरीर को त्यागने से कुछ समय पूर्व की शारीरिक स्थिति का वर्णन करते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं। इंद्रियों में व्याप्त तेज को आत्मा समेटकर हृदयक्षेत्र में स्वयं में समाहित कर लेती है और लिंग शरीर का निर्माण कर लेती है। यही लिंग शरीर आत्मा को व्याप्त कर शरीर से उत्क्रमण कर जाता है। जब चक्षु-इंद्रियों का तेज लिंग शरीर में व्यापक हो जाता है, तो सांसारिक लोग कहने लग जाते हैं कि इसे दिखना बन्द हो गया है। जब घ्राणेन्द्रिय या नासिका का तेज लिंग शरीर में समाहित हो जाता है, तो लोग कहने लग जाते हैं कि इसकी सूंघने की शक्ति समाप्त हो गई है। इसी प्रकार वाक् इंद्रिय के तेज के विलुप्त होने पर लोग कहने लग जाते हैं कि इसमें बोलने की शक्ति नहीं रही। ऐसे ही जिह्वा व कान की शक्ति भी शनैः-शनैः विलुप्त हो जाती है, अंत में मन भी आत्मा में एकीकृत होकर एकरूप हो जाता है और जीव कुछ भी नहीं सोच पाता, दिग्भ्रमित हो जाता है और अंत में जब बुद्धि भी लिंग शरीर के आत्मतेज में विलीन हो जाती है, तो वह सबको पहचानना बंद कर देता है। अब आत्मा शरीर से उत्क्रमण का मार्ग ढूंढ़ती है और यह अंग जिससे आत्मा शरीर त्यागती है, विशेष तेज से प्रभावित हो जाता है। यदि आंखों के मार्ग से आत्मा शरीर को त्याग कर जाती है, तो नेत्र विशेष रूप से खुल जाते हैं मुख से शरीर त्यागने पर मुख विशेष रूप से खुल जाता है। ऐसे ही अन्य अंगों के साथ होता है। उसके पश्चात् प्राण शरीर का उत्क्रमण कर देते हैं, इस

समय आत्मा विशेष चेतनामय व विज्ञानवान होती है। इस समय आत्मा पर लिंग शरीर का आवरण होता है जिसमें कर्म, ज्ञान व पूर्वप्रज्ञा तथा संस्कारों (अर्थात् इस जीवन में अनुभूत विभिन्न विषयों, इच्छाओं व वासनाओं) की प्रबलता होती है। इसी कारण शरीर त्याग के समय जो इच्छा या वासना प्रबलतम होती है, उसी ओर लिंग शरीर आत्मा को ले जाता है। इसके पश्चात् विभिन्न उदाहरण देते हुए ऋषिवर कहते हैं कि जैसे स्वर्णकार सुवर्ण को पिघलाकर नए नवीन कल्याणतर रूप की रचना करता है, वैसे ही यह आत्मा इसके शरीर की पंचभूतों से रचना कर लेती है। इस मनुष्य की संकल्पशक्ति की विराटता का अनुभव करते हुए ऋषिवर कहते हैं कि यह मन जैसी भी कामना या संकल्प करता है या जिस इच्छा या वासना या अभिलाषा पर मन विशेष रूप से आसक्त होता है, वह उसे प्राप्त अवश्य होती है—चाहे इस जन्म में न हो, फिर कभी किसी जन्म में हो, परन्तु वह पूर्ण अवश्य होती है। कामना का संकल्प बीज कामना की पूर्ति से पूर्व समाप्त नहीं होती भले ही वह सुषुप्त अवस्था में रहे। कभी-कभी तो जीव को कर्म फलों की प्राप्ति के पश्चात् किसी शेष अभिलाषा या इच्छा के लिए इस लोक में पुनः जन्म लेना पड़ता है और उस जन्म में पुनः कुछ अतृप्त कामनाएं अगले जन्म के लिए बाध्य कर देती है और उसे जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति ही नहीं मिलती। अब ऋषिवर उन पुरुषों के विषय में कहते हैं कि जो पुरुष निष्काम, अकाम, आप्तकाम व आत्मकाम होते हैं, वे मनचक्र से मुक्त होकर ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। इसीलिए गीता निष्काम कर्म योग पर बल देती है।

पंचम् ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य व मैत्रेयी का संवाद है, जो द्वितीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण के समान ही है। अतः यहां उसका विस्तृत विवेचन अपेक्षित नहीं है।

षष्ठम् ब्राह्मण

इसमें याज्ञवल्कीय कांड की गुरु शिष्य परंपरा का वर्णन है।

खिलकांडःतृतीय कांड

पंचम् अध्याय

यह खिल भाग के अंतर्गत आता है और इसमें छोटे-छोटे किंतु महत्त्वपूर्ण 15 ब्राह्मण ग्रंथ हैं।

प्रथम ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में ब्रह्म की पूर्णता की चर्चा की गई है। पूर्णता से वस्तुतः तात्पर्य है कि वह स्थिति विशेष, जिसमें न तो कुछ जोड़ा जा सके और न ही उससे कुछ ग्रहण करके उसे कम किया जा सके। जैसे 0 में से कुछ घटाने पर 0 ही रहेगा और 0 में कुछ जोड़ने पर वह भी शून्य ही रहेगा। ऐसे ही ब्रह्म के विषय में कहा गया है कि पूर्ण ब्रह्म से पूर्ण ही उत्पन्न होता है। इस पूर्ण में से पूर्ण को निकालने पर भी पूर्ण ही शेष रहता है।

"ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।"
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।"

(यह प्रसिद्ध मंत्र वृहदारण्यक उपनिषद् के पांचवे अध्याय के प्रथम वाक्य की प्रथम मंडिका का पूर्वार्द्ध रूप है।)

पुनः कहा गया है कि आकाश ही ब्रह्म ॐकार है, क्योंकि वायु आकाश में व्याप्त है और ॐकार वायु के माध्यम से ही जीव की गात्रवीणा में और संसार में दारुवीणा (दारु=लकड़ी) गुंजायमान होता है। आकाश ही 'ख' है ओर मन ही खग है। ऐसा कथन कौरव्यामणीयुक्त का है। यह ॐकार ही वेदों में निहित सर्वस्व ज्ञान है, क्योंकि जो भी ज्ञातव्य है, उसका ज्ञान इसी से होता है।

द्वितीय ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में मनुष्य की चित्त वृत्तियों के अनुरूप विद्या की चर्चा की गई है। देवताओं, असुरों व मनुष्यों में ब्रह्मचर्य का पालन करने के पश्चात् प्रजापति से उपदेश की प्रार्थना की। तीनों के लिए प्रजापति ने उपदेश में केवल एक अक्षर 'द' का उच्चारण किया। इसके पश्चात् प्रजापति ने उनसे पूछा कि आप इस एक अक्षर से मेरा क्या अभिप्राय समझे?

देवताओं ने कहा : हमने इसका अभिप्राय 'दमन' (करो) इससे लिया है, क्योंकि देवता भोग प्रधान होते हैं, अतः उन्हें इंद्रियों के दमन का उपदेश है।

मनुष्यों ने कहा : हमने इसका अभिप्राय 'दान' (करो) इससे लिया है, क्योंकि मनुष्य संग्रहप्रधान प्रवृत्ति के होते हैं, अतः उन्हें दान करना चाहिए।

असुरों ने कहा : हमने इसका अभिप्राय 'दया' (करो) इससे लिया है, क्योंकि असुरी हिंसाप्रधान प्रवृत्ति के होते हैं, अतः उन्हें दया करनी चाहिए।

इस कथन का एक अन्य अभिप्राय सात्विक, राजसिक व तामसिक प्रवृत्तियों से है। सात्विक प्रवृत्ति इन्द्रियों के नियंत्रण से जन्म लेती है, राजसिक प्रवृत्ति दान प्रधान होती है और तामसिक प्रवृत्ति में दया व सहिष्णुता की अपेक्षा होती है।

तृतीय ब्राह्मण एवं चतुर्थ ब्राह्मण

तृतीय व चतुर्थ ब्राह्मण में क्रमशः हृदय व सत्य की ब्रह्म रूप में उपासना का बहुत ही संक्षिप्त उपदेश है।

पंचम् ब्राह्मण

पंचम से लेकर द्वादश ब्राह्मण तक के 8 ब्राह्मणों में क्रमशः सत्य की आदित्य रूप में, मनोमय पुरुष की, विद्युत की ब्रह्म रूप में, वाक् की गाय धेनु रूप में, अंतरस्थ स्थित वैश्वानर अग्नि की, मरणोत्तर ऊर्ध्व गति का, मृत व्यक्ति के श्मशान गमन में पुण्य प्राप्ति का तथा अन्न व प्राण की ब्रह्म रूप में उपासना का वर्णन है।

त्रयोदश ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में प्राण की विविध रूपों में यथा उक्थ, यजुः, साम, क्षम आदि के रूप में उपासना का विवरण है।

चतुर्दश ब्राह्मण

चतुर्दश ब्राह्मण में गायत्री उपासना के महत्त्व पर चर्चा की गई है।

पंचदश ब्राह्मण

इसमें अंतिम समय में प्राणांत के समय उत्तरायण से ब्रह्म तक पहुंचने की प्रार्थना की गई है।

षष्ठ अध्याय

प्रथम ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में छांदोग्य उपनिषद् की भांति प्राण की सर्वश्रेष्ठता पर बल दिया गया है तथा वाक्, श्रोत, चक्षु, रेतस आदि सभी से प्राण को ही सर्वश्रेष्ठ व वसिष्ठा स्वीकार किया गया है।

द्वितीय ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में पंचाग्नि विद्या व उसे जानने का फल व उसकी विविध गति का श्वेतकेतु व प्रवाहण के मध्य संवाद के द्वारा वर्णन है।

तृतीय ब्राह्मण

छठे अध्याय का यह तीसरा ब्राह्मण विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। इसमें मंथ विद्या का वर्णन है, जिसके ज्ञान होने पर निश्चित रूप से जो मनोकामना हो या इच्छा हो, वह पूर्ण होती है। अपुत्रार्थी को पुत्र लाभ होता है, रुग्ण की रोग से मुक्ति हो जाती है। इसी ब्राह्मण में यहां तक कहा गया है कि यदि इस मंथ को किसी वृक्ष के सूखे ठूंठ पे डाल दिया जाए, तो वह वृक्ष भी हरा-भरा हो जाता है, मनुष्य की तो बात ही क्या है? मृत्यु भय का पूर्ण निवारण होकर व्यक्ति पूर्ण आयु को भोगता है। यह विधि अत्यंत गोपनीय मानी गई है और इसे विशेष परिश्रम से पूर्ण रूप से स्पष्ट करके विधिपूर्वक इसका वर्णन लोकहितार्थ देवाज्ञा से किया जा रहा है।

मंथ विद्या का क्रमिक विवरण इस प्रकार है :

1. उत्तरायण में शुक्ल पक्ष में शुभ पुण्यमय तिथि पर (यथा रवि पुष्य, गुरु पुष्य, रविहस्त आदि) सर्वप्रथम 12 दिन केवल दुग्ध पर आश्रित होकर व्रत करे (केवल गो दुग्ध, दुग्ध मिष्ठान व भैंस का दुग्ध वर्जित है) व पूर्णतयः ब्रह्मचर्य का पालन करें। रजस्वला स्त्री का बंधन है।
2. इसके पश्चात् गूलर की लकड़ी का कटोरे जैसा पात्र बनाएं और उसमें एकत्रित विभिन्न सर्वौषधियां, फल व सामग्री को एकत्रित करके रखें।
3. यज्ञशाला में लौह का प्रयोग वर्जित है। फूस से बनी यज्ञशाला में कुश से ही सफाई की जाए (झाडू या किसी अन्य उपाय से कदापि नहीं)।
4. फिर जल व गोबर से वेदी को लीपा जाए तथा अग्निस्थापना की जाए।
5. अग्निस्थापन से पूर्व पंचगव्य का पान करे।
6. अग्नि के चारों ओर कुश बिछाकर घृत का शोधन करे।
7. अब किसी पुल्लिंग नामक नक्षत्र यथा हस्त, पुष्य आदि के नाम का हवन करे। स्त्रीलिंग नामक नक्षत्र तथा अनुराधा, रोहिणी आदि में हवन न करे।
8. मन्थ अर्थात् गूलर के पात्र में रखी सर्वौषधि व सामग्री को अपने व अग्नि के मध्य रखे (स्वाहा के पश्चात्)
9. तत्पश्चात् सर्वप्रथम इस मंत्र का पाठ करते हुए हवि डाले :

यावन्तो देवास, त्वयि जातवेदह।
तिर्यानको घन्नती पुरुषाय कामान्।।
तेभ्योहम् भागदेयम् जूहोमिः
ते मा तृप्थ सर्वेह कामेस तर्प्यन्तुः स्वाहा।। 1।।
या तिरश्चि निपादयते अहम् विदहारणिती
तम् त्वा घृतस्य धार्यय
यजे समराधनिम् अहम् स्वाहा।। 2।।

ज्येष्ठाय स्वाहा, श्रेष्ठाय स्वाहा...
प्राणाय स्वाहा, वशिष्ठययी स्वाहा...
वासे स्वाहा, प्रतिष्ठयायी स्वाहा...
चाक्षुये स्वाहा, सम्पादे स्वाहा...
श्रोतय स्वाहा, आयतनाय स्वाहा...
मानसे स्वाहा, प्रजात्ययि स्वाहा...
रेतसे...इन मंत्रों के द्वारा आहुति दें–
अग्नेय स्वाहा इति...
सोमाय स्वाहा इति...
भू स्वाहा इति...
भूवः स्वाहा...
स्वः स्वाहा...
भूर्भुवः स्वः स्वाहा...
ब्रह्मणे स्वाहा...
क्षत्राय स्वाहा...
भूताय स्वाहा...
भविष्यते स्वाहा...
विश्वाय स्वाहा...
सर्वाय स्वाहा...
प्रजापत्तये स्वाहा...

इसके पश्चात् निम्नलिखित मंत्रों द्वारा मंथ का केवल स्पर्श करना है, आहुति नहीं देनी है।

भ्रमदसि, ज्वालादसि, पूर्णमसि, ...निधनमसि

इसके पश्चात् निम्नलिखित मंत्रो द्वारा मंथ को हाथों में रखकर ऊपर उठाना है।

आमꣳसि आमꣳसि...करोत्व इति्।

इसके पश्चात् निम्नलिखित मंत्रों द्वारा मंथ का पान करे। (मुख से लगाकर पिए) मंत्रों के उच्चारण के समय मंथ का केवल तीन ग्रासों में भक्षण करना है।

तत्सवितुर्वरेण्यम् मधु वाता ऋतायते...स्वः स्वाहा

इसके पश्चात् संपूर्ण गायत्री मंत्र 'मधुवाता ऋतायते' इत्यादि समस्त मधुमती ऋचाओं का पाठ करे तथा 'अहमेवेदं सर्व भूयासम् भूर्भुवः स्वाहा' इस मंत्र का उच्चारण करके शेष बचे संपूर्ण मंथ का भक्षण कर ले (खा ले)। इसके पश्चात् हस्त प्रक्षालन करके (हाथ धोकर) अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्व की ओर सिर करके बैठे। प्रातःकाल में 'दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मानुण्यनम् एक पुण्डरीकम् भूष्यमति' इस मंत्र द्वारा सूर्य

भगवान को नमस्कार करे। फिर उसी मार्ग से जिससे गया है, लौटकर अग्नि के पश्चिम भाग में बैठकर निम्नलिखित वंशावली का जाप करे।

मंथ विद्या का उपदेश सर्वप्रथम उद्दालक आरुणि ने अपने शिष्य वाजसनेय याज्ञवल्क्य को दिया। याज्ञवल्क्य ने इसका उपदेश अपने शिष्य मधुक पैङ्गय को दिया। मधुक पैङ्गय ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को, चूल भागवित्ति ने जानकि आयस्थूण को, जानकि आयस्थूण ने सत्यकाम जाबालि को, और उन्होंने आगे अपने शिष्यों को दिया। इस मंथ विद्या को पुत्र या शिष्य के अतिरिक्त किसी अन्य को उपदेश न दें।

इस मंथकर्म में औदुम्बर या गूलर की प्रधानता है। औदुम्बर का स्रुव, औदुम्बर का चमस, औदुम्बर का इध्म, औदुम्बर की ही दो उपमन्थनी होती है।

धान, यव, तिल, उड़द, सावां, प्रियङ्गु, गेहूं, मसूर, खल्व और कुलथी यह दस अन्न प्रयुक्त होते हैं। इन्हें पीसकर दही, शहद व घृत में मिलाकर हवन किया जाता है।

चतुर्थ ब्राह्मण

यह ब्राह्मण भी इस उपनिषद् के सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मणों में से एक है और इसमें मनवांछित संतान की प्राप्ति व गर्भनिरोध (अर्थात् न चाहने पर संतान न होने) में प्रयुक्त होने वाले मंत्रों की विवेचना है। आज के समय में गर्भनिरोध के लिए न जाने कैसी-कैसी औषधियों व तामसिक क्रियाओं का वर्णन है, परन्तु यहां केवल एक मंत्र के उच्चारण मात्र से संभोग करने पर पत्नी के गर्भवती न होने का उपाय है। कितना उन्नत था भारत का मंत्र विज्ञान। यह उसकी एक झलक मात्र है। इस ब्राह्मण में स्त्री प्रसंग या संभोग को भी यज्ञ प्रक्रिया की भांति वर्णित किया है, जो वास्तव में गहन अध्ययन, मनन व निदिध्यासन का प्रमाण है।

ब्राह्मण इस कथन से प्रारंभ होता है कि समस्त भूतों का रस या सार पृथ्वी है। पृथ्वी का सार जल है, जल के व पृथ्वी के संयुक्त रस में वनस्पतियों व औषधियों का पालन होता है। इन वनस्पतियों व औषधियों का रस पुष्प रूप में प्रस्फुटित होता है। पुष्प का रस फल है (यथा गेहूं की बाली में गेहूं, आम के वृक्ष में आम का फल) फल को खाकर अर्थात् उसका रस ग्रहण करके पुरुष वृद्धि को प्राप्त होता है। पुरुष का वीर्य या शुक्र है, इस शुक्र को ही स्त्री आधार प्रदान करती है। संभोग भी एक यज्ञ क्रिया है, इसका वर्णन करते हुए ब्राह्मण के तृतीय श्लोक में कहा गया है कि संभोग क्रिया में योनि ही हवन/यज्ञ-वेदिका है, स्वयं स्त्री अग्नि स्वरूपा है और संभोग यज्ञ की अग्नि योनि में प्रकट होती है। यद्यपि वैज्ञानिक कारण भी समानार्थक ही है, परंतु फिर भी कहा गया है कि यह अग्नि शुक्र की हवि से ही शांत होती है। यही कारण है कि गर्भवती होने पर अग्निस्वरूप रजस्राव शांत हो जाता है, अन्यथा प्रतिमास वह शरीर से निकलता है। पुरुष शरीर ही इस यज्ञ रूपी

वेदिका पर आकाश स्वरूप हो जाता है। उसका शुक्र ही यज्ञ में दी जानें वाली हवि है। लिंग ही स्त्रुवा है। यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि लिंग शब्द के बारे में हिंदू समाज में विभिन्न प्रकार की भ्रांतियां प्रचलित हैं। मसलन शिवलिंग का अर्थ शिव की जननेंद्रिय से है तथा सामान्यतः लिंग का अर्थ जननेन्द्रिय है। लिंग वस्तुतः संस्कृत का विशुद्ध शब्द है, जिसका अर्थ चिह्न या प्रतीक है। **'लयं गच्छतीति लिङ्गम्'** की व्युत्पत्ति से इसका नाम लिंग रखा गया है। इसे भली-भांति समझने के लिए हमें कर्म, पुर्नजन्म व संस्कारों के अतर्संबंध को समझना पड़ेगा। मनुष्य जैसा भी अच्छा या बुरा कार्य करता है, उसके कुछ संस्कार बनते हैं जिन्हें भाव, प्रवृत्ति या प्रकृति कहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि कर्म या संस्कार तो शरीर से होते हैं और शरीर तो मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है, फिर कर्म फल व संस्कारी कैसे दूसरे जन्म में प्राप्त होते हैं, यहीं पर लिंग शरीर का महत्व प्रकट होता है। आत्मा तो कर्म व संस्कारों से निर्लिप्त है। परंतु आत्मा के शरीर त्यागने पर यह आत्मा पर एक आवरण की भांति लिपट जाता है। इसकी रचना में 18 तत्व होते हैं और मन, दसों इंदियों व पांचों तन्मात्राओं का भी बीज रूप में अंश विद्यमान रहता है। एक जन्म की साधना, देखे गए दृश्य, सुनी गई ध्वनियां कभी भी किसी जन्म में प्रकट हो सकती हैं, क्योंकि यह लिंग शरीर प्रत्येक जन्म में एक आवरण से आत्मा को ढक देता है और वास्तविक मोक्ष इस आत्मा की लिंग शरीर से निवृत्ति है या फिर प्रलय आने पर ही इसका नाश होता है, जब संपूर्ण आत्मा तत्व हिरण्यगर्भ में विलीन हो जाता है। पुरुष जननेंद्रिय को लिंग कहने का तात्पर्य यही है कि वह पिता के संस्कारों व भावों को पुत्र में स्थानांतरित करता है, इसीलिए पुत्र को आत्मज यानी आत्मा से उत्पन्न कहा जाता है, न कि शरीर या शरीर से उत्पन्न। आज विज्ञान भी स्वीकार करता है कि शरीर के नष्ट हो जाने पर भी शीत कक्षों में संरक्षित वीर्य से संतान जन्म ले सकती है। यही लिंग का रहस्य है।

अब यहां पर सर्वप्रथम मंत्र उन पुरुषों के लिए है जिनका वीर्य स्वप्नदोष आदि कारणों से क्षय हो जाता है और उन्हें इस क्षयवीर्य की पुनर्प्राप्ति चाहिए। इसके अतिरिक्त स्पष्टतः कहा गया है कि इस मंत्र के पाठ से स्वप्न दोष आदि नहीं होते।

''यन्मेटद्य रेतः पृथिवीम्स्स्कान्तसीद्यदोषधीरप्यसरद्यदपः, इदमहं तद्रेत आददे।
पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्त्तेजः पुर्नभगः। पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्ताम्।

इसी बीच यदि जल में अपनी छाया दिखाई दे तो **'मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणः सुकृतम।''** इस मंत्र का पाठ करना चाहिए, इससे धन व यश में वृद्धि होती है।

ऋतुधर्म के पश्चात् स्त्री से अपनी अभिलाषा पूर्ति से पूर्व

'इन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामि' इस मंत्र का उच्चारण करने से निश्चय ही यशस्वी पुत्र प्राप्त होता है।

यदि पुरुष व स्त्री, दोनों सन्तान नहीं चाहते या गर्भ निरोध चाहते हैं, तो संभोगक्रिया में उसके मुख से मुख लगाकर निम्नलिखित मंत्र का उच्चारण करें तो गर्भ कभी भी स्थापित नहीं होगा।

'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आददे'

यदि पुरुष चाहता है कि उसका पुत्र गौरवर्णी हो, एक वेद का जाननेवाला हो और दीर्घायु हो, तो ऋतुधर्म के उपरांत संभोग तक दूध चावल की खीर घी मिलाकर पति-पत्नी दोनों को खानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त दही में चावल पकाकर खाने से व जल में चावल पकाकर घी में मिलाकर खाने से पुत्र ही होता है।

यदि पति-पत्नी विदुषी कन्या या पुत्री चाहते हैं, तो उन्हें तिल के चावल की खिचड़ी बनाकर खानी चाहिए।

इसके पश्चात् स्थलीपाक विधि के अनुसार घी शोधन व चरुपाक बनाकर अग्नि को आहुतियां देने का विधान है तथा शेष चरु, पत्नी द्वारा अभ्युक्षण करने की विधि है। इसके पश्चात् प्रसव व नामकरण की विधि का वर्णन है जिसके द्वारा व्यक्ति यश, श्री, ब्रह्मतेज को प्रात करता है।

पंचम् ब्राह्मण

इस ब्राह्मण में उपनिषद् की गुरु शिष्य परम्परा का वर्णन है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

जाबालोपनिषद्

सात खंडों के इस संक्षिप्त उपनिषद् में प्रथम तीन खंडों में बृहस्पति, अभि व ब्रह्मचारियों तथा याज्ञवल्क्य ऋषि के मध्य हुए वार्त्तालाप को संकलित किया गया है। शेष चार खंड याज्ञवल्क्य उपनिषद् के ही प्रारंभिक अंश हैं। अतः उनकी पुनरावृत्ति नहीं की गई है। इस उपनिषद् में श्लेषात्मक भाषा में अविमुक्त शब्द का रहस्यमय अर्थ दिया गया है। अविमुक्त काशी या वाराणसी की भी संज्ञा है, यहां याज्ञवल्क्य ऋषि ने उसे प्राण-क्षेत्र की भी संज्ञा दी है।

प्रथम खंड

बृहस्पति : देवताओं का क्षेत्र कौन सा है? देवयजन क्या है? ब्रह्मसदन क्या है?

याज्ञवल्क्य : अविमुक्त ही देवताओं का क्षेत्र है—**एक अर्थ**

बिना मुक्त हुए प्राण रूपी देह ही देवताओं का क्षेत्र है—द्वितीय अर्थ

(दशाश्वमेध घाट) ही देव यज्ञ है।—एक अर्थ

5 ज्ञानेन्द्रिय + 5 कर्मेन्द्रिय=दस यही मन रूपी/प्राण रूपी देवों का यज्ञ है। प्राणों के शरीर त्यागने पर रुद्र तारक ब्रह्म का उपदेश देता है।

अग्नि : अनंत व अव्यक्त आत्मा को किस प्रकार जाना जाए?

याज्ञवल्क्य : अविमुक्त की उपासना करके।

अग्नि : अविमुक्त कहां स्थित है

याज्ञवल्क्य : यह वरुणा व असी के बीच स्थित है। वाराणसी भी भौगोलिक रूप से वरुणा व असी के मध्य स्थित है।

अग्नि : वरुणा और असी क्या है?

याज्ञवल्क्य : इंद्रियों के दोषों को धोने वाली वरुणा और इसके पापों को नष्ट करने वाली नासी है। यह भौंहों और नाक के मिलने वाला स्थान तृतीय नेत्र या शिव के स्थान पर मिलती है।

ब्रह्मचारी : किसके ज्ञान से अमरत्व प्राप्त होता है?

याज्ञवल्क्य : शतरुद्रीय का जप करने से अमरत्व प्राप्त होता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

हंस उपनिषद्

इस उपनिषद् में सनत्कुमार ने अपने शिष्य गौतम को योग की रहस्य विद्या का उपदेश दिया है। जैसे काष्ठ में अग्नि होती है व तिल में तेल होता है, वैसे ही शरीर में हंस होता है। एक अहोराम में मनुष्य 2100 श्वास लेता है, जिसमें हंस की ध्वनि उच्चरित होती है। इसके हंस ऋषि हैं, अव्यक्त गायत्री छंद है, परम हंस देवता हैं, हं बीज है रुं : शक्ति है और सोऽहम् कीलक है। अग्नि व सोम इस हंस के पंख हैं, उ सिर है, बिंदु नेत्र हैं, मुख रुद्र है, रुद्राणी दोनों चरण है और काल दोनों हाथ हैं। इसी स्थिति में जाप से दसों नादों का अनुभव होता है, जिनकी ध्वनियां क्रमशः चिणि-चिणि, घंटानाद, शंखनाद, तंत्रीनाद, तालनाद, वेणुनाद, भेरीनाद, मृदंगनाद व अंतिम दशम् मेघनाद है। इसी अंतिम दसवें नाद से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। इस उपनिषद् की भाषा अत्यंत ही गूढ़ व रहस्यमयी है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

सुबाल-उपनिषद्

16 खंडों के इस उपनिषद् में सृष्टि के सृजन से लेकर सृष्टि व सृष्टिसृजनकर्त्ता की सर्वोत्तम कृति मानव देह का जन्म से मृत्यु तक बहुत ही विस्तृत, सुस्पष्ट व तार्किक विवेचन किया गया है।

प्रथम खंड

सृष्टि से पूर्व क्या था?

घोरांगिरस ऋषि : केवल तमस् या अंधकार था। शेष कुछ नहीं था, न सत् था न असत् था, न सत् असत् था। सर्वप्रथम तमस् था। तमस् से आकाश तत्व, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी तत्व की उत्पत्ति हुई। जल में एक हिरण्यमय (सुवर्ण आभामय) रूपी अंडे की रचना हुई। यह अंडा दो भागों में विभक्त हो गया। अधोभाग से पृथ्वी व शीर्षभाग से आकाश बना। इन दोनों के मध्य दिव्य पुरुष उत्पन्न हुआ जिसके सहस्र शीर्ष थे, सहस्र नेत्र थे, सहस्र पाद थे, और सहस्र भुजाएं थीं। उसने प्राणियों के लिए मृत्यु की रचना की। मृत्यु तीन नेत्रोंवाली, तीन शीर्षोंवाली और तीन पादों वाली थी। उसके हाथ में फरसा था। इसी तेजोमय पुरुष ने ब्रह्मा में प्रवेश किया। ब्रह्म के सात मानस हुए, जो प्रजापति कहलाए और इन्हीं से चराचर जगत् की परंपरा प्रारंभ हुई।

द्वितीय खंड

उस विराट पुरुष के अपान से यक्ष, गंधर्व व राक्षस उत्पन्न हुए, अस्थियों से पर्वत, लोमों से औषधियां व ललाट के तेज से क्रोध जन्मा। अंत समय में पृथ्वी तत्व जल तत्व में लय हो जाता है, जल तत्व तेज में विलीन हो जाता है, तेज वायु में, वायु आकाश में और आकाश इंद्रियों में विलीन हो जाता है, इंद्रियां तन्मात्राओं में विलीन हो जाती हैं, तन्मात्राएं भूतों में, भूत आदि महत् में, महत् अव्यक्त में, अव्यक्त अक्षर में, अज्ञान (तमस्) पुनः ब्रह्म में समा जाता है, न सत् होता है न असत्। केवल तमस् ही पुनः होता है। अतः इसीलिए कहा गया है :

तमसो मा ज्योतिर्गमय।

तृतीय खंड में आत्मा के स्वरूप का वर्णन है।

चतुर्थ खंड

हृदय के बीच में लाल रंग का एक मांसपिंड है, जिसमें आत्मा रूपी सूक्ष्म तत्व दहर पुंडरीक के समान अनेक प्रकार से अनेक रूपों में प्रकट होता है। हृदय का प्राणों से दस छिद्रों से संबंध होता है, जैसे शरीर के पिंड का ब्रह्मांड से दस द्वारों से संबंध है। जब आत्मा का प्राण से संपर्क होता है, तो सामान्य दृश्य देखता है, परंतु जब उसका उदान से संबंध हो जाता है तो देवताओं का व दिव्य ऋषियों का दर्शन होता है। जब इसका अपान से संपर्क होता है तो राक्षस, गंधर्व व यक्षों के दर्शन होते हैं। समान वायु से संयुक्त होने पर धन संपदा व व्यान को देखता है और व्यान के साथ संयुक्त होने पर अपना भूतकाल, मुक्त, अमुक्त, भविष्य, सत्-असत् सभी देखता है।

पंचम खंड आत्मा की शरीर में स्थिति, छठे खंड में परम पुरुष का आविर्भाव, सप्तम् खंड में नित्य पुरुष का वर्णन तथा 8, 9 व 10 खंड में शरीर, आत्मा, चराचर जगत् व विभिन्न लोकों का वर्णन है। 11वें खंड में आत्मा के शरीर त्यागने का मार्ग व 12, 13 व 14वें खंड में भी ऐसी ही चर्चा है। 15वें में पुनः आत्मा द्वारा शरीर त्याग का वर्णन व 16वें में उपसंहार है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

त्रिशिख ब्राह्मणोपनिषद्

इस ब्राह्मणोपनिषद् में त्रिशिखी ब्राह्मण व भगवान सूर्य के मध्य संवाद है जिसमें विभिन्न प्रकार के आसनों यथा पद्मासन, कुक्कुटासन, मुक्तासन, मयूरासन, सुखासन आदि की चर्चा है। इसके अतिरिक्त इसमें प्राणायाम, मृत्युपूर्व संकेतों की तथा मोक्ष की चर्चा की गई है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

अद्वयतारक उपनिषद्

इस उपनिषद् में योगी द्वारा देखे जाने वाले आभामंडल व उसके तेज की आभा के अनुरूप विभिन्न वर्णों का वर्णन है।

उपनिषद् के प्रारंभ में कहा गया है कि यह उपनिषद् संन्यासियों, योगियों व साधकों के लिए वर्णित है। सर्वप्रथम आंखों को पूर्णतः बंद करके या अर्द्धनिमीलित अवस्था में भौहों के ऊपर 'मैं स्वयं चित्त स्वरूप हूं' इस भाव से ब्रह्म का ध्यान करने से साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। वह ब्रह्म जीव को गर्भ, जन्म, वृद्धावस्था व मृत्यु के दारुण दुखों से तारता है या तारण करता है, अतः उसे तारक ब्रह्म कहते हैं। इस नेति-नेति शेष ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योग याधना में तीन उपाय हैं। शरीर के मध्य में मेरुरज्जु में स्थित चंद्रमा के समान युक्त आभा वाली ब्रह्मस्वरूपा नाड़ी सुषुम्ना, जो मूलाधार से सहस्रार तक जाती है। यह मृणाल की भांति सूक्ष्म तथा मनोदृष्टि से दर्शन करने पर सभी पापों को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार ललाट के मध्य स्थित आज्ञा चक्र में स्थित नादब्रह्ममय अर्द्धनारीश्वर स्वरूप तेज को देखने वाला सिद्ध योगी हो जाता है। इस स्वरूप के दर्शन के लिए दोनों कानों को तर्जनियों से बंद करने पर सुनने वाले शब्द पर ध्यान लगाने से तथा आज्ञा चक्र या ध्यान लगने में अन्तर्दृष्टि से नीली ज्योति के दर्शन होते हैं। ऐसा ही तीसरा धर्म हृदय के हृदयाकाश में भी होता है। मुमुक्ष योगियों को इनका अभ्यास करना चाहिए।

योगी नासिका से चार, छः, आठ, दस एवं बारह अंगुल दूरी पर क्रमशः नीला, श्याम, लाल, पीला व आकाशीय रंग की तेज आभा देवतादि को खुली आंखों से आकाश में देखने पर योगी की एक ज्योति किरण दिखाई देती है, जो आंखों के कोनों में आकर स्थिर हो जाती है। यदि कोई योगी अपने निरंतर अभ्यास व चिर साधना द्वारा मस्तक में स्थित सहस्रार चक्र के ऊपर 12 अंगुल की दूरी पर ज्योति पुंज देखता है, तो वह कालजयी अमर होता है। पुनः ज्योति पुंज के दर्शन के क्रम को गंभीरतापूर्वक विवेचित करते हुए कहा गया है कि योगी को सर्वप्रथम प्रातःकाल विचित्र प्रकार के रंग का अखंड सूर्यचक्र के समान तेजपुंज दिखाई देता है, जो बाद में अग्नि की ज्वाला के समान हो जाता है तथा इसके पश्चात् उन्नत अंतरिक्ष या ब्रह्मांड के दर्शन होते हैं और कुछ समय पश्चात् पुनः सब कुछ आकाश में विलीन हो जाता है। इसके पश्चात् 5 तारक आकाशी यथा निर्गुण आकाश, परमाकाश, महाकाश, तत्वाकाश और सूर्याकाश की चर्चा की गई है। उपनिषद् में तारक योगी को तेज के दर्शन के लिए भ्रूमध्य या भौहों के मध्य स्थित आज्ञाचक्र पर ध्यान केन्द्रित करने पर विशेष रूप बारंबार प्रेरित व निर्देशित किया गया है। कई योगियों व सिद्ध साधकों से परिचर्चा में लेखक को ज्ञात हुआ कि आज्ञा चक्र पर ध्यान लगाने से, जब प्रारंभिक चंचलता के बाद मन शांत व स्थिर होने लगता है व गात्रवीणा (गात्र=शरीर) में ॐकार की ध्वनि स्पष्टतः सुनाई देने लग जाती है, तो चक्र धीरे-धीरे ध्यान की ऊर्जा से गर्म होने लगता है और जाग्रत हो जाता है। ध्यान लगाने से मन की दिशाविहीन व बिखरी ऊर्जा एक बिंदु पर केंद्रित होकर घनीभूत हो जाती है और चक्र जाग्रत हो जाता है।

इस ध्यान के पश्चात् तालु के ऊपरी भाग में ध्यान लगाने से योगी को अणिमा सिद्धि प्राप्त करने की चर्चा की गई है। (यह ध्यान शांभवी मुद्रा में ही संभव है) अंत में कहा गया है कि गु का अर्थ है अंधकार और रु का अर्थ है अंधकार का नाशक। अतः गुरु ही अज्ञान के अंधकार का नाश करके शिष्य को परमगति प्राप्त कराता है।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

भिक्षुक उपनिषद्

इस उपनिषद् में मुमुक्षु संन्यासियों के विभिन्न वर्गों की चर्चा की गई है। सर्वप्रथम इसमें मोक्ष के इच्छुक भिक्षुओं को चार वर्गों में विभाजित किया गया है :

1. कुटीचक्र
2. वहूदक
3. हंस
4. परमहंस

कुटीचक्र साधक केवल 8 ग्रास भोजन करके योग साधना में लीन रहते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। प्रमुख कुटीचक्र साधकों में गौतम, याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ और कुटीचक्र हैं। **वहूदक** संन्यासी त्रिदंड, कमंडल, शिला, यज्ञोपवीत व काषाय वस्त्र धारण करते हैं। मधु व मांस को त्याग यह योगी केवल वेदज्ञ ब्राह्मण या महर्षि के आतिथ्य में ही आठ ग्रास अन्न ग्रहण करते हैं। तीसरे प्रकार के संन्यासी जो **'हंस'** कहलाते हैं, वे अपने भ्रमण में गांव में एक रात्रि, नगर में पांच रात्रि और क्षेत्र में सात रात्रि से अधिक नहीं ठहरते। यह सीमित अन्न ग्रहण करते हुए केवल गोबर और गोमूत्र का आहार करते हैं और चंद्रायण व्रत करते हैं एवं योग मार्ग से मोक्ष प्राप्त करते हैं। **परमहंस** संन्यासी आठ कौर भोजन करते हैं। ये वृक्ष के नीचे रहते हैं या उजड़े निर्द्वंद्व स्थान पर रहते हैं अथवा श्मशान में रहते हैं। ये दिगंबर या श्वेतवस्त्रधारी होते हैं। ये धर्म-अधर्म, लाभ-हानि, वर्ण-जाति से दूर होते हैं। ये भी सूने घर, मन्दिर, नदी तट, गुफा या एकांतवास में रहते हैं। ये भिक्षा की मधुकरि ग्रहण करते हैं और योग मार्ग पर अग्रसर रहते हैं। संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, जडभरत, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव, हारीत आदि कुछ प्रमुख परमहंस माने गए हैं।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

शाट्यायनीयोपनिषद्

इस उपनिषद् में कुटीचक्र, वहूदक, हंस व परमहंस इन चारों प्रकार के संन्यासियों की जीवन-शैली व योगसाधना का विस्तृत विवरण है। (इनका वर्णन भिक्षुक उपनिषद् में किया जा चुका है।)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

ईशावास्योपनिषद्

यह उपनिषद् अपने आप में कई कारणों से विशिष्ट है। सर्वप्रथम तो यह संहिता से पृथक् न होकर उसी का भाग है। शुक्ल यजुर्वेद या वाजसनेयी संहिता के चालीस अध्यायों में से यह अंतिम अध्याय है। दूसरा यह कि इसी को सर्वप्रथम उपनिषद् माना गया है। यह बहुत ही छोटी केवल 18 श्लोकों की रचना है। इसके प्रथम मंत्र के प्रारंभ में ईशा वास्यमिदं होने के कारण इसका नाम ईशावास्योपनिषद् रखा गया है। इसमें परब्रह्म के स्थान पर परमेश्वर का ही विशेष वर्णन है। (परब्रह्म ब्रह्म के उस स्वरूप को कहते हैं, जिसमें उसकी तुलना व समानता जीव के संबंध में की जाती है, जबकि परमेश्वर उसके उस रूप को कहते हैं, जिसमें उसका संबंध संसार में स्थापित किया जाता है)।

उपनिषद् के प्रारंभ में उपदेश दिया गया है कि यह सम्पूर्ण संसार ईश्वर से व्याप्त है और इस संसार में रहते हुए भोगों से आसक्त न होकर, भोगों को त्यागपूर्वक भोगते हुए ईश्वर का ध्यान रखो। इस संसार में जन्म लेकर 100 वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए और उस जीवन काल में सांसारिक भोगों को भोगते हुए ब्रह्म प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। जो लोग भोगों में लिप्त होकर आत्मा की हत्या कर देते हैं (कहने का तात्पर्य है कि जो आत्मा को प्रकाशित करने का प्रयास नहीं करता) वे बार-बार मरकर आसुरी व अन्य योनियों को प्राप्त होते हैं। परमात्मा के असीम स्वरूप की मानव के असीम रूप से तुलना करते हुए कहा गया है कि वह एकमात्र अचल परमेश्वर मन से भी तीव्र वेगवान है (क्योंकि मानव जीवन में सर्वाधिक वेगवान वस्तु मन है)। मन तो वहां तक पहुंच भी नहीं पाता, जहां वह उसमें भी पहले स्थित होते हैं, क्योंकि वह मन की गति और दिशा को पहले ही जानते हैं। मनुष्य की तो बात ही क्या, देवताओं और महर्षियों का मन भी पूर्ण रूप से उन्हें नहीं जान पाता। वायु आदि देवता अपनी गति के द्वारा जो कुछ भी

सम्पन्न कर रहे हैं, वह वस्तुतः इन्हीं की शक्ति का अंशमात्र है। वह परमात्मा चलते भी हैं और नहीं भी चलते, वे दूर से भी अत्यन्त दूर हैं और समीप से भी अत्यन्त समीप हैं और इसे बाहर से भी ढके हुए हैं अर्थात् वह सर्वत्र, सर्वव्यापक व सर्वज्ञ हैं। ऐसे परमात्मा के सर्वव्यापी स्वरूप को जो मनुष्य सब प्राणियों में देखता है, वह किसी से घृणा कर ही नहीं सकता, क्योंकि उसे तो सर्वत्र उस परमात्मा ही की ज्योति दिखाई देती है। जब मनुष्य में इस भावना का जन्म हो जाता है कि वह सर्वत्र एकमात्र परमेश्वर का ही साक्षात्कार करता है, तो वह स्वयं ही मोह और शोक से दूर हो जाता है, क्योंकि उसे सर्वत्र ही हर मनुष्य के रूप में और हर मनुष्य के क्रियाकलाप में परमात्मा की लीला ही दिखाई देती है।

अब विद्या और अविद्या का भेद करते हुए बतलाया गया है कि जो अविद्या की उपासना करते हैं, वह अज्ञान रूपी अंधकार में प्रविष्ट हो जाते हैं और जो विद्या में रत हो जाते हैं, परंतु अपनी विद्या और ज्ञान में उन्हें मिथ्याभिमान हो जाता है, वे भी अंधकार में ही डूबे रहते हैं। जो मनुष्य इन दोनों को अर्थात् विद्या और अविद्या के साथ यथार्थ को जान लेता है, वह अविद्या से अर्थात् कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार कर लेता है और विद्या से अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। (उपनिषदों के संदर्भ में अविद्या शब्द का अर्थ वस्तुतः सांसारिक ज्ञान यथा आयुर्विज्ञान, रसायन व तंत्र आदि से है, जबकि विद्या से तात्पर्य आध्यात्मिक विद्या से है), जो मनुष्य विनाशशील देव-पितरों की उपासना करते हैं, वे भी अज्ञान के अंधकार में ही भटकते रहते हैं, परंतु जो परब्रह्म, अविनाशी परमेश्वर की साधना में रत हैं, परन्तु उन्हें सत्य का ज्ञान नहीं है और जिनमें निष्काम, सरल हृदय उपासना आदि नहीं है, वह तो मानो उनसे भी अधिक गहन अंधकार में हैं।

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्

याज्ञवल्क्योपनिषद्

33 श्लोकों वाला यह उपनिषद् मुख्यतः विदेह जनक व याज्ञवल्क्य के मध्य हुई संन्यास आश्रम की चर्चा को अभिव्यक्त करता है।

विदेह जनक की जिज्ञासा को शांत करते हुए याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि यद्यपि वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुसार सर्वप्रथम ब्रह्मचर्य व उसके पश्चात् गृहस्थ व उसकी समाप्ति पर वानप्रस्थ का प्रावधान है तथा सबसे अंत में संन्यास आश्रम ग्रहण किया जाता है, परंतु विशेष परिस्थितियों में ब्रह्मचर्य या गृहस्थ के बाद भी संन्यास लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जब भी मन में वैराग्य की भावना उदित हो जाए, तभी संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। इसके पश्चात् प्रजापत्य यज्ञ

करे या आग्नेय यज्ञ करे। इस यज्ञ को करने का उद्देश्य यह है कि संन्यासी अब इस नए रूप में अग्नि रूपी योनि में प्रवेश करता है अर्थात् ब्रह्मतेज से युक्त हो जाता है। यहां एक विशेष बात यह है कि संन्यासी को अग्नि को सूंघने का प्रावधान है जैसे शिशु माता को केवल गंध द्वारा पहचानता है, वैसे ही संन्यासी प्रतीकात्मक रूप से अग्नि को अपनी माता स्वीकार कर लेता है। निकटवर्ती गांव से लाकर आग जलाए। यदि किसी कारणवश अग्नि प्राप्त न हो सके, तो जल को ही अग्नि समझकर उसमें हवन करें। तत्पश्चात् शिखा को उखाड़कर तीन बार 'मैंने संन्यास लिया' ऐसा संकल्प करें।

राजा जनक ने पुनः प्रश्न किया कि गुरुवर! यज्ञोपवीत के बिना ब्राह्मण कैसे रह सकता है? (संन्यास में यज्ञोपवीत भी त्याग दिया जाता है)। इसके समाधान के लिए याज्ञवल्क्य ऋषि ने कहा कि हे राजन्! संन्यासी वर्णहीन होता है, अर्थात् वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र नहीं होता। वह केवल संन्यासी होता है और यज्ञोपवीत तो द्विज ही धारण करते हैं। अतः उसके लिए इनका प्रावधान नहीं है। वह तो पवित्र, भिक्षा पर जीवन यापन करने वाला होता है। संन्यासियों में भी परमहंस को श्रेष्ठ माना गया है जिसकी कोई पहचान नहीं होती तथा वह अपने आचरण को भी गुप्त रख सके। पागल व मूढ़ न होते हुए भी वह संसार व सांसारिक लोगों को दूर रखने व उनसे दूर रहने के कारण पागलों जैसा व्यवहार करता है। संवर्तक, आसाण, श्वेतकेतु, दुर्वासा आदि उच्च कोटि के परमहंस को यह लोग 'भूः स्वाहा' कहकर शिखा व जनेऊ का त्याग कर देते हैं। यह कमंडल में से जल पीते हैं तथा अन्न का संग्रह नहीं करते। इसी प्रकार दिगंबर संन्यासियों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि संन्यासी किसी को नमस्कार नहीं करता। वह केवल भक्तों से पहले संन्यासी की भक्ति को ही नमन् करता है। इसके पश्चात् संन्यासियों को स्त्रियों के मायारूप व उनके प्रति भोगदृष्टि से पूर्णतः दूर रखने के लिए विभिन्न दृष्टांत दिया गया है।

कहा गया है कि स्त्री का मान कवि के लिए मेरु पर्वत की चोटी है, भोगी के लिए स्तन है, कुत्ते के लिए मांस का लोथड़ा है परंतु संन्यासी के लिए वह केवल ब्रह्मांड है अतः मन में दूषित भाव न लाए। स्वयं में ब्रह्म को ढूंढ़े व मोक्ष पाए—यही संन्यासी का धर्म है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

कृष्ण यजुर्वेद व उसके उपनिषद्

श्वेताश्वतर
तैत्तिरीयोपनिषद्
कठोपनिषद्
कैवल्योपनिषद्
गर्भोपनिषद्
नारायणोपनिषद्
अमृतनादोपनिषद्
शुकरहस्योपनिषद्
तेजोबिंदोपनिषद्
कलिसंतरणोपनिषद्
दक्षिणामूर्ति उपनिषद्
रुद्रहृदयोपनिषद्
कठरुद्रोपनिषद्
शारीरकोपनिषद्
अक्षि उपनिषद्
चाक्षुषोपनिषद्
ध्यानबिंदु उपनिषद्

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

श्वेताश्वतर उपनिषद्

कृष्ण यजुर्वेद से संबंधित 6 अध्यायों व 113 श्लोकों का यह उपनिषद् शैव धर्म का प्रतिनिधि उपनिषद् है, जिसमें परमब्रह्म को रुद्र नाम से संबोधित किया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय षड्दर्शन की एक शाखा **सांख्यमत** के भी यहां प्रारंभिक सिद्धांत मिलते हैं। इस उपनिषद् का संकलन **श्वेताश्वतर** ऋषि ने किया था। इस कारण इसे उन्हीं के नाम के आधार पर **श्वेताश्वतर** उपनिषद् कहा गया है।

प्रथम अध्याय

हरि.... ॐ, इस मंगलाचरण से इस उपनिषद् का प्रारंभ है। कुछ जिज्ञासु पुरुष परस्पर चर्चा कर रहे हैं और प्रश्न पूछ रहे हैं कि इस जगत् के कारण ब्रह्म कौन हैं? हम लोग किससे उत्पन्न हुए हैं; हम किसके प्रभाव से जी रहे हैं? हमारी पूर्णतया स्थिति किसमें है अर्थात् मृत्यु के पश्चात् हम किसमें विलीन होते हैं? अब इन्हीं प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न जगत के कारण कौन हैं, इसके उत्तर में कहते हैं कि कहीं-कहीं तो **काल** को या समय को कारण बताया गया है, क्योंकि सभी वस्तुओं की उत्पत्ति समयानुसार होती है; कहीं पर **'स्वभाव'** को ही कारण बताया गया है, क्योंकि जैसा बीज होता है, वैसी तदनुरूप वृक्ष की उत्पत्ति होती है अर्थात् वृक्षों से वृक्ष, पशुओं से पशु और मनुष्यों से मनुष्यों का सृजन होता है। कहीं पर **'कर्म'** को जगत् का कारण माना गया है, क्योंकि कर्मानुसार जीव विभिन्न योनियों में जन्म लेते हैं, कहीं पर पंच महाभूतों को ही उत्पत्ति का कारण माना गया है, क्योंकि यह शरीर पंचभूतात्मक है। इस प्रकार चर्चा करने के पश्चात् वह परस्पर कहते हैं कि काल, स्वभाव, कर्म या पंचभूत इस जगत का कारण नहीं हो सकते। क्योंकि ये सब तो जड़ हैं, जबकि जीवात्मा चेतन है और जड़ वस्तु किसी चेतन वस्तु को कैसे जन्म दे सकती है?

जीवात्मा स्वयं भी अपने सृजन का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि वह भी प्रारब्ध के अधीन है। अतः कारण तत्व कुछ और ही है। अब वह सभी ऋषि ध्यान योग में मग्न हो गए और मन-इंद्रियों के अंतर्मुखी होने पर उन्होंने चिंतन करके परमात्मा का साक्षात्कार किया और यह अनुभूत किया कि काल से लेकर जीवात्मा तक वह परब्रह्म ही सभी पर अधिष्ठित रहता है। अब ऋषि उस स्वरूप का वर्णन कर रहे हैं, जिसका उन्होंने ध्यान में साक्षात्कार किया था। ऋषिगण कहते हैं कि हमने एक ऐसे चक्र को देखा है जिसकी **एक नेमि** है, (नेमि उस संपूर्ण गोल घेरे को कहते हैं जिसमें अरे व नाभि आदि सब अवयव लगे रहते हैं) **तीन घेरे** हैं, **सोलह सिर** हैं, **पचास अरे हैं, बीस सहायक अरे** हैं। इस चक्के में **6 अष्टकों से युक्त,** अनेक रूपों वाले एक ही पाश से युक्त मार्ग के **तीन भेद** जो द्विनिमित्त थे। वस्तुतः इन गूढ़ संख्याओं के श्लोक के माध्यम से सांख्यदर्शन का प्रारंभिक संकेत मिलता है और इनकी व्याख्या इस प्रकार है कि—एक नेमि से तात्पर्य अव्याकृत प्रकृति से है, (क्योंकि सांख्यदर्शन में ब्रह्मांड के निखिल तत्वों को दो वर्गों में रखा गया है—प्रकृति एवं पुरुष), तीन घेरों से तात्पर्य प्रकृति की त्रिगुणात्मक सत्ता सत्त्व, रज और तम से है। सोलह सिरों से तात्पर्य आठ सूक्ष्म तत्व मन, बुद्धि, अहंकार, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश तथा आठ स्थूल तत्वों से है। कई स्थानों पर सोलह सिरों से तात्पर्य एकादश इंद्रियों और पंचतन्मात्राओं से है। एकादश इंद्रियों में से **5 ज्ञानेंद्रियां** हैं कान, नाक, आंख, जीभ व त्वचा। **5 कर्मेंद्रियां** हैं वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ व वायु तथा ग्याहवां मन है। पांच तन्मात्राएं पंचतत्वों के भौतिक गुण क्रमशः गंध, रस, रूप, स्पर्श व शब्द हैं। सांख्यकारिका के 46वें श्लोक के अनुसार पचास अरों से तात्पर्य **विपर्यय के पांच** (विपर्यय का तात्पर्य सच्चे ब्रह्म ज्ञान से भिन्न प्रतिष्ठित मिथ्या ज्ञान से है।) **भेदों** अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश, **अशक्ति के 28 भेदों** (अशक्ति से तात्पर्य यहां शारीरिक कमजोरी से नहीं अपितु इंद्रियों की अन्य वस्तुओं में आसक्ति के कारण) अस्थिर व विकल मन ज्ञान प्राप्त करने में जो असमर्थ रहता है। तुष्टि के **नौ भेदों** (तुष्टि का यहां अर्थ यह है कि वास्तविक सत्ता ब्रह्म को पाकर न संतुष्ट होने के स्थान पर किसी मिथ्या तत्व से संतुष्ट हो जाना ही तुष्टि है) तथा सिद्धि के आठ भेदों (5+28+9+8=50) से है। बीस सहायक अरों से तात्पर्य दस इंद्रियों, पांच विषम व पंच प्राणों से है। 6 अष्टक अर्थात् आठ के समूह में 6 प्रकार की वस्तुएं, जो क्रमशः आठ शरीर की धातुएं (**त्वचा, मांस, मेद, रक्त, हड्डी, मज्जा, वीर्य, रस**) आठ प्रकार की प्रकृति, आठ प्रकार के ऐश्वर्य, आठ प्रकार के भावों, आठ प्रकार की देवयोनियों और आठ प्रकार के आत्मा के गुणों से है। मार्ग के तीन भेदों में तात्पर्य देवयान, पितृयान व इसी लोक में एक योनि से दूसरी योनि में जाने का है) द्विनिमित्त का तात्पर्य पाप व पुण्य कर्म से है।

इसके पश्चात् संसार का नदी रूप में वर्णन करते हुए कहा गया है कि हम लोग एक ऐसी नदी को जानते हैं जो पांच स्रोतों वाली, पांच धाराओं में भयानक व टेढ़ी-मेढ़ी चलने वाली, पांच भंवरों वाली, पांच पर्वों वाली और पचास भेदों वाली है। (पांच स्रोतों से तात्पर्य पांच ज्ञानेंद्रियों से है, क्योंकि जीवात्मा इन्हीं में से होकर संसार के प्रवाह को देखती है, संसार की माया का प्रवाह बड़ा ही भयानक व टेढ़ा-मेढ़ा है, जो इन पांच इंद्रियों से मन ग्रहण करता है। अतः नदी भयानक व टेढ़ी-मेढ़ी चलने वाली है। पांच भंवरों से तात्पर्य इंद्रियों के शब्द, स्पर्श आदि पांच विषयों से है, जिनमें फंसकर जीव जीवन-मृत्यु के चक्कर में पड़ जाता है और गर्भ दुःख, जन्मःदुख, जरा दुःख, रोग व मृत्यु दुःख इन पांच दुःखों को भोगता है। पांच पर्वों से तात्पर्य अविद्या, अहंकार, राग, द्वेष व मृत्युभय से है, जिनमें मन बंटा रहता है। पचास भेद अंतःकरण की पचास प्रवृत्तियां हैं, जो संसार में भेद की प्रतीति करती हैं। परमब्रह्म के इस अविनाशी और तीनों लोकों में स्थित विराट रूप को जो भी विद्वानी जन अपने हृदय में देख लेते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं, वे सदा के लिए जीवन-मरण के चक्र से छूटकर मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार संपूर्ण ब्रह्मांड के तत्वों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—प्रकृति व पुरुष। प्रकृति की पुनः दो अवस्थाएं मानी गई हैं—अव्यक्त और व्यक्त। पुरुष को 'ज्ञ' कहते हैं। इनमें से अव्यक्त व 'ज्ञ' तो एक ही प्रकार के होते हैं, पर व्यक्त प्रकृति के 23 भेद माने गए हैं। इस प्रकार अखिल ब्रह्मांड में निहित तत्वों की कुल संख्या 25 हो जाती है।) इसी सिद्धांत को आगे स्पष्ट किया गया है कि सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, सर्वसमर्थ और असमर्थ यह दोनों जीवात्मा और परमात्मा अजन्मा है, परंतु इन दोनों के अतिरिक्त एक तीसरी शक्ति भी ब्रह्मांड में विद्यमान है, जिसे 'प्रकृति' कहते हैं, जो जीवात्मा को भोग सामग्री प्रदान करती है। यद्यपि ये तीनों ही अजन्मा और अनादि हैं, परंतु फिर भी परमात्मा इन दोनों तत्वों प्रकृति व जीवात्मा से भिन्न है, क्योंकि इन दोनों तत्वों की उत्पत्ति, पालन व संहार वही करता है, परंतु फिर भी मानो वास्तव में वह कुछ नहीं करता और जब भी मनुष्य ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनों में ही ब्रह्मरूप को देख लेता है, तो वह मुक्त हो जाता है। इन तीनों तत्वों में से प्रकृति तो स्वभाव से विनाशशील है, परंतु इसे भोगने वाला जीव अविनाशी व अक्षर है। इस क्षर व अक्षर को, इस विनाशी व अविनाशी को इस जड़ व चेतन को तीसरा तत्व ईश्वर नियंत्रित करता है और जो जीव उस ईश्वर के ध्यान में तन्मय हो जाता है, वह माया से निवृत हो जाता है। वह परमात्मा अपने ही भीतर हृदय में स्थित है तथा जिस प्रकार अग्नि काष्ठ में छुपी रहती है और दिखाई नहीं देती, परंतु इस कारण यह तो नहीं माना जाता कि अग्नि नहीं है, क्योंकि लकड़ियों को रगड़ने से अग्नि पैदा हो जाती है। इसी प्रकार हृदय में छिपे उस ईश्वर को ॐकार के जप रूपी लकड़ियों के रगड़ने से प्राप्त क़िया जा सकता है। पुनः इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि

जैसे तिलों में तिल छिपा है, जैसे दही में घी छिपा है, जैसे स्रोतों में जल छिपा है, जैसे लकड़ियों में अग्नि छिपी है, वैसे ही परमात्मा हृदय में छिपा है, उसे चिंता, तप, ध्यान, मनन द्वारा ग्रहण करो।

द्वितीय अध्याय

इस अध्याय में ध्यान योग की विधि, प्राणायाम का क्रम, ध्यान के लिए उपयुक्त स्थान और विभिन्न सिद्धियों के लक्षण बतलाए गए हैं। प्रथम पांच श्लोकों में ध्यान की सिद्धि के लिए परमात्मा से प्रार्थना की गई है और उसके पश्चात् कहा गया है कि ध्यान योग की साधना के समय या ब्रह्म में ध्यान लगाते समय साधक को अपने सिर, गले व छाती को एक सीध में रखना चाहिए अर्थात् मेरु-रज्जु या कमर बिलकुल सीधी होनी चाहिए जिससे शरीर में आलस्य व निद्रा जैसे विघ्न न आएं। इसके पश्चात् ॐकार पर ध्यान लगाना चाहिए तथा प्राणायाम के द्वारा मन को वश में करना चाहिए।

प्राणायाम की विधि इस प्रकार है—दाएं हाथ के अंगूठे से अपने दाहिने नासिका छिद्र को बंद कर लें तथा बाएं नासिका छिद्र से वायु या प्राण को अंदर की ओर खींचे और इस बीच मानसिक रूप से तीन बार ॐ का उच्चारण करें, इस क्रिया को **पूरक** कहते हैं। इसके पश्चात् दाएं हाथ की ही कनिष्ठा व अनामिका से बायां नासिका छिद्र भी बंद कर लें और श्वास को इतनी देर अंदर रोकें, जितनी देर में मानसिक रूप से 12 बार ॐ का उच्चारण हो सके, यह क्रिया **कुंभक** कहलाती है। अब दाईं नासिका से दायां अंगूठा हटाकर श्वास को धीरे-धीरे बाहर छोड़ें और इस बीच 6 बार ॐ का मानसिक जाप करें। यह क्रिया **रेचक** कहलाती है। अब पुनः दाईं नासिका से श्वास खींचे, कुंभक करें व बाईं नासिका से रेचक करें, यह 6 पदों वाली, प्रक्रिया एक 'प्राणायाम' कहलाती है। इसके अतिरिक्त प्राणायाम के भस्त्रिका, सूर्यभेद, उज्जायी, प्लवनी आदि कई भेद हैं, जो उत्तरोत्तर प्रयास से प्राप्त होते हैं।

इस प्राणायाम के लिए स्थान समतल, शुद्ध, कंकड़ रहित, अग्नि व बालू से रहित, शांत, कोलाहल रहित, नेत्र प्रिय, प्राकृतिक दृश्यों से भरपूर होना चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम का काफी समय तक अभ्यास करने के पश्चात् जब मन व चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाता है और मनुष्य योग साधना के पथ पर अग्रसर हो जाता है, तो उसे अपने सम्मुख कभी कुहरा दिखाई देता है, कभी धुआं-सा दिखाई देता है, कभी सूर्य के समान सर्वत्र प्रकाश दिखाई देने लग जाता है, कभी जुगनुओं का प्रकाश दिखाई देता है, तो कभी चंद्रमा का शीतल प्रकाश दिखाई देता है। यदि ये लक्षण दिखाई देने लगें, तो समझना चाहिए कि साधक की साधना ठीक चल रही है। इस

प्रकार ध्यान योग का साधन करते-करते पंच महाभूतों का उत्थान हो जाता है, जिसके फलस्वरूप पंचमहाभूतों से संबंध रखने वाली पांच सिद्धियां प्रकट हो जाती हैं, जिससे उसके शरीर में न तो कोई रोग होता है, न ही बुढ़ापे का शरीर पर प्रभाव पड़ता है और न ही उसकी इच्छा के बिना मृत्यु होती है। उसका शरीर हलका हो जाता है, शरीर का रंग उज्ज्वल हो जाता है तथा वाणी अत्यंत मधुर व स्पष्ट हो जाती है। उसके शरीर से एक दिव्य गंध निकलने लग जाती है तथा मल व मूत्र बहुत ही अल्प मात्रा में होने लगते हैं। ये सब योग मार्ग की प्रारंभिक सिद्धियां हैं—ऐसा योगी लोग कहते हैं। जिस प्रकार मिट्टी से लिप्त दल भलीभांति धुल जाने के पश्चात् चमकने लगता है, वैसे ही जीवात्मा योग द्वारा मानसिक मल व विकारों के धुल जाने से कैवल्य अवस्था को प्राप्त कर लेती है। उसके पश्चात् योगी दीपक की लौ के सदृश ब्रह्मतत्व को प्रत्यक्ष रूप से देख लेता है और जन्म-मरण के बंधनों से सदा के लिए छूट जाता है।

तृतीय अध्याय

इस अध्याय में दार्शनिक रूप में परब्रह्म की सर्वव्यापकता व उसका रुद्र के रूप में वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

इस संपूर्ण जगत रूपी जाल का अधिपति एक अकेला ईश्वर है, जो अपनी शक्तियों द्वारा संपूर्ण लोकों पर शासन करता है तथा इस जगत् की सृष्टि और विस्तार का कारण है। ऐसे ब्रह्म को जो महापुरुष जान लेते हैं, वह अमर हो जाते हैं। पुनः उसी बात पर बल देते हुए कहते हैं कि यह शासन करने वाला अधिपति 'रुद्र' है, जो एक ही है तथा जिसने कभी दूसरे का आश्रय नहीं लिया। वह अकेला ही समस्त जीवों की रचना करके उनमें स्थित है और उनकी रक्षा कर रहा है तथा प्रलयकाल में सबको अपने में ही समेट लेता है। वह एक परमदेव, परमब्रह्म, परमेश्वर, विश्वतचक्षु है अर्थात् उसकी दृष्टि संपूर्ण संसार में व्याप्त है, वह विश्वतोमुख है अर्थात् उसका मुख भी संपूर्ण संसार में व्याप्त है, वह विश्वतबाहु है अर्थात् उसके हाथ सब जगह हैं, वह विश्वतपाद है अर्थात् उसके पैर भी सब जगह व्याप्त हैं अर्थात् वह कहीं भी जा सकता है, कहीं भी पहुंच सकता है तथा इस आकाश व पृथ्वी में जितनी भी सृष्टि है, वह सब उसी की प्राण शक्ति से संचालित है। यह 'रुद्र' देव जो इंद्र आदि देवताओं का भी उत्पत्ति हेतु है तथा जो संपूर्ण जगत् का अधिपति और सर्वज्ञ है, जिसने सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया, वह परब्रह्म परमेश्वर हमें शुभ बुद्धि दे। इसके पश्चात् विभिन्न मंत्रों द्वारा रुद्र की पर्वतवासी शिव से एकरूपता स्थापित करते हुए स्तुति की गई है। रुद्र की सर्वव्यापकता को स्पष्ट करते हुए कहा गया

है कि संसार में जितने भी सूक्ष्म तत्व हैं, उन सबसे भी सूक्ष्म वह परमेश्वर है, क्योंकि वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जीव के शरीर में प्रविष्ट होकर स्थित है। इसी प्रकार संसार में जितने भी महान्-से-महान् तत्व हैं, वह उनसे भी महान् है, क्योंकि वह प्रलयकाल में संपूर्ण ब्रह्मांड को स्वयं में समाहित कर लेता है। अतः वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्म व स्थूल से भी स्थूल है। ऐसे परमात्मा के अंगुष्ठमात्र स्वरूप अर्थात् अंगूठे के बराबर स्वरूप का जो निर्मल हृदय व विशुद्ध मन से ध्यान लगाकर ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, वह अमर हो जाते हैं। (यहां परमात्मा को अंगूठे के बराबर इसलिए कहा गया है, क्योंकि हृदय अंगूठे के नाप का होता है और हृदय ही उसका निवास स्थान है)। संपूर्ण चर व अचर, स्थावर और जङ्गम जगत् का यह प्रकाशमय परमेश्वर नव द्वारों वाले नगर में स्थित रहकर अपनी लीला कर रहा है। (नव द्वारों से यहां तात्पर्य मनुष्य शरीर के नौ छिद्रों—दो आंख, दो कान, दो नासिका, एक मुख, एक गुदा व एक लिंग से है)। ऐसे परमात्मा को जब ज्ञानी जन प्राप्त कर लेते हैं, तब वे कहते हैं कि जो जन्म-मरण से रहित, नित्य, सर्वव्यापक, सर्वज्ञ व सर्वत्र है, ऐसे पुराण पुरुष परमेश्वर को मैं जानता हूं।

चतुर्थ अध्याय

इस अध्याय में मुंडक उपनिषद् के तृतीय मुंडक के प्रथम अध्याय में वर्णित एक ही वृक्ष पर रहने वाले दो पक्षियों के रूपक को पुनः दोहराया गया है और उसकी स्तुति करते हुए अव्यक्त और व्यक्त दोनों प्रकृतियों पर परमेश्वर का स्वामित्व बताया गया है।

सद्बुद्धि के लिए प्रार्थना के उपरांत इस अध्याय में तीन मंत्रों द्वारा परमेश्वर का जगत् रूप में चिंतन करते हुए उनकी स्तुति की गई है। कहा गया है कि वह ब्रह्म ही अग्नि, सूर्य, वायु, चंद्रमा तथा अन्य नक्षत्रों, जल, प्रजापति और ब्रह्मा में व्याप्त है। पुनः और गहन चिंतन करते हुए कहा गया है कि तू ही स्त्री है, तू ही पुरुष है, तू ही कुमार है, तू ही कुमारी है, तू ही बूढ़ा होकर लाठी के सहारे चलता है और तू ही विराट रूप होकर सर्वव्यापी हो जाता है। हे परमब्रह्म! आप ही नीले रंग के पतङ्गे हैं और आप ही हरे रंग व लाल आंखों वाले पक्षी—तोते हैं, अर्थात् पक्षी व पतङ्गे सभी में आप व्याप्त हैं। आप ही बिजली से युक्त मेघ हैं और आप ही वसंत आदि ऋतुओं और सप्त समुद्रों में व्याप्त हैं। क्योंकि आप ही ने सबको उत्पन्न किया है, इसलिए आप का सभी में विद्यमान होना स्वाभाविक है। जीव व ब्रह्म, आत्मा और परमात्मा की तुलना सदा साथ रहने वाले और परस्पर सखा भाव रखने वाले दो ऐसे पक्षियों से की गई है, जो एक ही वृक्ष का आश्रय लेकर रहते

हैं, परंतु उनमें से एक तो उस वृक्ष के फलों को स्वाद ले लेकर खाता है, जबकि दूसरा उनका उपयोग न करता हुआ केवल देखता रहता है। वस्तुतः यह शरीर ही वह वृक्ष है, जिसकी जीवन रूपी शाखा पर जीव व ब्रह्म रूपी दोनों पक्षी परस्पर मैत्री भाव से बैठे हैं। जीव वृक्ष के फलों के रूप में कर्मों को भोगता है, जबकि ब्रह्म या परमात्मा तो जीव को केवल देखता है, उसका कर्म बंधनों से व कर्म फल से कोई भी संपर्क नहीं है। यह जीव रूपी पक्षी जब कर्मफलों से मुक्त हो जाता है, तो वह और उसका मित्र, जो उसकी ही ओर देख रहा है, उसे वह तुरंत पा लेता है। यह प्रकृति ही माया का स्वरूप है और मायापति महेश्वर या शिव है, जो कारण-कार्य समुदाय से इस संपूर्ण जगत को व्याप्त किए हुए है। पुनः परब्रह्म के अद्वैत रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह अकेला ही प्रत्येक योनि का अधिष्ठाता है और उस एकमात्र ब्रह्म में ही ये संपूर्ण प्राणिमात्र प्रलयकाल में विलीन हो जाते हैं और पुनः सृष्टिकाल में विविध रूपों में प्रकट हो जाते हैं। ऐसे ईशान (**भगवान रुद्र या शंकर के पंचमुखी स्वरूप का संकेत देते हुए, यहां पांच मुखों ईशान, तत्पुरुष, अधोर, सधोजात, वामदेव, में से ईशान का वर्णन किया गया है। यह पंचमुख पांच तत्वों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं**) वरदायक स्तुति योग्य परमेश्वर के वास्तविक तत्व को जानने वाला परम शांति को प्राप्त हो जाता है। पुनः रुद्र रूप में भगवान शिव की स्तुति करते हुए कहा गया है कि जो रुद्र इंद्रादि देवताओं का भी सृजनहार तथा पालनहार है तथा जो संपूर्ण विश्व का अधिपति और महान् ज्ञानी व सर्वज्ञ है। जिसने संपूर्ण प्राणी मात्र या समष्टि प्राण रूप हिरण्यगर्भ को भी देखा है, ऐसे परमदेव परमेश्वर हमें शुद्ध बुद्धि से संयुक्त करें। इसके पश्चात् के सभी श्लोकों में विभिन्न प्रकार से भगवान रुद्र की स्तुति की गई है। उन्हें अत्यंत सूक्ष्म, सृष्टि की रचना और रक्षा करने वाले, सब मनुष्यों के हृदय में विद्यमान रहने वाले, सर्वव्यापक, कल्याणमय, महान् यशस्वी तथा दिव्य चक्षुओं से दृश्य परम शिव माना गया है। अंत में प्रार्थना की गई है कि हे रुद्र, हे संहार करने में सक्षम देव, आप अजन्मा हैं, अयोनिज हैं। यह जानकर मैं जन्म-मृत्यु के भय से भयभीत जीव आपकी शरण लेता हूं। अपने दाहिने कल्याणमय स्वरूप से सदैव मेरी रक्षा करें। मुझे सदा के लिए जन्म-मरण के भय से मुक्त करके मोक्ष प्रदान करें। पुनः रुद्र की ही प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे रुद्र देव! हम नाना प्रकार की हवि लेकर, भेंट लेकर सदैव आपकी शरण में हैं। अतः आप कभी भी क्रोधित होकर अपने रौद्र रूप से हमें, हमारे पुत्रों व पौत्रों को, हमारी आयु को, हमारे पशुधन यथा गाय-घोड़ों को अल्पायु या मृत्यु न दें। हमारी सब प्रकार से रक्षा करें।

पंचम् अध्याय

भारतीय षड्दर्शन की परंपरा में सांख्यदर्शन के प्रवर्तक व आदि प्रणेता कपिल मुनि को माना गया है। इस अध्याय में कपिल मुनि को दिए गए उपदेश का वर्णन व कपिल मुनि के नामोल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि श्वेताश्वतर उपनिषद् से ही सांख्यदर्शन प्रस्फुटित होकर भारतीय दर्शन में पुष्पित और पल्लवित हुआ।

अध्याय का प्रारंभ विद्या व अविद्या नामक दो भिन्न संज्ञाओं से होता है और कहा गया है कि ये दोनों ही उस परम अक्षर (अक्षर-अर्थात् जिसका क्षरण न हो, विनाश न हो) परमात्मा में स्थित हैं। केवल एकमात्र उस परब्रह्म का ज्ञान ही विद्या है, जबकि एक परब्रह्म को छोड़कर अनेक भागों में विभक्त माया का ज्ञान (अविद्या) है। जो एक अकेला प्रत्येक योनि पर चाहे वह देव हो, मनुष्य हो या पशु-पक्षी हो, प्रत्येक रूप पर और समस्त कारणों पर आधिपत्य रखता है तथा जो केवल एक मात्र वही है, जो कपिल ऋषि को या हिरण्यगर्भ को (हिरण्यगर्भ-संसार के सृजन से पूर्व समस्त सृष्टि के प्राण पुंज को कहते हैं) सब प्रकार के ज्ञान से पुष्ट करता है और देखता है, वही परब्रह्म है। जिस प्रकार केवल एक अकेला सूर्य संपूर्ण संसार को समस्त दिशाओं में जैसे ऊपर-नीचे, इधर-उधर आदि से प्रकाशित करने में सक्षम है, वैसे ही यह एक मात्र भगवान् समस्त संसार के प्राणियों पर आधिपत्य करने में समर्थ है। वह परब्रह्म परमात्मा वेदों के रहस्यमय भाग, उपनिषदों के रहस्यों को भलीभांति जानता है, क्योंकि वही तो इन वेदों का प्राकट्य स्थान है अर्थात् वेद उसी से तो निकले हैं। अतः उससे कोई भी रहस्य छिपा नहीं है। इसी रहस्य को जिन-जिन पूर्ववर्ती ऋषियों ने जान लिया, वे सब उसी परब्रह्म में निमग्न हो गए। यह जीवात्मा जो सत्व, रज और तम इन तीन गुणों से बंधी प्रकृति में अपने नाना प्रकार के कर्मफलों के अनुरूप विभिन्न योनियों में जन्म लेता है—वह अपने मूल बीज में त्रिगुणात्मक प्रकृति होने के कारण जहां भी जाता है, तीन गुणों के ही भिन्न-भिन्न अनुपातों से युक्त रहता है। यहां तक कि मृत्यु के उपरांत भी उसकी तीन गतियां होती हैं या तो देवयान अन्यथा पितृयान या फिर निरंतर क्षुद्र योनियों में आवागमन।

अब जीवात्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि अंगूठे के नाप के बराबर मान वाले हृदय के भीतर जो निवास करता है, वह सूर्य के समान तेजस्वी प्रकाशमय स्वरूप वाला है और उसका आकार सुई की नोक जैसा सूक्ष्म है तथा वह संकल्प व अहंकार से युक्त बुद्धि गुणों से व्याप्त है। उसका ऐसा स्वरूप ही ज्ञानियों द्वारा देखा गया है। पूर्ववर्णित जीवात्मा के स्वरूप को ही और स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि बाल की नोक के सौवें भाग के यदि पुनः सौ भाग किए जाएं अर्थात् बाल की नोंक के दस हजारवें भाग के बराबर घनीभूत तेजोमय प्रकाशपुंज सत्ता ही जीवात्मा है। इतना सूक्ष्म होने पर भी वह अनन्त भाव से युक्त होने में अर्थात् असीम होने

में समर्थ है। वह जीवात्मा न तो स्त्री है, न पुरुष है और न ही नपुंसक है, वह जब-जब तथा जिस-जिस शरीर को कर्मानुसार ग्रहण करता है, तब-तब वह वैसा ही हो जाता है। संकल्प, स्पर्श, दृष्टि और मोह से तथा भोजन, जल और वर्षा द्वारा जैसे-जैसे इसका पोषण होता जाता है। वैसे-वैसे ही इसकी वृद्धि होती जाती है और अपने कर्मानुसार यह फलों को भोगता हुआ विभिन्न लोकों में विभिन्न शरीर धारण करके भ्रमण करता रहता है। श्रद्धा व भक्ति से प्राप्त होने वाले इस जगत की उत्पत्ति व संहार करने वाले सोलह कलाओं से परिपूर्ण भगवान् शिव की जो आराधना करते हैं या उन्हें जान लेते हैं, वह सदा के लिए जन्म व मृत्यु के चक्कर से दूर हो जाते हैं।

छठा अध्याय

इस अध्याय में 23 श्लोक एवं ब्रह्म के एकात्म स्वरूप की चर्चा की गई है तथा परब्रह्म की महिमा, असीम ज्ञान, बल और उसके निर्गुण व निराकार स्वरूप का वर्णन किया गया है।

अज्ञानी लोग जो तथाकथित बुद्धिमान हैं, उनमें से कोई तो स्वभाव को जगत् का कारण मानता है अर्थात् पदार्थों में जो स्वाभाविक गुण धर्म है (जैसे अग्नि में दाहक शक्ति और जल में शीतलता) वही इस जगत् का कारण है। कुछ लोगों के अनुसार काल या समय ही जगत् की उत्पत्ति का मूल कारण है, क्योंकि समय पर ही वस्तु प्रकट होती है (जैसे वृक्षों पर फल लगने का निश्चित समय है, ऋतुओं का निश्चित काल है, परंतु सत्य तो यह है कि यह सभी मोहग्रस्त हैं और वास्तविकता से अनभिज्ञ हैं, क्योंकि वास्तव में तो यह संपूर्ण संसार में जिसकी महिमा फैली हुई है, वह ब्रह्म ही इस संसार चक्र को चलाने वाला है। उस परमेश्वर का चिंतन करो, जिसमें यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है तथा जो काल का भी महाकाल है, सर्वगुणसंपन्न है और पंचतत्वों को शमित करने वाला है। उस परमेश्वर ने जड़ व चेतन के संयोग से एक अविद्या, दो पाप व पुण्य से संचित कर्म संस्कार, तीन गुणों वाली प्रकृति (कई स्थानों पर दो से तात्पर्य प्रकृति व पुरुष से है) व आठ भेदों वाली (पंचतत्व तथा मन, बुद्धि व अहंकार) जीवात्मा को उत्पन्न किया तथा जगत की रचना की। जो परब्रह्म तीनों कालों से भी परे, काल रहित, जड़ प्रकृति के साथ चेतन जीव का संयोग कराने वाले कारणों का भी कारण है, उस अंतःकरण में स्थित स्तुति योग्य परमदेव की उपासना करके उसे प्राप्त करना चाहिए। ईश्वरों के भी ईश्वर उस परम महेश्वर और संपूर्ण देवताओं के स्वामी तथा अखिल ब्रह्मांड के अधिपति स्तुति योग्य प्रकाश स्वरूप परमात्मा को हम सबसे परे जानते हैं, अर्थात् वह सर्वरूप होकर भी सबसे पृथक् और सबसे श्रेष्ठ है। इस जगत् में कोई भी उसका स्वामी नहीं है, कोई

भी उसका शासक नहीं है तथा उसका कोई भी लिंग नहीं है (लिंग शब्द का यहां विशेष तात्पर्य है, क्योंकि सांख्य सिद्धांत में लिंग शरीर की विशिष्ट मान्यता है। सांख्यदर्शन के अनुसार सृष्टि के आरंभ में प्रकृति प्रत्येक पुरुष के लिए एक विशेष प्रकार के आवरण को पैदा करती है, जो सृष्टि के आरंभ से प्रलयपर्यन्त बना रहता है। इसकी गति अबाध होती है, यह पत्थर की चट्टान में भी प्रवेश कर सकता है और समुद्र की अथाह गहराइयों में भी जा सकता है। यह लिंग शरीर ही मृत्यु के पश्चात् कर्म के संस्कारों को लेकर उत्तरोत्तर भोगानुरूप नाना प्रकार के नए स्थूल शरीरों में प्रविष्ट होता है।) सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष को सुख व दुःख का अनुभव लिंग शरीर से ही होता है, स्थूल शरीर से नहीं। वह तो सबका परम कारण व समस्त करणों का अधिपति है तथा अजन्मा, अयोनिज, सनातन, निरंतर, स्वतंत्र व सर्वशक्तिमान है। अब मकड़ी का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार मकड़ी अपने से उत्पन्न जाल में स्वयं ही आच्छादित हो जाती है, वैसे ही परमात्मा सृष्टि की रचना करके उसमें आच्छादित हो जाता है। ऐसे परमात्मा की शरण में हमें जाना चाहिए। अब परमात्मा के अद्वैत रूप पर बल देते हुए कहा गया है कि वह एक ही देव समस्त प्राणियों के हृदय में छिपा हुआ है, वह एक अकेला ही बहुत से अक्रिय जीवों का शासक है, वह एक प्रकृतिरूप बीज को अनेक रूपों में प्रस्फुटित कर देता है, वह नित्य चेतन बहुत सी चेतन आत्माओं के कर्मफलों की रचना का उपाय करता है, ऐसे अद्वैत ब्रह्म को सांख्य-योग का द्वार समझकर ज्ञानयोग व कर्मयोग द्वारा प्राप्त करने से मनुष्य जन्म-मरण के बंधन से मुक्त हो जाता है। जहां वह परब्रह्म स्थित है, वहां न तो सूर्य अपना प्रकाश फैला सकता है, न चंद्रमा और न नक्षत्रगण, फिर इस लौकिक अग्नि की तो बात ही क्या है? यह सब तो तभी प्रकाशित होते हैं, जब वह अपने प्रकाश से इन्हें प्रकाशित करता है। इस भुवन में, इस ब्रह्मांड में एक हंस (परमात्मा) है वही जल में है, वही अग्नि में है, उस एकमात्र को ही जानकर मनुष्य संसार सागर से पार होते हैं। इस एक के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं है। जिस प्रकार आकाश को चमड़े या कपड़े की भांति लपेटना असंभव है, वैसे ही उस परब्रह्म को जाने बिना दुःख समुदाय का अंत असंभव है। अंत में कहा गया है कि यह जगत् प्रसिद्ध है कि श्वेताश्वतर नामक ऋषि ने अपने तप के प्रभाव से और परमेश्वर की कृपा से इसी ब्रह्म को जाना और आगे के ऋषियों को उपदेश दिया और साथ ही यह भी समझाया कि वे भविष्य में भी इस ज्ञान को ऐसे मनुष्य को न दें, जिसका अंतःकरण शांत न हुआ हो तथा जो अपना पुत्र या शिष्य न हो।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

तैत्तिरीयोपनिषद्

तैत्तिरीय उपनिषद् कृष्ण यजुर्वेद से संबंधित 63 श्लोकों से युक्त गद्य रचना है। कहा जाता है कि वैश्यमपायन ऋषि ने अपने शिष्य याज्ञवल्क्य को सर्वप्रथम इसका उपदेश दिया था, परंतु किसी कारणवश कालांतर में गुरु अपने शिष्य से रुष्ट हो गए और अपने ज्ञान को लौटाने को कहा। याज्ञवल्क्य ने वह ज्ञान रक्त के वमन के माध्यम से उलट दिया, जिसे वहां स्थित अन्य शिष्यों ने तीतर (तैत्तिरय) बनकर ग्रहण कर लिया। तदनुरूप यह उपनिषद् तैत्तिरीयोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध हो गया। यह **तीन भागों** में विभक्त है और प्रत्येक भाग को वल्ली कहा गया है। प्रथम भाग को **शिक्षा वल्ली**, द्वितीय भाग को **ब्रह्मानंद वल्ली** व तृतीय भाग को **भृगु वल्ली** कहा गया है। शिक्षा वल्ली पुनः **12 अनुवाको** में विभाजित है, ब्रह्मानंद वल्ली **9 अनुवाकों** में और भृगुवल्ली **10 अनुवाकों** में विभाजित है।

शिक्षा वल्ली

प्रथम अनुवाक

इसमें केवल शांति पाठ है, जिसमें मित्र, वरुण, अर्यमा, इंद्र, बृहस्पति, विष्णु, वायुदेव आदि विभिन्न देवताओं से कल्याण की प्रार्थना की गई है।

द्वितीय अनुवाक

उच्चारण का पाठ

इस अनुवाक में कहा गया है कि शिक्षा में वर्ण, स्वर, मात्रा, वल, साम (गाने की रीति), संधि आदि में शिष्यों को निष्णात व निपुण होना चाहिए। अर्थात् वैदिक मंत्रों के उच्चारण में स्वर व व्यंजनों का स्पष्ट उच्चारण होना चाहिए। किस शब्द का उच्चारण मुख के किस भाग से होना चाहिए, जैसे 'स' दन्त्य है 'श' तालव्य है और 'ष' मूर्धन्य है। इसी प्रकार सभी वर्णों के उच्चारण में न केवल मुख के भाग का अपितु स्वर के बारे में यह भी ध्यान रखना उचित है कि भावानुसार बलपूर्वक उच्च स्वर से उच्चारण करना है या मध्यम स्वर से या निम्न स्वर से। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत इन मात्राओं का तथा आभ्यन्तर व बाह्य बलों का भी ध्यान रखना चाहिए। आभ्यन्तर के पांच और बाह्य के ग्यारह भेद माने गए हैं। जैसे अल्पप्राण, महाप्राण, घोष, अघोष, संवृत,

विवृत आदि। संधि से तात्पर्य है कि स्वर, विसर्ग आदि का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। जब इन सब में छात्र निपुण हो जाएं, तभी उसे वेद अध्ययन करना चाहिए।

तृतीय अनुवाक

गुरु-शिष्य का सह संबंध व पंच संहिताएं

आचार्य अपने शिष्य की वैदिककाल में किस प्रकार कल्याण की हार्दिक कामना करते थे और गुरु-शिष्य संबंध कितना प्रगाढ़ व पवित्र था, इसी भावना को इस अनुवाक में अभिव्यक्त किया गया है। गुरु प्रार्थना करते हैं कि हम दोनों का यश एक साथ बढ़े। हम दोनों का ब्रह्मतेज भी एक साथ बढ़े। इसके पश्चात् गूढ़ विषय पर चर्चा करते हुए गुरु प्रतिज्ञा करते हैं कि हम दोनों संहिता विषयक उपनिषद् के रहस्य की व्याख्या करेंगे। (संहिता शब्द का अर्थ काफी व्यापक है। एक ओर वेदों, ऋचाओं का संकलन संहिता कहलाता है, तो इसी ओर दो शब्दों की संधि भी संहिता कहलाती है और इसी प्रकार संसार के व्यापक संदर्भ में दो ऐसी वस्तुओं का संयोग जिससे किसी अन्य वस्तु विशेष की रचना हो, वह महा संहिता कहलाती है। संसार में ऐसी पांच महासंधि या महासंहिताएं हैं, जिनका वर्णन आगे इस अनुवाक में मिलता है)। पहली महासंहिता लोक-विषयक है, जिसमें पृथ्वी **पूर्वरूप** है, स्वर्ग **उत्तर रूप** है, आकाश दोनों की **संधि** है और वायु इनका **संधान** है (प्रत्येक संधि के चार भाग होते हैं—पूर्व वर्ण, परवर्ण, दोनों के मेल से बनने वाला रूप और दोनों को जोड़ने वाला नियम या संधान। व्याकरण के इस नियम के अनुरूप ही महासंहिताओं का स्वरूप निर्धारित किया गया है)।

इसके बाद दूसरी ज्योति विषयक महासंहिता का वर्णन किया गया है। अग्नि इसका पूर्वरूप या पूर्ववर्ण है, सूर्य इसका उत्तररूप या उत्तरवर्ण है। इन दोनों के मेल या संधि से बनने वाला रूप मेघ है और विद्युत शक्ति ही संधान या नियम है। अब तीसरी विद्याविषयक महासंहिता का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। गुरु इसका पूर्वरूप है, समीप रहने वाला शिष्य दूसरा वर्ण है, विद्या दोनों के मिलने से उत्पन्न होने वाली संधि और गुरु द्वारा दिया गया ब्रह्मज्ञान का उपदेश ही संधि का नियम या कारण है। अब चौथी प्रजाविषयक महासंहिता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि माता पूर्वरूप या पहला वर्ण है, पिता उत्तररूप यां दूसरा वर्ण है, संतान उन दोनों के मेल से उत्पन्न संधि है और प्रजनन उस संधि का कारण है। अब अंतिम या पंचम आत्मविषयक महासंहिता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि नीचे का जबड़ा पूर्वरूप है, ऊपर का जबड़ा परवर्ण है, वाणी दोनों के मिलने से उत्पन्न होने वाली संधि है और जिह्वा इस वाणी रूपी संधि का कारण है। अंतिम श्लोक में कहा गया है कि जो व्यक्ति इन पंचमहासंहिताओं के रहस्य को जान लेता है, वह संतान, पशु, ब्रह्मतेज और अन्न आदि योग्य पदार्थों से संपन्न होकर स्वर्गिक सुखों को प्राप्त करता है।

चतुर्थ अनुवाक

ॐकार द्वारा प्रार्थना तथा ऐश्वर्य प्राप्ति के विविध मंत्र

अनुवाक के प्रारंभ में इंद्र से प्रार्थना की गई है कि वह वेदों के सर्वश्रेष्ठ मंत्र ॐकार को धारण करने की उपासक को शक्ति दें। इंद्र हमें रोगरहित शरीर, मधुरवाणी वाली जिह्वा और शुभ शब्दों को सुनने वाले कान दें। अंत में कहा गया है कि जो भी हम गुरु से ज्ञान प्राप्त करें, उसे गोपनीय रखें अर्थात् उसके रहस्य की रक्षा करें। ऐश्वर्य व धनधान्य की प्राप्ति के मंत्रों का वर्णन है।

आवहन्ती वितन्वाना कुर्वाणचीरमात्मनः।
वासांसि मय गावश्च, अन्नपाने च सर्वया।
ततो मे चित्रममावह। लोभशां पशुभिः सह स्वाहा।

इस मंत्र द्वारा आहुति से नाना प्रकार के वस्त्र, गौएं, खाने-पीने के पदार्थ, भेड़-बकरियां व पशुधन की प्राप्ति होती है। अगले मंत्र में ब्रह्मचारियों को ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने तथा इंद्रियों को वश में रखने के लिए अग्नि को दी जाने वाली आहुति का वर्णन है। इसके पश्चात् धन प्राप्ति, यश व भगवान के दिव्यरूप की प्राप्ति के लिए किस प्रकार हवन करना चाहिए, इसकी विधि का वर्णन है।

1. **यशो जनेऽसानि स्वाहा**–यश प्राप्ति के लिए इस मंत्र का उच्चारण करके अग्नि में आहुति डालनी चाहिए।

2. **श्रेयान वस्यसोऽसानि स्वाहा**–इस मंत्र का उच्चारण करके अग्नि में हवि डालने से अकूत धन व संपत्ति की प्राप्ति होती है।

3. **तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा**–इस मंत्र का उच्चारण करके अग्नि में हवि देने से साधक को भगवान के दिव्य स्वरूप का दर्शन प्राप्त होता है।

4. **स मा भग प्रविश स्वाहा**–इस मंत्र से भगवान का दिव्य तेज यज्ञकर्त्ता में प्रविष्ट होता है।

5. **तस्मिन् सहस्त्रशाखे नि भगाहं त्वपि भृगे स्वाहा**–इस मंत्र के द्वारा मन विशुद्ध रूप से भगवान के हजार शाखों वाले दिव्यरूप का दर्शन प्राप्त करता है।

अंत में प्रार्थना की गई है जिस प्रकार नदियां समुद्र में जाकर मिलती हैं, जिस प्रकार वर्ष काल के प्रवाह में समा जाते हैं वैसे ही मेरे पास विभिन्न दिशाओं से ब्रह्मचारी विद्यार्थी आकर ज्ञान ग्रहण करें और स्वयं को प्रकाशित करें।

पंचम अनुवाक

चार रहस्मय व्याहृतियों की व्याख्या

भूः, भुवः व स्वः यह तीन मंत्र पहले बहुत प्रसिद्ध थे। कालांतर में महाचमस के पुत्र ने चौथे मंत्र 'मह' की उपासना प्रारंभ की। यह चौथी व्याहृति ही ब्रह्मरूप है

और अन्य तीनों मंत्रों की आत्मा है। **भूः** का तात्पर्य यहां पृथ्वी लोक से है, जबकि **भुवः अंतरिक्ष लोक है तथा स्वः स्वर्गलोक का प्रतिनिधित्व करता है। (इसी कारण गायत्री मंत्र का ॐ भूः भुवः स्वः इन्हीं तीन व्याहृतियों से होता है।)**

'महः' यह सूर्य या आदित्य के स्वरूप को प्रकट करता है, जिससे यह तीनों जगत् प्रकाशित हो रहे हैं। अतः इन चारों के संयोग से ही कोई भी उपासना पूर्ण होती है। अब दूसरे प्रकार से इन व्याहृतियों की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि भूः का दूसरा अर्थ 'अग्नि' भी है, जबकि भुवः वायु है तथा स्वः सूर्य है। इस संदर्भ में 'महः' चंद्रमा का प्रतिनिधि हो जाता है। (इस रहस्यमय शब्दावली में वस्तुतः भूः व अग्नि का तात्पर्य वाणी से है, क्योंकि **वाणी** का अधिष्ठाता अग्नि देवता है, भुवः व वायु का तात्पर्य त्वचा या स्पर्श इंद्रिय से है, क्योंकि वायु इन्हीं का अधिष्ठाता है। स्वः या सूर्य का तात्पर्य चक्षुओं या आंखों से है, क्योंकि सूर्य ही नेत्रों की ज्योति है। 'महः' या चंद्रमा का तात्पर्य मन से है, क्योंकि चंद्रमा मन का अधिपति है। 'चंद्रमा मनसो जातः' अर्थात् मन की सहायता से ही सभी इंद्रियां प्रकाशित होती हैं। इस प्रकार मन के रूप में परब्रह्म की उपासना की विधि को बताया गया है। इसी प्रकार 'भूः' यह ऋग्वेद है, 'भुवः' यह सामवेद है, 'स्वः' यह यजुर्वेद है, जबकि 'महः' ही परब्रह्म है। अब प्राणों के संदर्भ में इन शब्द मंत्रों की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि 'भूः' प्राण है, भुवः अपान है, स्वः व्यान है, जबकि 'महः' यह अन्न हैं, क्योंकि अन्न से ही अन्य प्राण पुष्ट होते हैं। अंत में कहा गया है कि जो भी इस एक-एक के चार-चार अर्थात् कुल सोलह प्रकार की व्याहृतियों के रहस्य को जान लेता है, वह देवताओं का प्रिय हो जाता है।

छठा अनुवाक

मानव शरीर के योगमय स्वरूप की व्याख्या

इस मनुष्य शरीर के हृदय रूपी आकाश में ही विशुद्ध प्रकाश स्वरूप परमेश्वर निवास करता है। मनुष्य के मुख के अंदर दोनों तालुओं के बीच जो एक मांस का पिंड लटक रहा है, (जिसे आम भाषा में घांटी कहते हैं। वही केशों का या बालों का मूलस्थान है। वहीं से होती हुई सुषुम्ना नाड़ी कपाल के ब्रह्मरंध्र तक जाती है तथा योगियों में मृत्यु के समय इसी नाड़ी का अंतिम सिरा जो सिर के केशों के निकट है, ब्रह्मतेज से फट जाता है। (इसी कारण इसे इंद्रयोनि भी कहते हैं) और योगी सूर्य लोक में प्रविष्ट हो जाते हैं।

वहां से वह देवमार्ग से ब्रह्म में प्रतिष्ठित हो जाता है और अपने स्वराज्य को प्राप्त कर लेता है अर्थात् उस पर प्रकृति का अधिकार समाप्त हो जाता है और स्वयं ही अपना अधिष्ठाता बन जाता है। वह परब्रह्म आकाश रूप, इंद्रियों की विश्राम

देने वाला, मन को आह्लादित करने वाला अविनाशी है। अतः उसी का स्मरण करना चाहिए, उसी के स्वरूप का ध्यान करना चाहिए और उसी की उपासना करनी चाहिए।

सप्तम् अनुवाक

पंच मूलक सृष्टि (ब्रह्मांड) की विवेचना

पृथ्वीलोक, अंतरिक्षलोक, स्वर्गलोक, दिशाएं तथा विदिशाएं ये **पांच लोकों** की पंक्तियां हैं। अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्रमा और समस्त नक्षत्र यह **ज्योतिर्मय जगत्** के पांच आधार हैं। जल, औषधियां, वनस्पतियां, आकाश व अन्नमय स्थूल शरीर, **स्थूल जगत** के निर्माता पांच मूल तत्व हैं। इसी प्रकार प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान ये **प्राणों** के पांच विभाजन हैं। नेत्र, कान, वाणी, त्वचा और मन सब **पांच करणों** की पंक्तियां हैं। चर्म, मांस, नाड़ी, अस्थि और शुक्र ये **पांच शरीर** के आधारभूत तत्व हैं। जो भी व्यक्ति अपने ज्ञान द्वारा इन पांच मूलों के स्थूल व सूक्ष्म रूप में स्थित सहसंबंध को जान लेता है, वह सांसारिक उन्नति प्राप्त कर लेता है। (वस्तुतः इन 6 वस्तुओं का आपस में घनिष्ठ सहसंबंध है, जैसे पहले पांच लोकों का चौथे प्राण समुदाय से घनिष्ठ सहसंबंध है, क्योंकि एक, लोक से दूसरे लोक को संबद्ध करने में प्राणों की ही प्रधानता है। दूसरे, ज्योतिर्मय जगत् के पांच तत्वों का प्रतिनिधित्व मनुष्य शरीर में पांच करणों नेत्र, कान, वाणी, त्वचा और मन से होता है। जैसाकि पंचम् अनुवाक में स्पष्ट है कि सूर्य नेत्रों की ज्योति है, चंद्रमा मन की ज्योति है, वायु त्वचा से सहसंबंधित है, वाणी अग्नि से इत्यादि। इसी प्रकार तीसरे स्थूल जगत् के तत्वों का संबंध शरीर के पांच आधारभूत तत्वों से है।)

अष्टम् अनुवाक

ॐ की महत्ता

इस अनुवाक में ॐ की महिमा का वर्णन किया गया है। भाव इस प्रकार है कि ॐ ही स्वयं में साक्षात् परब्रह्म है। यह दिखाई देने वाला जगत् ॐ का ही स्थूल रूप है। प्राचीन काल में किसी बात को स्वीकार करने या उसका अनुमोदन करने के लिए 'हां' के स्थान पर ॐ का उच्चारण कर दिया जाता था। इसी प्रकार कोई शिष्य जब गुरु से ब्रह्मज्ञान की प्रार्थना करता था तो वह उपदेश भी ॐ के उच्चारण के पश्चात् ही आरंभ करते थे। सामवेद का गायन करने वाले उद्गाता भी पहले ॐ का गायन करने के पश्चात् ही अन्य ऋचाओं का गायन करते थे। ओम्-ओम् इस प्रकार कहने के पश्चात् ही शास्त्रों का अर्थात् उनसे संबंधित मंत्रों का पाठ करते थे। यज्ञ कर्म का अध्वर्यु भी ॐ का उच्चारण करने के पश्चात् ही मंत्रों का उच्चारण करते थे। ब्रह्मा (यज्ञों का मुख्य पुरोहित) भी ॐ के उच्चारण के पश्चात् ही यज्ञकर्म

की अनुमति देते थे। ॐ के उच्चारण के पश्चात् ही अग्निहोत्र प्रारंभ होता था एवं ब्रह्मचारी वैदिक ज्ञान प्रारंभ करता था। कहने का तात्पर्य है कि प्रत्येक शुभ कार्य से पूर्व ॐकार का उच्चारण होता था। यही थी ॐ की महिमा।

नवां व दसवां अनुवाक

नवें अनुवाक में सत्याचरण, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, आतिथ्य सत्कार व संतान प्रजनन आदि कर्मों का तथा दसवें अनुवाक में त्रिशंकु के अनुभवों को व्यक्त किया गया है।

ग्यारहवां अनुवाक

विद्या अध्ययन की समाप्ति के पश्चात् गुरु का अपने शिष्यों को उपदेश

वेदों का अध्ययन पूर्ण करके अंतेवासिन (आश्रम में रहने वाले ब्रह्मचारी) जब अपने घरों को लौटते थे, तो गुरु उन्हें अंतिम उपदेश या अंतिम शिक्षा देता था, जो व्यावहारिक जीवन में बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती थी। उसी उपदेश का वर्णन यहां प्रस्तुत किया गया है, सदैव सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, स्वाध्याय से कभी मत चूको, आचार्य के लिए उचित दक्षिणा लाकर दो, सनातन परंपरा को निरंतर बनाए रखो, धन संपत्ति व लौकिक उन्नति के साधनों के प्रति कभी आलस्य न आने देना, वेदों के पढ़ने व पढ़ाने में कभी भूल नहीं करना तथा देवकार्य़ और पितृकार्य को कभी नहीं भूलना, यह मेरा प्रथम उपदेश है।

दूसरा उपदेश यह है कि माता को देवतास्वरूप समझो, पिता को देवतास्वरूप समझो (मातृ देवो भव, पितृ देवो भव), आचार्य या गुरु को भी देवतास्वरूप समझो, अतिथि को भी देवतास्वरूप समझो (आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव), निर्दोष कर्मों का ही आचरण करो तथा दोषयुक्त कर्मों का कभी भी आचरण न करो, ब्राह्मणों व अपने से बड़ों को आसन देकर सम्मान करना, श्रद्धापूर्वक दान देना, अश्रद्धापूर्वक तथा लज्जा व भय से दान नहीं करना यह मेरा दूसरा उपदेश है।

मेरा तीसरा उपदेश यह है कि इन सब बातों पर आचरण करते हुए भी यदि किसी कर्तव्य के निर्वाह में तुम्हारे मन में शंका हो या दुविधा उत्पन्न हो जाए, तो ऐसी स्थिति में किसी उत्तम विचार वाले, सत्कर्म व सदाचार में लगे विद्वान् ब्राह्मण या महापुरुष से परामर्श लेकर तदनुरूप आचरण करना, इसी प्रकार य़दि कोई व्यक्ति लांछित या दुराचारी हो, तो जैसा विद्वान् लोग उससे व्यवहार करें, वैसे ही आचरण तुम करना, यही शास्त्र कहता है। यही मेरा अंतिम उपदेश है, अंतिम शिक्षा है और अंतिम आदेश है।

द्वादश (बारहवां) अनुवाक

शिक्षा वल्ली के इस अंतिम अनुवाक में पुनः प्रथम अनुवाक की भांति शांति पाठ किया गया है और मित्र, वरुण, इंद्र, अर्यमा, बृहस्पति, विष्णु, वायु देव आदि विभिन्न देवताओं की स्तुति की गई है–

शं नो मित्रः शं वरुणः।

ब्रह्मानन्दवल्ली

प्रथम अनुवाक

ब्रह्म और पंचतत्वों का क्रमिक विकास

शांतिपाठ के पश्चात् अनुवाक ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन प्रारंभ करता है। ब्रह्म सत्य व ज्ञान से प्राप्त होने वाला, अनन्त विस्तार वाला तथा परम विशुद्ध आकाश में स्थित होते हुए भी हृदय के चिदाकाश में भी स्थित रहता है। यह ब्रह्म हृदय रूपी गुफा में छिपा रहता है तथा इस छिपे हुए ब्रह्म को जो साधक जान लेता है, वह ब्रह्म के साथ रहता हुआ इस शरीर से अलौकिक सुखों को भोगता है।

अब पंचतत्वों का विकास क्रम बताते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम उस परब्रह्म से आकाश तत्व उत्पन्न हुआ, तत्पश्चात् आकाशतत्व से वायु, वायु से अग्नि और अग्नि से जल तथा जल तत्व से पृथ्वी सम्भूत हुई। पृथ्वी से समस्त औषधियां, औषधियों से अन्न, अन्न से अन्नमय शरीर उत्पन्न हुआ। अब मनुष्य शरीर की पक्षी के रूप में कल्पना करते हुए कहा गया है कि अन्नमय शरीर से बना हुआ यह जो पुरुष का सिर है, वह मानो उस पक्षी का ही सिर है, दाहिनी भुजा ही दाहिना पंख है। बाईं भुजा ही बायां पंख है। शरीर का मध्यभाग ही पक्षी के शरीर का मध्यभाग है तथा दोनों पैर ही पूंछ व पक्षी के दोनों पैर हैं। (इस पक्षी के रूपक का प्रयोग यहां पर ऋग्वैदिक सुपर्ण=सु+पर्ण= सुंदर पंखों वाला का संकेत देता है। यह प्रजापति, संवत्सर का प्रतीक माना गया है। सुपर्ण के पंख फैलाने और सिकोड़ने की जैसी क्रिया होती है, वही प्राण का रूप है। अतः उसी भाव के अनुरूप मानव शरीर की तुलना पक्षी से की गई है।)

पंचतत्वों के अतिरिक्त पांच प्रकार के कोशों का भी मानव शरीर के संदर्भ में वर्णन मिलता है। सर्वप्रथम तो अन्नमय शरीर ही है, जो माता के गर्भ से जन्म के पश्चात् अन्न द्वारा पुष्ट होता है और पंच महाभूतों से बना होता है। दूसरा शरीर **प्राणमय** शरीर है, जो पांच प्राणों से मिलकर बना होता है। तीसरा शरीर **मनोमय**

शरीर है, जो पांच ज्ञानेंद्रियों व मन से मिलकर बना होता है। चौथा शरीर **विज्ञानमय** कोश है, जो बुद्धि व अहंकार से निर्मित होता है। पंचम शरीर **आनंदमय** कोश है, जो चित्त द्वारा निर्मित होता है। इन पांचों शरीरों के अतिरिक्त शुद्ध आत्मतत्व है, जो ज्ञान ज्योतिस्वरूप परब्रह्म है।

द्वितीय अनुवाक

अन्न की महिमा व प्राणमय शरीर का वर्णन

इस अनुवाक में कहा गया है कि पृथ्वी का आश्रय लेकर जीने वाले जितने भी प्राणी हैं, वह सब अन्न से ही उत्पन्न होते हैं। (क्योंकि वीर्य या रेतस अन्न से ही बनता है, अन्न पर ही जीवन यापन करते हैं और अंत में अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। अतः अन्न ही सब भूतों में श्रेष्ठ है। जो साधक अन्न रूपी ब्रह्म की उपासना करते हैं, वह समस्त अन्नों के सुख का उपभोग करते हैं। अन्न क्योंकि समस्त भूतों में श्रेष्ठ है, इसलिए इसका एक नाम सर्वोषधि भी है। यह अन्न ही पिछले अनुवाक में वर्णित प्रथम स्थूल शरीर अन्नमय शरीर को पुष्ट करता है। दूसरे शरीर प्राणमय शरीर की चर्चा करते हुए कहा गया है कि इस अन्न से पुष्ट अन्नमय शरीर में प्राणमय शरीर है, जो इस अन्नमय शरीर में व्याप्त है तथा उसी के आकार का है (क्योंकि प्राण समस्त शरीर में व्याप्त है)। इस प्राण रूपी सुपर्ण का प्राण सिर है, व्यान दाहिना पंख है, अपान बायां पंख है, आकाश मध्य भाग है और पृथ्वी आधार है।

तृतीय अनुवाक

मनोमय शरीर का वर्णन

पिछले अनुवाक में वर्णित प्राणमय शरीर की महिमा का ही आगे वर्णन करते हुए इस अनुवाक में कहा गया है कि संपूर्ण प्राणी जगत् चाहे वह मनुष्य हो या पशु, सभी प्राण का अनुसरण करके ही जीवित रहते हैं, क्योंकि जब तक शरीर में प्राण स्थित है, तभी तक मनुष्य जीवित रहता है। अतः प्राण ही आयु है। इसलिए प्राण को **'सर्वायुष'** भी कहा गया है और जो भी ज्ञानवान पुरुष इस रहस्य को जान लेता है, वह पूर्ण आयु को प्राप्त कर लेता है। अब तीसरे मनोमय शरीर की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इस दूसरे प्राणमय शरीर के अतिरिक्त इस प्राणमय शरीर के भीतर रहने वाला **'मनोमय'** शरीर है, जो प्राणमय शरीर में व्याप्त है और पुरुष के आकार का ही है। (क्योंकि प्राणमय शरीर अन्नमय शरीर के आकार का है और मनोमय शरीर प्राणमय शरीर में व्याप्त रहता है)। इस मनोमय शरीर रूपी सुपर्ण का यजुर्वेद सिर है, ऋग्वेद दाहिना पंख है, सामवेद बायां पंख है, अथर्ववेद पूंछ एवं आधार है।

चतुर्थ अनुवाक

विज्ञानमय शरीर का वर्णन

तृतीय अनुवाक में वर्णित मनोमय शरीर का ही आगे वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो परब्रह्म, परमआनंदस्वरूप परमात्मा है, वहां पर तो मन, वाणी आदि ज्ञानेंद्रियों के समुदाय रूप मनोमय शरीर की भी पहुंच नहीं है, परंतु यह मनोमय शरीर ब्रह्म को पाने के लिए साधन करने वाले मनुष्य को ब्रह्म के पास पहुंचाने में विशेष सहायक है। इस मनोमय शरीर से भी भिन्न एक चौथा शरीर है, जो 'विज्ञानमय' कोश या शरीर कहलाता है, जो मनोमय शरीर को व्याप्त किए हुए है। मनोमय शरीर से भी सूक्ष्म विज्ञानमय शरीर समस्त शरीर में व्याप्त है। यह शरीर भी पुरुष के ही आकार का है और इसकी भी सुपर्ण पक्षी के रूप में तुलना की गई है। श्रद्धा इसका सिर है, सदाचरण इसका दाहिना पंख है, सत्य भाषण इसका बायां पंख है, ध्यान इसके शरीर का मध्य भाग है और महः नाम से प्रसिद्ध परमात्मा इसका आधार है।

पंचम् अनुवाक

आनंदमय शरीर का वर्णन

चतुर्थ अनुवाक में वर्णित विज्ञानमय शरीर का ही वर्णन जारी रखते हुए कहा गया है कि यह विज्ञानमय शरीर ही यज्ञ अर्थात् आध्यात्मिक कार्य तथा लौकिक अर्थात् शुभ व अशुभ कर्म, दोनों का विस्तार करता है या दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि बुद्धि ही संपूर्ण कर्मों का प्रेरणा स्रोत है। संपूर्ण इंद्रियां और उनका स्वामी मन इसी विज्ञानमय स्वरूप ब्रह्म की उपासना करता है अर्थात् मनोमय शरीर विज्ञानमय शरीर के अधीन है (मन बुद्धि के अधीन है)। इस विज्ञानमय शरीर या विज्ञानमय कोश से भिन्न उसके भीतर एक अन्य शरीर है, जिसे 'आनंदमय कोश' कहते हैं। यह आनंदमय परमात्मा भी उसी प्रकार पुरुषाकार है, जैसे विज्ञानमय कोश पुरुष के आकार का है। अब सुपर्ण पक्षी के रूप से इसकी तुलना करते हुए कहा गया है कि प्रिय ही उस आनंदमय पक्षी का सिर है, मोद दाहिना पंख है, (मन को प्रिय लगने वाले पदार्थों की प्राप्ति से मनुष्य को जो हार्दिक प्रसन्नता होती है, वही आनंद मोद कहलाता है, प्रमोद बायां पंख है (मोद की उत्कृष्ठ अवस्था ही प्रमोद कहलाती है), आनंद उसका मध्य भाग है, ब्रह्म उसकी पूंछ एवं आधार है।

षष्ठम् अनुवाक

ब्रह्म की सर्वश्रेष्ठता एवं कुछ विशिष्ट अनुप्रश्न

अनुवाक में वर्णित आनंदमय कोश को ही आत्मा का स्वरूप माना गया है और अन्य वर्णित सभी अन्नमय, प्राणमय शरीर इन्हीं की सत्ता के अंतर्गत हैं, अर्थात् यही सर्व

व्यापक और अंतर्यामी हैं। इसके पश्चात् अब दूसरे कुछ विशिष्ट अनुप्रश्न आरंभ होते हैं। (अनु का शाब्दिक अर्थ है पीछे या पश्चात् अर्थात् आचार्य के उपदेश के पश्चात् किसी शिष्य के मन में जो प्रश्न उठते हैं, वही जिज्ञासाएं अनुप्रश्न कहलाती हैं)।

1. यदि ब्रह्म है तो उनको न जानने वाला या उनको न मानने वाला मनुष्य भी क्या मरने के पश्चात् परलोक में जाता है या नहीं?

2. ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार करने वाला या उनको जानने वाला क्या वास्तव में परलोक को प्राप्त होता है?

इन दो प्रश्नों का उत्तर तीन चरणों में दिया गया है। सर्वप्रथम यह सिद्ध किया गया है कि चाहे मानने वाले मानें या मानें, ब्रह्म की सत्ता निर्विवाद है। इसी को सिद्ध करते हुए कहा गया है कि इस संपूर्ण जगत् की रचना उस परब्रह्म के संकल्प मात्र से हुई है और इस जगत् की रचना करके वही इसके मूर्त और अमूर्त रूप में प्रविष्ट हो गया है। संपूर्ण जड़ व चेतन पदार्थों में ज्ञानी पुरुष उसी ब्रह्म के स्वरूप को देखते हैं।

सप्तम् अनुवाक

'सुकृत' ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन और इसको न जानने वाले की गति

इस अनुवाक में कहा गया है कि स्थूल और सूक्ष्म रूप में प्रकट होने से पूर्व यह जड़-चेतनमय जगत् अव्यक्तरूप में था और क्योंकि उस परब्रह्म ने स्वयं को ही संपूर्ण दृश्य जगत् में अपने आप ही बनाया है। अतः वह 'सुकृत' (अपने आप बनाए हुए) है। यह सुकृत ब्रह्म ही रसस्वरूप है, क्योंकि वह ही वास्तविक आनंद है। यदि यह आनंदमय परमात्मा न होता, तो कौन जीवन को धारण करता तथा कौन प्राणों से चेष्टा करवाता। जो भी जीवात्मा या मनुष्य आंखों न देखने में आने वाले निराकार, बतलाने में न आने वाले अर्थात् नाम-रूप विहीन परब्रह्म को स्मरण नहीं करता या उसकी सत्ता में विश्वास नहीं करता, तभी तक वह पुनर्जन्म के भय से व्याप्त रहता है और वह जन्म तथा मृत्यु के आवागमन चक्र में फंसा रहता है तथा उसकी मुक्ति नहीं होती।

अष्टम् अनुवाक

ब्रह्म की प्राप्ति में प्राप्त ब्रह्मानंद की सांसारिक आनंद से उत्तरोत्तर तुलन

उस ब्रह्म की प्राप्ति में जीव को कितना व कैसा आनंद प्राप्त होता है? इसी का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम यदि हम मानव लोक के बड़े-से-बड़े या सर्वोत्तम आनंद की कल्पना करें तो वह क्या हो सकता है? उसको कैसे मापा जाए? उसके उत्तर में कहा गया है कि मनुष्य युवा हो, श्रेष्ठ आचरण वाला हो, शिक्षित

हो, स्वस्थ हो, सभी इंद्रियां पूर्ण रूप से क्रियाशील हों, उसके पास विपुल धन-संपत्ति हो, संपूर्ण पृथ्वी पर उसका अधिकार हो, उसको सभी प्रकार की सुख-सुविधाएं प्राप्त हों—यह मनुष्य लोक का एक आनंद है। मनुष्य लोक के पश्चात् गंधर्व लोक का जो आनंद है, वह मनुष्य लोक से सौ गुना अधिक है, उसके पश्चात् उत्तरोत्तर देव गंधर्व आनंद, पितर आनंद, आजानज देव आनंद (देवलोक के एक विशेष स्थान का नाम आजान है, जो लोग स्मृतियों में प्रतिपादित किन्हीं पुण्यकर्मों के कारण वहां उत्पन्न होते हैं, उन्हें आजानज कहते हैं), कर्मदेवानंद, देव आनंद, इंद्र आनंद, बृहस्पति आनंद, प्रजापति आनंद और अंत में ब्रह्मानंद है।

इसे निम्नलिखित तालिका में स्पष्ट किया गया है—

1.	सौ (100) मनुष्य आनंद	=	एक मनुष्य गंधर्व आनंद
2.	सौ (100) गंधर्व आनंद	=	एक देव गंधर्व आनंद
3.	सौ (100) देव गंधर्व आनंद	=	एक पितृ आनंद
4.	सौ (100) पितृ आनंद	=	एक आजानज देव आनंद
5.	सौ (100) आजानज देव आनंद	=	एक कर्म देव आनंद
6.	सौ (100) कर्म देव आनंद	=	एक देव आनंद
7.	सौ (100) देव आनंद	=	एक इंद्र आनंद
8.	सौ (100) इंद्र आनंद	=	एक बृहस्पति आनंद
9.	सौ (100) बृहस्पति आनंद	=	एक प्रजापति आनंद
10.	सौ (100) प्रजापति आनंद	=	एक ब्रह्मानंद (एक हिरण्यगर्भ आनंद)

अर्थात् ब्रह्मानंद की मनुष्य के सांसारिक चरम आनंद से तुलना करने पर वह 10 लाख खरब गुना है। (10^{20})। कहने का तात्पर्य है कि जितने आनंद की मनुष्य देख, सुन या समझ कर कल्पना कर सकता है या भोग सकता है। वह सब उस ब्रह्मानंद की तुलना में कुछ भी नहीं है। अंत में कहा गया है कि जो भी मनुष्य पुरुष में और सूर्य में व्याप्त इस अंतर्यामी पुरुष को जान जाता है, वह पांचों कोशों अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनंदमय की आत्मा को पार कर लेता है, अर्थात् परब्रह्म में विलीन हो जाता है।

नवम् अनुवाक

ब्रह्मानंदवल्ली के इस अंतिम अनुवाक में कहा गया है कि जहां से मन सहित सभी इंद्रियां उसे प्राप्त किए बिना लौट आती हैं, उस ब्रह्म को जानने वाला कभी भयभीत नहीं होता और पाप पुण्य कर्मों का विचार करके शोक नहीं करता।

भृगुवल्ली

प्रथम अनुवाक

भृगु का पिता वरुण के पास ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हेतु गमन

वरुण ऋषि के पुत्र भृगु ऋषि ने एक बार ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपने पिता से प्रार्थना की तथा ब्रह्म तत्व को जानने की इच्छा प्रकट की। तब वरुण ऋषि ने भृगु से कहा कि–हे पुत्र! अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र (कान), मन और वाणी ये सभी ब्रह्म प्राप्ति के माध्यम या द्वार हैं। इन्हीं के द्वारा ब्रह्म की सत्ता प्रस्फुटित होती है। यह सब प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले जीव जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसके सहारे जीवित रहते हैं और अंत में प्रयाण करते हुए उसी में प्रवेश करते हैं, वही ब्रह्म है। इस प्रकार पिता का उपदेश पाकर भृगु ऋषि ने तप किया और उपदेश पर मनन किया। मनन व तपस्या से उन्हें किस प्रकार ज्ञान की प्राप्ति हुई, यही विवेचना आगे के अनुवाकों में प्रस्तुत की गई है।

द्वितीय अनुवाक

अन्न की ब्रह्म के रूप में स्थापना

पिता के उपदेशानुसार भृगु ऋषि ने पहले निश्चयपूर्वक मना किया कि अन्न ही ब्रह्म है, क्योंकि समस्त प्राणी अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, (क्योंकि अन्न से ही वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्य से प्राणी का जन्म होता है। अन्न से ही अन्नमय शरीर पुष्ट होता है तथा अन्य शरीरों को धारण करता है और मरने के पश्चात् अन्न में ही प्रविष्ट हो जाते हैं (क्योंकि अन्न पृथ्वी से ही उत्पन्न होता है और जीव का शरीर मरने के बाद पृथ्वी में ही विलीन हो जाता है। यह मनन करने के पश्चात् वह पुनः पिता के पास पहुंचे और अपने समझे हुए ज्ञान को पिता के सम्मुख प्रस्तुत किया। पिता ने कोई उत्तर नहीं दिया और पुनः तप करने को कहा।

तृतीय अनुवाक

प्राण की ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा

पिता के उपदेश व आदेश के अनुसार भृगु ऋषि ने अब प्राण को ही ब्रह्म मानकर मनन व तप प्रारंभ किया और निश्चय किया कि प्राण ही ब्रह्म है। समस्त प्राणी प्राणों से उत्पन्न होते हैं, क्योंकि एक जीवित प्राण युक्त प्राणी से ही दूसरा सजीव प्राणयुक्त प्राणी जन्म लेता है। प्राणों द्वारा ही सबका पोषण होता है, क्योंकि अपान, उदान, व्यान, समान आदि के द्वारा प्राण ही अन्न व रस को शरीर के विभिन्न भागों

में पहुंचाता है और विभिन्न शारीरिक क्रियाओं को नियंत्रित करता है। उसी प्रकार मरने के पश्चात् सभी जीव प्राण में ही प्रविष्ट हो जाते हैं, क्योंकि मृत देह में प्राण नहीं रहता। अतः निःसंदेह प्राण ही ब्रह्म है। यह निश्चय कर वह पुनः अपने पिता के पास पहुंचे, परंतु पिता ने पुनः कोई उत्तर नहीं दिया और दोबारा तप करके ब्रह्म को जानने की आज्ञा दी।

चतुर्थ अनुवाक

मन का ब्रह्म के रूप में मनन

इस बार भृगु ऋषि ने यह निश्चय किया कि मन ही ब्रह्म है, क्योंकि पिता जी द्वारा बताए गए सभी ब्रह्म के लक्षण मन में पाए जाते हैं। मन से ही सब प्राणियों का उद्भव होता है, क्योंकि माता-पिता या स्त्री-पुरुष के मानसिक भावों के जागृत होने के पश्चात् ही मिथुनात्मक सृष्टि द्वारा प्राणी माता के गर्भ में प्रविष्ट होता है। जन्म लेने के पश्चात् मन से ही इंद्रियों द्वारा समस्त जीवन को धारण करता है और मरने के पश्चात् मन में ही प्रविष्ट हो जाता है। अतः निःसंदेह मन ही प्राण है, यह निश्चय कर वह पुनः अपने पिता के पास पहुंचे, परंतु पिता ने इस बार भी कोई उत्तर नहीं दिया और पुनः तप करने को कहा तथा ब्रह्म को जानने की आज्ञा दी।

पंचम् अनुवाक

विज्ञान की ब्रह्म के रूप में उपासना

इस बार पुनः उसी प्रकार भृगु ऋषि ने निश्चय करके विज्ञान की ब्रह्म के रूप में उपासना की, क्योंकि विज्ञान अर्थात् चेतन जीवात्मा से ही यह समस्त प्राणी उत्पन्न होकर जीते हैं तथा अंत में प्रयाण करते हैं। प्रयाण के पश्चात् यह इसी जीवात्मा में प्रविंष्ट हो जाते हैं। अतः यह विज्ञानस्वरूप जीवात्मा ही ब्रह्म है। यह निश्चय कर वह पुनः अपने पिता के पास पहुंचे, परंतु पिता ने पुनः पहले की भांति कोई उत्तर नहीं दिया और तप करके ब्रह्म को जानने की आज्ञा दी।

षष्ठ अनुवाक

आनंद का ब्रह्म के रूप में ध्यान

इस बार पुनः भृगु ने पिता के आदेशानुसार आनंद को ही ब्रह्म मानकर मनन प्रारंभ किया। आनंद से ही सब जीव उत्पन्न होते हैं और आनंद के लेश मात्र से या आनंद की इच्छा से ही सब जीव जी रहे हैं, क्योंकि दुःख में कोई जीना नहीं चाहता और लोक से प्रयाण करते हुए उस आनंदस्वरूप परमात्मा में ही विलीन हो जाते हैं। अतः सबके जीवन का आधार आनंदस्वरूप परमात्मा ही है। यह अनुभव होते ही भृगु ऋषि

को परब्रह्म का यथार्थ ज्ञान हो गया और उनकी जिज्ञासा शांत हो गई तथा वह पुनः पिता के पास नहीं गए। इस प्रकार भृगु के पिता के नाम से प्रसिद्ध यह वारुणी विद्या स्वयं विशुद्ध आकाश स्वरूप परमात्मा में प्रतिष्ठित है अर्थात् परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होने पर ही यह विद्या समझ में आती है, जैसाकि मृत्यु ऋषि के उदाहरण से स्पष्ट है। जो भी इस विद्या को जान लेता है, वह ब्रह्मतेज से संपन्न होकर, अन्नवान, निर्विकार न नीरोगी हो जाता है।

सप्तम् अनुवाक

अन्न की महिमा

इस अनुवाक में अन्न की महिमा और उसका महत्व बतलाया गया है। सर्वप्रथम मनुष्य को यह व्रत लेना चाहिए कि वह कभी अन्न की निंदा नहीं करेगा या उसका तिरस्कार नहीं करेगा। अन्न ही प्राण है तथा अन्न ही शरीर है, क्योंकि अन्नमय शरीर अन्न पर ही आधारित है तथा उसी में प्राण प्रतिष्ठित है। दूसरे शब्दों में कहा गया है कि अन्न, अन्न में ही प्रतिष्ठित हो रहे हैं। यही अन्न का रहस्य है तथा जो इस तत्व को भलीभांति समझ लेता है, वह अन्नवान्, पशुवान्, कीर्तिवान् व महान् हो जाता है।

अष्टम् अनुवाक

जल और तेज की महिमा

इस अनुवाक में जल व ज्योति को अन्नरूप बताकर उन्हें भी अन्न के समान पूजनीय माना गया है। जिस प्रकार मनुष्य अन्न की अवहेलना या तिरस्कार नहीं करता, उसी प्रकार जल और ज्योति के प्रति भी यही व्रत लेना चाहिए। जल ही अन्न है, क्योंकि सभी प्रकार के अन्न जल से ही उत्पन्न होते हैं और अन्न जल पर निर्भर है। तेज या ज्योति जल में ही प्रतिष्ठित है, क्योंकि जिस प्रकार अग्नि व सूर्य की ज्योति बाह्य वातावरण से जल का शोषण करती है या उसका भक्षण करती है, वैसे ही पेट में स्थित जठराग्नि शरीर में जल का शोषण करती है। यह जल और तेज अन्न में ही परिवर्तित हो जाते हैं। अतः ये दोनों अन्न ही हैं। इस प्रकार अन्न में अन्न ही प्रतिष्ठित हो जाता है। जो मनुष्य इस रहस्य को जान लेता है, वह अन्नवान्, संतानवान्, पशुवान्, कीर्तिवान्, ब्रह्मतेज से युक्त महान् प्राणी हो जाता है।

नवम् अनुवाक

पृथ्वी व आकाश दोनों की अन्नरूप में ही आराधना

इस अनुवाक में पूर्व अनुवाकों की भांति अन्न की महिमा का वर्णन करते हुए उसकी वृद्धि करने का व्रत लेने को कहा गया है। आगे कहा गया है कि पृथ्वी ही अन्न

है, क्योंकि सभी प्रकार के अन्न पृथ्वी से ही उत्पन्न होते हैं। यहां पृथ्वी को अन्नाद की संज्ञा दी गई है। इस पृथ्वी को ढके हुए जो यह आकाशरूपी आवरण है, वही इस अन्न का भोक्ता है। पंचमहाभूतों में से आकाश पहला तत्व है, जबकि पृथ्वी अंतिम तत्व है और शेष तीनों तत्व इन्हीं के अंतर्गत हैं। अतः समस्त खाद्य पदार्थ रूपी अन्न इस आकाश में भी व्याप्त हैं। अन्य अनुवाकों की भांति यहां भी इसका समापन इसी बात से किया गया है कि जो भी मनुष्य इस रहस्य को जान लेता है, वह अन्नवान्, संतानवान्, पशुवान्, कीर्तिवान् व ब्रह्मतेज से युक्त महान् प्राणी हो जाता है।

दशम् अनुवाक

अतिथि सेवा, विविध भावनाओं से देव स्तुति व रहस्यमय स्तुति

दसवें अनुवाक के प्रारंभ में कहा गया है कि अपने घर आए अतिथि को कभी निराश न करें। यह अतिथि सत्कार या 'अतिथि देवो भव' की भावना अपने आप में एक व्रत है। आगंतुक अतिथि को श्रद्धा व सत्कारपूर्वक भोजन देना चाहिए। जैसी श्रद्धा से अतिथि का भोजन-सत्कार किया जाता है, वैसा ही फल सेवा करने वाले को प्राप्त होता है। जो मनुष्य इस रहस्य को जानता है, वह विशुद्धभाव से अतिथि सेवा करके उचित फल प्राप्त करता है। अब परमात्मा का विभूतिरूप में सर्वत्र चिंतन करते हुए बताया गया है कि वह ब्रह्म वाणी में, प्राण व अपान आदि में, हाथों में, पैरों में, गुदा में क्रमशः क्षेम (रक्षा), योग क्षेम, कर्म, गति तथा उत्सर्जन या विसर्जन आदि क्रिया शक्तियों के रूप में स्थित है। यही आध्यात्मिक उपासना है। अब आध्यात्मिक के पश्चात् दैवीय उपासनाओं का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वर्षा में, बिजली में, पशुओं में, नक्षत्रों में, जननेंद्रिय में क्रमशः तृप्ति, तेज, बल, प्रकाश व वीर्य रूप में परमात्मा का अंश अभिव्यक्त है। इस परब्रह्म की उपासना के फल का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो उस उपास्यदेव की प्रतिष्ठा भाव से आराधना करता है, वह साधक प्रतिष्ठावान हो जाता है। जो उसकी महान् भाव से आराधना करता है, वह महान् हो जाता है। जो उसे मन रूप मानकर उसकी आराधना करता है, वह मनन शक्ति से संपन्न हो जाता है। जो इस परब्रह्म को नमन् या नमस्कार करता है, उसको सभी योग्य पदार्थ सुलभ हो जाते हैं। जो परमात्मा के संहारात्मक रूप की आराधना करता है अर्थात् इस भाव से आराधना करता है कि वह परमात्मा प्रलय का कारण स्वरूप है, तो उसके सभी शत्रु नष्ट हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जो-जो साधक जिस-जिस भाव से उस परम प्रभु की आराधना करता है, उसी भाव के अनुरूप उसको उनकी प्राप्ति हो जाती है।

जो इस पुरुष में है, वही सूर्य रूप में उद्भासित हो रहा है, वह केवल एक है। अर्थात् संपूर्ण चराचर जगत् उसी से व्याप्त है तथा जो इस रहस्य को भली-भांति

जान लेता है, वह अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व अंत में आनंदमय आत्मा के अभीष्ट रूप को प्राप्त हो जाता है, सब लोकों में विचरता हुआ वह सामगान या नादब्रह्म में विलीन हो जाता है। अंत में अन्न की प्रशंसा में एक विचित्र रहस्यमय मंत्र देकर इस उपनिषद् या ब्रह्म विद्या को विश्राम दिया गया है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

कठोपनिषद्

यह उपनिषद् यजुर्वेद की तैत्तरीय शाखा से संबंधित है। इसमें नचिकेता की प्रसिद्ध कहानी है। गीता को उपनिषद् रूपी गायों का दुग्ध कहा गया है। यह उक्ति इस उपनिषद् के संदर्भ में पूर्णतः स्पष्ट होती है, क्योंकि इसकी कई पंक्तियां अक्षरशः वैसे ही गीता में दोहराई गई हैं। इस उपनिषद् में **दो अध्याय** हैं और प्रत्येक अध्याय **तीन तीन वल्लियों** में विभाजित हैं। इसमें कुल 189 श्लोक हैं, जो ब्रह्म विद्या का यमराज द्वारा नचिकेता को दिया गया उपदेश है।

प्रथम अध्याय

प्रथम वल्ली

उद्दालक ऋषि का विश्वजित यज्ञ करना तथा नचिकेता का यमलोक जाना

बहुत समय पहले की बात है, एक बार महर्षि अरुणि के पुत्र उद्दालक ऋषि (जिन्हें गौतमवंशीय वाजश्रवा ऋषि का पुत्र भी कहा जाता है, वाज=अन्न, श्रव=उसके दान से प्राप्त यश) ने विश्वजित नामक महान् यज्ञ किया और अपना सर्वस्व ऋत्विकों को दान कर दिया। उद्दालक पुत्र वात्रश्रवा के नचिकेता नाम का एक प्रसिद्ध पुत्र था। वैदिक काल में धन का तात्पर्य वस्तुतः गोधन से था। अतः उद्दालक ऋषि गो दान कर रहे थे। उन गायों में से कुछ गाएं बूढ़ी व जीर्ण तथा दूध से हीन थीं, जिन्हें दान देना नचिकेता को उचित नहीं लगा। इस दान से पिता जी को क्या पुण्य प्राप्त होगा? सर्वस्व दान का अर्थ तो सबकुछ दान कर देने से है। अतः पिताजी को मुझे भी दान करना चाहिए। यही उनका धर्म है। यह निश्चय कर वह अपने पिता के पास पहुंचकर कहने लगा कि पिताजी आप मुझे किसको दान में देंगे? पिता ने उपेक्षा करते हुए कोई उत्तर नहीं दिया। नचिकेता ने पुनः वही प्रश्न दोहराया। पिता ने पुनः ध्यान नहीं दिया। तीसरी बार पूछने पर पिता को क्रोध आ गया और

उन्होंने क्रोधावेग में कहा कि जा, तुझे मैं मृत्यु को देता हूं। पिताजी के इन वचनों को ही आज्ञा समझकर नचिकेता यमराज के पास यमलोक के लिए चल पड़ा। यमलोक पहुंचने पर नचिकेता को पता चला कि यमराज किसी कार्यवश बाहर गए हुए हैं। अतः नचिकेता तीन दिनों तक अन्न-जल ग्रहण किए बिना यमराज के आने की प्रतीक्षा करता रहा। तीसरे दिन यमराज वापस आ गए और घर आने पर उन्हें पत्नी ने बताया कि एक ब्राह्मण अतिथि बालक तीन दिनों से द्वार पर भूखा-प्यासा प्रतीक्षा कर रहा है। अतः आप तुरंत जाकर उसका आतिथ्य सत्कार करें। यमराज ने तुरंत जाकर नचिकेता को विधिवत् पाद्य-अर्घ्य दिया तथा कहा कि आपको अतिथि होकर तीन रात्रियों तक भूखे रहकर मेरे घर पर प्रतीक्षा करनी पड़ी है। अतः मेरे इस दोष की निवृत्ति के लिए आप प्रत्येक रात्रि के बदले एक-एक करके तीन वरदान मांग लीजिए।

नचिकेता का प्रथम वरदान मांगना

नचिकेता ने तीन वरदानों में से पहला वरदान यह मांगा कि उसके पिता जो क्रोधावेग में अपने एकमात्र पुत्र को मृत्यु के पास भेजकर अब दुःखी व क्लांत हो रहे थे, वह अब शांत व क्रोधरहित हो जाएं तथा जब मैं यहां से अनुमति प्राप्त करके घर जाऊं, तो वह मुझे पहचान लें और मुझसे स्नेहपूर्वक बातचीत करें। यमराज ने कहा— 'तथास्तु' यानी ऐसा ही होगा।

नचिकेता का दूसरा वरदान मांगना (नचिकेता अग्नि)

प्रथम वरदान को पाकर नचिकेता ने यमराज से दूसरा वरदान मांगा कि हे यमराज! स्वर्गलोक में न तो बुढ़ापे का भय है, न ही मृत्यु का भय है, न ही भूख-प्यास की पीड़ा है, न ही कोई अन्य दुःख है। परंतु यह स्वर्ग लोक का सुख अग्निविद्या को जाने बिना नहीं मिलता। आप उस रहस्यमयी अग्निविद्या को कृपाकर मुझे विस्तारपूर्वक बताइए। इस पर यमराज ने स्वर्ग लोग की कारणरूपा उस अग्नि विद्या का नचिकेता को मर्म बतलाया। अग्निविद्या में किस प्रकार की, कितनी व कैसी ईटों से वेदी का निर्माण करना चाहिए तथा किस प्रकार अग्नि का चयन करना चाहिए, यह सब भलीभांति नचिकेता को समझा दिया और नचिकेता की परीक्षा लेने के लिए यमराज ने उससे सबकुछ सुनाने को कहा। नचिकेता ने वह सब यमराज को बिना किसी त्रुटि या अशुद्धि के यथावत् बता दिया जिससे यमराज बहुत प्रसन्न हुए। प्रसन्न होकर यमराज ने नचिकेता की तीक्ष्ण बुद्धि व अप्रतिम योग्यता को देखकर बिना मांगे अपनी ओर से एक और वरदान दिया कि यह अग्नि जिसका मैंने तुम्हें ज्ञान दियां है, वह संसार में नचिकेता अग्नि के नाम से ही प्रसिद्ध होगी और साथ ही एक सुंदर रत्नों वाली माला भी भेंट की। ईंटों की संख्या, ईंटों के आकार और अग्नि

का चयन इन तीन बातों को जो विद्वान् समझकर नचिकेता अग्नि का अनुष्ठान करता है, वह ऋक, यजु व साम के रहस्यों को जानकर यज्ञ दान व तप कर्मों को करता हुआ स्वर्गलोक के आनंद को भोगता है।

नचिकेता का तीसरा वरदान

दोनों वरदान प्राप्त करने के पश्चात् नचिकेता ने तीसरे वरदान में यमराज से आत्मतत्व के रहस्य को बताने की प्रार्थना की। उसने पूछा कि हे यमराज! मनुष्य के मरने के पश्चात् जो संशय सामान्यतः लोगों के मन में आता है कि मरने के बाद आत्मा कहां जाती है? कहां रहती है? और कई लोग तो आत्मा के अस्तित्व के बारे में ही संदेह करते हैं? आप मुझे इसी तथ्य को स्पष्ट करें, क्योंकि आप तो स्वयं ही मृत्यु के देवता हैं? यमराज ने उत्तर दिया कि हे नचिकेता! यह रहस्य तो देवताओं को भी ज्ञात नहीं है। उन्हें भी इसी प्रकार संदेह हुआ था, क्योंकि यह विषय ही इतना गूढ़ है कि सहज ही समझ में आने वाला नहीं है। अतः इसे छोड़कर तुम कोई और वरदान मांग लो। नचिकेता ने यह सुनकर पुनः मृत्युदेव से कहा कि प्रभु, जैसा आप स्वयं ही कह रहे हैं कि यह विषय देवताओं के लिए भी सुलभ नहीं है, उससे यह तो निश्चित है कि यह बड़े ही महत्त्व का गूढ़ विषय है और सौभाग्य से मृत्युदेव के अतिरिक्त इस विषय पर और अधिक अनुभवी वक्ता का होना भी असंभव है। अतः मुझे तो कृपा कर इसी का उपदेश दीजिए। मुझे किसी अन्य वस्तु की इच्छा नहीं है! यमराज ने पुनः कहा कि नचिकेता, तुम सैकड़ों वर्ष की आयु वाले पुत्र और पौत्र मांग लो, गौ, हाथी, घोड़े और मनचाहा स्वर्ण मांग लो। जितनी चाहे भूमि मांग लो और अपने लिए भी इच्छा मृत्यु का वरदान मांग लो। इस प्रलोभन के प्रत्युत्तर में नचिकेता ने कहा कि हे यमराज! यह सब भोग तो क्षणभंगुर है, आज हैं, कल नहीं रहेंगी, इसी प्रकार भोगों से प्राप्त होने वाला इंद्रियों का सुख भी क्षणिक है और आयु चाहे कितनी भी क्यों न हो, एक-न-एक दिन तो समाप्त होगी ही, इसलिए रथ, हाथी, घोड़े, रमणियां और इंद्रिय सुख ये सब मुझे नहीं चाहिए। हे धर्मराज! धन और भोग से मन कभी तृप्त नहीं होता, क्योंकि जैसे आग में घी डालने से आग और जोरों से भड़कती है, वैसे ही धन और भोगों की प्राप्ति से भोगों की इच्छा और बलवती होती है। वह कभी तृप्त नहीं होती? अतः मुझे तो आत्मविषयक तत्व का उपदेश ही दें। नचिकेता के इस दृढ़ निश्चय को जानकर यमराज ने उसे ब्रह्मविद्या का रहस्य बताना स्वीकार कर लिया।

द्वितीय वल्ली

श्रेय और प्रेय नामक दो साधनों का वर्णन

इस वल्ली में वर्णित श्रेय और प्रेय नामक दो मार्ग भारतीय औपनिषदिक दर्शन के सारतत्व माने जाते हैं, जिन पर प्रसिद्ध ग्रंथ श्रीमद्भगवतगीता आश्रित है। ब्रह्मविद्या का आदेश प्रारंभ करते हुए यमराज कहते हैं कि इस मृत्युलोक में आत्मतत्व या कल्याण का मार्ग जिससे मनुष्य सदा के लिए व सब प्रकार के दुःखों से छूटकर परब्रह्म को प्राप्त होता है, श्रेय कहलाता है, जबकि सांसारिक सुखों व प्रिय लगने वाले भोगों को उपलब्ध कराने वाला तथा स्वर्गलोक की प्राप्ति कराने वाला मार्ग प्रेय कहलाता है। ये दोनों साधन श्रेय व प्रेय मनुष्य के सामने आते हैं और ज्ञानी पुरुष इन दोनों के स्वरूप पर भलीभांति विचार करके तथा उनको अलग-अलग समझकर भोग की अपेक्षा मोक्ष के मार्ग को ही ग्रहण करते हैं, जबकि मूढ़ बुद्धि वाला पुरुष लौकिक योगक्षेत्र को ही परमसुख समझकर अविद्या के कारण अपने जीवन में उद्देश्य से भटक जाता है। पुनः यमराज नचिकेता को उसी का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जैसे अभी तुम्हारे सम्मुख श्रेय व प्रेय दोनों मार्ग उपलब्ध थे, परंतु तुमने मेरे प्रलोभन रूपी प्रेय मार्ग को त्यागकर वैराग्यमय आत्मज्ञानाभिलाषी श्रेय मार्ग को चुना। अतः हे नचिकेता! श्रेय व प्रेय मार्ग की भांति मृत्युलोक में विद्या और अविद्या नामक दो तत्व और भी विद्यमान हैं, जो परस्पर पृथक्-पृथक् फल देने वाले और विपरीतधुव्री हैं। तुमने भोगों को त्यागकर ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा की है। अतः तुम्हें मैं विद्या तत्व का उपदेश दूंगा। नचिकेता! तुम तो बड़े भाग्यशाली हो, क्योंकि जिनके अंतर्मन में अविद्या के कारण प्रकाश नहीं होता, वे मूर्ख लोग स्वयं को बहुत बुद्धिमान और विद्वान् समझते हैं तथा नाना प्रकार के भोगों की इच्छा करते हुए नाना योनियों में उसी प्रकार भटकते रहते हैं, जैसे अंधे अपने लक्ष्य को न पाकर रास्ते में नाना वस्तुओं से टकराकर भटकते रहते हैं। अविद्या में डूबे हुए मनुष्यों की दुर्दशा का ही वर्णन करते हुए यमराज पुनः कहते हैं कि इन लोगों की एक पहचान या विशिष्टता यह भी है कि ये लोग स्वर्ग-नरक के अस्तित्व में विश्वास ही नहीं करते और केवल इस संसार में सुख-दुःख को ही स्वर्ग-नरक के समतुल्य मानकर बार-बार मेरे वश में अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं।

आत्मतत्व की दुर्लभता पर पुनः बल देते हुए यमराज कहते हैं कि नचिकेता! यह आत्मतत्व का गूढ़ ज्ञान अधिकांश लोगों को तो सुनने के लिए भी नहीं मिलता, जिनको सुनने को मिलता है, उनमें अधिकांश को तो यह समझ में ही नहीं आता और यदि कुछ लोगों की समक्ष में आ जाता है, तो उनमें से कोई बिरला ही इस पर आचरण कर परब्रह्म को जान पाता है। अतः सारांश यह है कि आत्मतत्व का ज्ञाता परम दुर्लभ है। अब यमराज आत्मज्ञान के ज्ञाता की इतनी दुर्लभता का कारण

स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि सामान्य मनुष्य की बुद्धि की प्रवृत्ति तर्कात्मक होती है और आत्मज्ञान या ब्रह्म का तत्व तर्क से परे है। यह मस्तिष्क का विषय न होकर हृदय का विषय क्षेत्र है, क्योंकि विचारों का उद्भव मस्तिष्क से होता है, जबकि भावों का या रसों का प्रस्फुटन हृदय में स्थित आत्मा से होता है। आत्मा सूक्ष्मतम है। अतः यह विषय भी अत्यंत सूक्ष्म है। इसमें समष्टि का भाव न होकर व्यष्टि भाव है, ब्रह्मज्ञान का व्यापार स्थल घनीभूत है न कि सांसारिक भोगों की तरह विस्तृत। इसी कारण किसी अन्य ब्रह्मज्ञानी द्वारा मार्ग न दिखाए बिना साधारण मनुष्य का इसमें प्रवेश नहीं हो सकता और इसका ज्ञान भी नहीं हो पाता। हे नचिकेता! तुम धन्य हो कि इतनी छोटी-सी बाल्यावस्था में ही तुम्हारी निष्ठा आत्मज्ञान में प्रवृत्त हो गई है।

आत्मतत्व या परमब्रह्म का उपदेश

अब उस ब्रह्म की महिमा का वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं कि वह सर्वव्यापी ब्रह्म मनुष्य शरीर की हृदयरूपी गुहा में छिपा रहता है। यह संपूर्ण संसार एक दुर्गम गहन वन के सदृश है, जिसे इसी ब्रह्म की योगमाया ने इस प्रकार ढका हुआ है कि कोई धीर व्यक्ति ही उसे प्राप्त करके हर्ष व शोक से परे हो जाता है, जो मनुष्य इस तत्त्व के बारे में सुनकर उसे भलीभांति ग्रहण करके उस पर विचार करता है तथा मनन करता है, वह उस सूक्ष्मतम आत्मतत्व को स्वानुभूत कर उसी के आनंद में निमग्न हो जाता है।

नचिकेता यमराज से उपदेश के बीच में ही पुनः प्रश्न करता है कि हे गुरु रूप धर्मराज! मुझे परब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट करके बताइए। यह गूढ़ तत्व मुझे भलीभांति समझाइए। अब यमराज परब्रह्म के गूढ़ ज्ञान को सरल शब्दों में अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि संपूर्ण वेदों का सार, संपूर्ण साधकों की साधना का निष्कर्ष और ब्रह्मचर्य के तप का फल यदि मैं तुम्हें एक शब्द मात्र में कहना चाहूं, तो वह एक अक्षर ॐ है। यह एक अक्षर ही ब्रह्म है, यही एक अक्षर परब्रह्म है और इस एक अक्षर पर ध्यान करने से मनुष्य को अभीष्ट प्राप्त हो जाता है। हे नचिकेता! यह ॐकार तथा इसका ध्यान व मनन ही परब्रह्म की प्राप्ति का श्रेष्ठ आलम्बन है या सर्वाधिक सुगम व अमोघ उपाय है। इसी तत्व के रहस्य को जानकर तुम परब्रह्म को प्राप्त कर सकते हो (अब इन आगे की पंक्तियों में तो कठोपनिषद् में यम का उपदेश अक्षरशः गीता के उपदेश के भाव को ही अभिव्यक्त करता है)। हे नचिकेता! यह प्रकाश पुंज स्वरूप, ज्ञान स्वरूप आत्मा न तो जन्म लेता है और न ही मरता है, न तो यह स्वयं किसी से हुआ है और न ही यह किसी का कार्य और कारण है। यह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत, क्षय और वृद्धि से रहित, सदा एक सा रहने वाला और इस शरीर के नाश होने पर भी नष्ट न होने वाला है। यदि कोई इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा यदि कोई इसको मारा गया मानता है, तो

वे दोनों ही इसे नहीं जानते, क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है, न किसी के द्वारा मारा जाता है। यह तो जीवन व मृत्यु से निरपेक्ष है। इस हृदयरूपी गुहा में स्थित जीवात्मा के रहने वाले परमात्मा को, जो एक ओर सूक्ष्म से अति सूक्ष्म है और दूसरी ओर महान् से भी महान् है, उस आत्मा के ससीम और असीम रूप को कोई बिरला साधक ही देख पाता है। वह परब्रह्म इस हृदयगुहा में बैठा ही बहुत दूर पहुंच जाता है और सोता हुआ भी सब ओर चलता रहता है। कहने का तात्पर्य है कि योगियों को शरीर में षट्चक्रभेदन व परकाया प्रवेश जैसी सिद्धियां प्राप्त होने से यही ब्रह्म कभी भी, कहीं भी पहुंच सकता है (इस विषय में प्रसिद्ध बाबा हेडिया खान का उदाहरण दिया जा सकता है, जो एक ही समय में सशरीर कई स्थानों पर उपस्थित हो जाते थे। ऐसी सिद्धि चिन्मय शरीर से प्राप्त होती है) और सोता हुआ भी चलने का अर्थ यहां सामान्य निद्रा से न होकर योगनिद्रा या तुरीयावस्था से है, जिसमें योगी सांसारिक लोगों की दृष्टि में तो सो रहा होता है, परंतु वास्तविकता में वह लोकान्तर से परे परब्रह्म में विलीन रहता है, यही योगनिद्रा संसार के पालनहार विष्णु की विश्राम अवस्था भी है, जिसमें वह सोते हुए भी संसार का पालन करते हैं। इस परब्रह्म को न तो प्रवचनों से, न ही तर्कात्मक बुद्धि से, न ही बहुत सी बातें सुनने से प्राप्त किया जा सकता है, अपितु यह तो उसे ही प्राप्त होता है, जिसे यह स्वयं स्वीकार कर लेता है और उसे अपना यथार्थ स्वरूप प्रकट कर देता है। इस ब्रह्म की प्राप्ति उसे ही संभव है, जिसका मन शांत हो चुका है, इंद्रियां संयमित हो चुकी हैं, चित्तवृत्तियां अंतर्मुखी हो गई हैं और जिसका आचरण शुद्ध हो चुका है।

तृतीय-वल्ली

इस वल्ली में जीव और ब्रह्म के नित्यत्व संबंध की चर्चा करते हुए यमराज कहते हैं कि शुभ कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त इस दुर्लभ मानव शरीर में सत्य का पान करने वाले दो हैं, जो छाया और प्रकाश की भांति परस्पर जुड़े भी हुए हैं और परस्पर गुणों में मित्र भी हैं। जीव कर्मों के फल को भोगता है, परंतु उसी के शरीर में रहने वाला ब्रह्म उनसे असंग है और उस पर कर्मफल कोई प्रभाव नहीं डालते। इसी रहस्य को ब्रह्मवेत्ता कहते हैं और तीन बार 'नचिकेता अग्नि' का चयन करने वाले जानते हैं। यहां यमराज उस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए श्रद्धा युक्त प्रार्थना को ही परम मार्ग बताते हुए कहते हैं कि यज्ञ करने वालों और नचिकेता अग्नि को जानने वालों को प्राप्त होने वाले परब्रह्म को जानने व प्राप्त करने में हम समर्थ हों। इसके पश्चात् रथ और रथी के रूपक के माध्यम से जीव व ब्रह्म का सहसंबंध व प्राप्ति के उपाय का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। पुनश्च उसी भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं कि जैसे रथ को चलाते तो घोड़े ही है, परंतु वह घोड़े किस मार्ग पर जाएंगे, इसका नियंत्रण तो लगाम हाथ में थामे हुए सारथी पर निर्भर करता है। इसी प्रकार

जो विवेकहीन बुद्धिवाला पुरुष अवशीभूत मन से मुक्त रहता है, उसकी इंद्रियां असावधान सारथी के दुष्ट घोड़े की भांति स्वेच्छाचारी हो जाती हैं। परंतु इसके विपरीत संयमी व विवेकशील व्यक्ति अपने मन व इंद्रियों को वश में रखकर उस परब्रह्म को पाकर जन्म व मृत्यु के भवचक्र से मुक्त हो जाता है। अब जीव की परमगति का वर्णन करते हुए यमराज कहते हैं कि इंद्रियों से विषय बलशाली हैं, विषयों से मन प्रबल है, मन से बुद्धि श्रेष्ठ है और बुद्धि से महान् आत्मा है। इस आत्मा से बलवती अव्यक्त ब्रह्म की माया है और इस माया से भी प्रधान स्वयं वह परब्रह्म है, जो समस्त जड़ व चेतन की परम गति है, इस परब्रह्म की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम सब इंद्रियों को मन के अधीन कर देना चाहिए, फिर मन को ज्ञानरूपी बुद्धि में विलीन कर देना चाहिए और उस ज्ञानस्वरूप बुद्धि से आत्मा को प्रकाशित करके परमात्मा में विलीन हो जाना चाहिए। उठो, जागो और उस ब्रह्म को जानो और उसे प्राप्त करो। समय व्यर्थ न करो, क्योंकि मानव जीवन दुर्लभ है और उस पर परब्रह्म का ज्ञान तीक्ष्ण व छुरे के धार पर चलने के सदृश है। उस शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित, गंधरहित, अविनाशी, नित्य और अनादि अनंत परब्रह्म को जो सर्वथा सत्य तत्व है, उसे जान लेने पर मनुष्य मेरे भय अर्थात् मृत्यु के चक्र से सदा के लिए छूट जाता है। अंत में कहते हैं कि जो भी मनुष्य इस प्रसंग को ब्राह्मणों की सभा में सुनाता है अथवा श्राद्धकाल में भोजन करने वाले ब्राह्मणों को सुनाता है, वह अनंत पुण्य फल की प्राप्ति करता है।

द्वितीय अध्याय

प्रथम वल्ली

इंद्रियों का बहिर्मुखी होना ही ब्रह्म प्राप्ति में सबसे बड़ा विघ्न

यमराज नचिकेता को आगे उपदेश देते हुए कहते हैं कि हे शिष्य! उस परब्रह्म ने जानबूझकर समस्त इंद्रियों की प्रवृत्ति ही बहिर्मुखी या बाहर की वस्तुओं को ग्रहण करने की बना दी है जैसे कान विभिन्न ध्वनियों को तो सुनते हैं, परंतु नाद को नहीं सुन पाते, आंखें संसार के तो हर दृश्य को तुरंत देखती हैं, परंतु हृदय में हुए परब्रह्म को देखने की चेष्टा नहीं करतीं, जिह्वा सांसारिक वस्तुओं के रस तो लेने को व्याकुल रहती है, परंतु सहस्रार से टपकते अमृत का आस्वादन करना नहीं जानती। किसी-किसी भाग्यवान की इंद्रियां ही अंतर्मुखी होकर परब्रह्म की ओर उन्मुख होती हैं।

यह बहिर्मुखी इंद्रियां शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और मैथुन के द्वारा जिन सुखों का अनुभव करती हैं, उन सब सुखों में से ऐसा कौन सा सुख है या ऐसी

कौन सी वस्तु है, जो शेष रहेगी? विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि ये सभी सुख व भोग के लिए एवं विनाशवान हैं और नित्य तथा शाश्वत तत्व, जो इनसे पहले भी था और इनके बाद भी रहेगा, वह शेषी ही परब्रह्म है।

स्वप्न अवस्था में और जाग्रत अवस्था में जीव जिसकी शक्ति से इस संसार व माया का अनुभव करता है, उस सर्वव्यापी, सर्वश्रेष्ठ आत्मतत्व को जान लेने पर मनुष्य कभी शोक नहीं करता। जो जल से पहले हिरण्यगर्भ के रूप में समष्टि प्राणों के साथ प्रकट हुआ और तप से हृदय गुहा में प्रतिष्ठित होकर जीवात्मा के साथ रहता है, वही परब्रह्म है। इसके पश्चात् जगत् के कारण रूप परब्रह्म का अदिति, देवी, अग्नि देव और सूर्यदिव के रूप में वर्णन किया गया है। इस सर्वव्यापी, सर्वांतर्यामी, सर्वरूप, सर्वसंभव, परब्रह्म परमात्मा को भिन्न-भिन्न रूपों में मतिभ्रम से देखता है, वह बार-बार जन्मता व मरता है। मानव शरीर में इस परब्रह्म का परिमाण अंगुष्ठ मात्र या अंगूठे के बराबर है, क्योंकि मनुष्य के हृदयपरिमाप के अनुसार विशेष रूप से हृदय में स्थित परमात्मा यहीं स्थित है। यह अंगुष्ठमात्र परमात्मा धूम्ररहित परम प्रकाशमय ज्योतिपुंज की भांति है, जो भूत-भविष्य और वर्तमान पर शासन करने वाला है और जो आज है, वही कल रहेगा अर्थात् नित्य शाश्वत है। हे गौतमवंशी नचिकेता! जैसे वर्षा का जल तो एक ही होता है, परंतु यदि वह ऊंचे शिखर पर गिरता है, तो वहां न ठहरकर विभिन्न आकार, वर्ण और गंध धारण करके चारों ओर बिखर जाता है। इसी प्रकार उस एक ही ब्रह्म से उत्पन्न मनुष्य देव, अस्तु और गन्धर्व से स्वयं को पृथक् मानकर नाना प्रकार की योनियों में भटकते रहते हैं और उसको पुनः प्राप्त नहीं करते, परंतु यदि वह वर्षा का जल निर्मल जल में ही बरसता है, तो उसी क्षण दोनों मिलकर एक हो जाते हैं। वैसे ही ज्ञान का उदय होने पर जीव व ब्रह्म एकाकार हो जाते हैं और तादात्म्यमान को प्राप्त हो जाते हैं।

द्वितीय-वल्ली

ग्यारह द्वारों वाले नगर का वर्णन व जीवात्मा की गति

इस परमात्मा का ग्यारह द्वारों वाला एक नगर है, जिसमें वह निवास करता है। इस रहस्य को जो जान लेता है, वह विभेद हो जाता है (वस्तुतः ग्यारह द्वारों वाला नगर मनुष्य देह ही है, यद्यपि अधिकांश स्थानों पर इसे नव छिद्र मय माना गया है, परंतु यहां उन दो गुप्त या मर्म स्थानों का भी वर्णन किया गया है, जो गर्भावस्था में तो छिद्र होते हैं, परंतु गर्भ के पश्चात् बंद हो जाते हैं और यदि ब्रह्म तत्व की प्राप्ति हो, तभी पुनः खुलते हैं अन्यथा साधारणतः देह नवछिद्रमयी ही रहती है)। दो आंखें, दो कान, दो नासिका छिद्र, एक मुख, एक गुदा व एक शिश्न ये तो सामान्य नौ छिद्र हैं, परंतु नाभि व ब्रह्मरंध्र ये दो गुप्त छिद्र हैं। नाभि के द्वारा ही जीव का ब्रह्म

से संपर्क टूटकर इस लोक से जुड़ता है। इसी कारण पुराणीय मिथकों में ब्रह्मा को विष्णु की नाभि से प्रस्फुटित कमल की कर्णिका पर बैठा दिखाया जाता है और ब्रह्मरंध्र से पूर्व विधृति के मार्ग से ही जीव की देह में ब्रह्म का अंश प्रविष्ट होता है तथा ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने पर योगियों के प्राण ब्रह्मरंध के मार्ग से ही ऊर्ध्वगति प्राप्त करते हैं। अतः इस संदर्भ में देह को ग्यारह द्वारों वाली कहा गया है, नव छिद्रमयी नहीं। यह ब्रह्म ही आकाश में उड़ने वाला हंस है, (आकाश से वस्तुतः यहां तात्पर्य चिदाकाश से है। जबकि हंस का तात्पर्य प्राणों की श्वास गति से है।) अंतरिक्ष में निवास करने वाला वस्तु है। घरों में आने वाला अतिथि है! यज्ञ में आहुति डालने वाला 'होता' है। यही सत्यस्वरूप ब्रह्म समस्त मनुष्यों में निवास करने वाला, देवताओं में व्याप्त रहने वाला, नाना प्रकार के अन्नों व जलों के माध्यम से प्रकट होने वाला एवं सबसे बड़ा परम सत्य है। अर्थात् वह सर्वव्यापक है। योग की क्रिया को संकेत के माध्यम से अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि प्राण को ऊपर की ओर उठाकर और अपान को नीचे की ओर ढकेलकर जो शरीर के मध्य हृदय में बैठे सभी देवताओं द्वारा पूजित ब्रह्म की उपासना करता है, वह उसे पा लेता है।

मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा की गति

मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा की गति के बारे में उपदेश करते हुए यमराज ने कहा कि हे नचिकेता! जिसका जैसा कर्म होता है और जिसका शास्त्रादि के श्रवण से जैसा भाव होता है, तदनुरूप शरीर धारण करने के लिए प्रतीक्षा करता हुआ यह जीवात्मा नाना योनियों में भ्रमण करता रहता है। यही ब्रह्म उस जीव के कर्मों के फलानुसार नाना प्रकार के भोगों का निर्माण करता रहता है और सबके सोने पर अर्थात् प्रलयकाल में भी जागता रहता है, वही परम विशुद्ध अमृत तत्व ब्रह्म है। संपूर्ण जीव और सभी लोग उसी में आश्रय पाए हुए हैं। कोई भी उसका अतिक्रमण नहीं कर सकता। इसके पश्चात् यमराज अग्नि, वायु व सूर्य के दृष्टांत से पुनः परमात्मा की सर्वव्यापकता व निर्लिप्तता का वर्णन करते हैं। (अर्थात् वह सबमें रहते हुए भी सबसे अलग है, जैसे कीचड़ में रहता हुआ भी कमल उससे अलग है) यह सब सुनकर मन-ही-मन नचिकेता विचार करने लगा कि उस परब्रह्म का मैं प्रत्यक्ष अनुभव कैसे करूं? उसका स्पष्ट रूप कैसे देखूं? नचिकेता के इस अंतर्मन के भाव को जानकर यमराज ने कहा कि न तो यह सूर्य ही स्वयं प्रकाशित हो रहा है, न ही चंद्रमा और तारों का समुदाय स्वयं प्रकाशमान हो रहा है, न यह विद्युत स्वयं ही कौंधने लग जाती है, फिर सांसारिक अग्नि की तो बात ही क्या है? यह सब उसी के प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। तू इनमें उसकी प्रत्यक्ष सत्ता का अनुभव कर सकता है।

तृतीय-वल्ली

यहां एक विचित्र रूपक के माध्यम से ब्रह्म का वर्णन यमराज कुछ इस प्रकार करते हैं कि ऊपर की ओर मूल अर्थात् जड़ें तथा नीचे की ओर शाखाओं वाला यह सनातन पीपल का वृक्ष ही चैतन्य ब्रह्म है, यही अमृत है और इसी में समस्त लोक आश्रित है, कोई उसे लांघ नहीं सकता। (वस्तुतः इस रहस्यमयरूपक के माध्यम से कुंडलिनी शक्ति के ऊर्ध्व गमन व उसके द्वारा मूलाधार चक्र या मूल का भेदन करके ऊपर उठकर स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध व आज्ञा चक्र से होते हुए सहस्रार चक्र तक पहुंचने की बात कही गई है, जहां से निरंतर अमृत का स्राव होता है। विषय अत्यंत विस्तृत है। उसी ब्रह्म से यह संसार निःसृत होता है और उसी के कारण चेष्टा या गति करता है तथा वज्र के समान शक्तिशाली उस परमात्मा के ज्ञान से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। उसी के भय से अग्नि और सूर्य तपते हैं तथा वायु, इंद्र व मृत्यु क्रियाशील हैं (अग्नि, सूर्य व वायु का तात्पर्य भी यहां क्रमशः मणिपुर, अनाहत आदि चक्रों से है)। उस परब्रह्म का साक्षात्कार इस मनुष्य शरीर में मृत्यु से पूर्व मनुष्य कर ले तो अति उत्तम है अन्यथा अनेक कल्पों तक नाना लोकों और नाना योनियों में शरीर धारण करने को विवश रहता है।

स्थान भेद व लोक भेद के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप की छवि में अंतर स्पष्ट करते हुए यमराज कहते हैं कि जैसे दर्पण में वस्तु यथारूप स्पष्ट दिखाई देती है, वैसे ही मर्त्यलोक में मनुष्य के अंतःकरण के शुद्ध होने पर ब्रह्म के दर्शन होते हैं। परंतु पितृलोक में इससे भिन्न स्वप्न में उसका आभास मात्र अथवा अस्पष्ट स्वरूप के समान ब्रह्म का दर्शन होता है। गंधर्व लोक में उससे भी भिन्न जल में पड़ी झलक सी छाया जैसे ब्रह्म के दर्शन होते हैं और ब्रह्मलोक में धूप व छाया की भांति आत्मा व परमात्मा दोनों स्पष्ट दिखाई देते हैं। अतः मनुष्यलोक में ब्रह्म के स्पष्ट दर्शन करके ब्रह्मलोक में उससे सायुज्य हो जाना चाहिए। विभिन्न स्वरूपों में, विभिन्न स्थितियों में, इंद्रियों के विभिन्न भावों के द्वारा जो उसके स्वरूप को जान लेता है, वह कभी दुःखी नहीं होता। इंद्रियों में मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि, बुद्धि से जीवात्मा और जीवात्मा से वह अव्यक्त स्वरूप और उस अव्यक्त से भी व्यापक और आकाररहित परमपुरुष है, जिसको जानकर जीव मुक्त हो जाता है (यही भाव पहले भी अभिव्यक्त किया जा चुका है)।

योग द्वारा जब मन व पांचों इंद्रियां भलीभांति स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती, तो यही योग की परमगति कहलाती है। वह परमब्रह्म न तो वाणी से, न मन से, न नेत्रों से प्राप्त किया जा सकता है, परंतु वह अवश्य है अर्थात् योग के साथ दृढ़निश्चय भी साधक हो, ब्रह्म प्राप्ति के लिए आवश्यक है। जो साधक उसके अस्तित्व में दृढ़ विश्वास करके निरंतर ध्यान करते हुए उसकी

साधना करते हैं, उन्हें उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। ऐसे साधक के मन से संपूर्ण तृष्णाएं, कामनाएं व वासनाएं समाप्त हो जाती हैं तथा वह मनुष्य अमर हो जाता है।

मृत्यु के पश्चात् जीव की गति का वर्णन करते हुए धर्मराज कहते हैं कि हृदय से जो एक सौ नाड़ियां निकलती हैं, उनमें एक मूर्धा या कपाल की ओर जाने वाली नाड़ी सुषुम्ना है, जो प्राणों को ऊपरी अमृतलोक में ले जाती है (द्वितीय वल्ली में भी ग्यारह छिद्रों में ब्रह्मांध्र द्वारा यही संकेत दिया गया है)। शेष नाड़ियां जीव को कर्म व वासना के अनुरूप अन्य योनियों में ले जाती हैं।

अंत में पुनः यमराज उसी भाव को बार-बार स्मरण कराते हुए कहते हैं कि सबका अंतर्यामी, अंगूठे के परिमाण वाला ब्रह्म स्वयं तुम्हारे हृदय में स्थित है। उसको पहचानो, उसके अमृतमय स्वरूप को समझो और जानो। इस प्रकार यमराज द्वारा नचिकेता को दी गई यह विद्या उसे जन्म व मरण के भय से मुक्त कराकर ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग दर्शाती है तथा जो कोई भी इस विद्या का ध्यान मनन व विधि पूर्वक अभ्यास करेगा, वह मृत्यु के विकार से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

कैवल्योपनिषद्

कृष्ण यजुर्वेद से संबंधित इस उपनिषद् में प्रजापति ब्रह्माजी द्वारा महर्षि आश्वलायन को आत्मा का स्वरूप और उसे जानने के उपाय का उपदेश दिया गया है। इसका मुख्य उद्देश्य श्रद्धा, भक्ति, ध्यान व योग द्वारा भगवान नीलकंठ महादेव की प्राप्ति को ही परब्रह्म की प्राप्ति माना गया है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

गर्भोपनिषद्

इस उपनिषद् की रचना पिप्पलाद ऋषि द्वारा की गई है। इसीलिए यह पैप्पलाद मोक्षशास्त्र के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें गर्भ की उत्पत्ति और उसकी वृद्धि के प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। उपनिषद् में शरीर को पंचात्मक, छः आश्रयों वाला, छः गुणों के योग से निर्मित, सात धातुओं से युक्त, तीन मलों से दूषित, दो योनियों से युक्त और चार प्रकार के आहारों से पोषित माना गया है। पंचात्मक से तात्पर्य पंचमहाभूतों से है। छः आश्रयों से तात्पर्य मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु व कषाय इन 6 रसों से है। सात धातुओं से तात्पर्य रस से निर्मित, रुधिर, मांस, मेद, स्नायु,

अस्थि, मज्जा, शुक्र आदि से है। इसके पश्चात् गर्भ में शिशु के नौ मास के विकास क्रम का वर्णन है। तत्पश्चात् गर्भ में जीवद्वारा पूर्व जन्मों के संस्मरण और इस जीवन में सत्कर्मों द्वारा मोक्ष की इच्छा को अभिव्यक्त किया गया है। तत्पश्चात् शरीर संरचना का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इसमें 107 मर्मस्थान हैं, 180 संधियां हैं, 109 स्नायु हैं, 700 शिराएं हैं, 500 मज्जाएं हैं। 36 अस्थियां हैं, साढ़े चार करोड़ रोम हैं, आठ तोले हृदय हैं, प्रस्थमात्र या एक सेर पित्त है और कुड़वमात्र (पाव भर) शुक्र है। यही गर्भ जन्मे जीव का रहस्य है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

नारायणोपनिषद्

इस उपनिषद् में भगवान नारायण को ही सर्व देव संभूत, सर्वकारण व सर्वरूप व्यापक माना गया है। तत्पश्चात् **'ॐ नमो नारायणाय'**, इस अष्टाक्षर मंत्र की महिमा बताई गई है और उसके स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस मंत्र को सायंकाल, प्रातःकाल दोनों समय में जाप से पाप से पूर्ण मुक्ति का प्रावधान बताया गया है। दोपहर के समय भगवान सूर्य की ओर मुख करके पाठ करने से मानव की पंच महापातकों से मुक्ति बताई गई है। जो भी इस मंत्र का श्रद्धा पूर्वक पाठ करता है, वह श्री नारायण का सायुज्य प्राप्त कर लेता है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

अमृत नादोपनिषद्

इस उपनिषद् में प्रणव अर्थात् ॐकार की उपासना, योग के 6 अंगों, प्राणायाम की विधि व पांच प्राणों के रंगों का संक्षेप में वर्णन प्रस्तुत किया गया है। प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि ये 6 योग के अंग बताए गए हैं। प्राण के पांच भेदों का इसमें वर्णन किया गया है। **प्राण** वायु का वर्ण लाल रंग की मणि के समान माना गया है। **अपानवायु** का रंग **इंद्रगोप** के कीड़े के समान हलका लाल-सा होता है। **समान वायु** का रंग **गाय के दूध** के समान अथवा **स्फटिकमणि** के समान उज्ज्वल माना गया है। **उदानवायु धूसर** या **मटमैले** रंग की होती है। **व्यान** वायु अग्नि **शिखा** के रंग का या पीताभ प्राकाशमय होता है। इन प्राणों को जो योगी मस्तक में ऊर्ध्वगति द्वारा ले जाकर, ब्रह्मरंध्र से शरीर से प्राण को त्यागता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

प्राणायाम के समय प्राण शक्ति की वृद्धि करने वाला साधक ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः, ॐ तपः, ॐ सत्यम् इन व्याहृतियों तथा प्रणव सहित संपूर्ण गायत्री (ॐ आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम) शिरोभाग के साथ पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय तीन-तीन बार मानस पाठ करते हैं। इस प्रकार योग मार्ग का अनुसरण करने से मनुष्य सूर्यमंडल को प्राप्त होते हैं।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

शुकरहस्योपनिषद्

भगवान वेदव्यास जी के पुत्र शुकदेवजी को भगवान शंकर ने उपनिषदों के गूढ़ रहस्य का उपदेश दिया था। वही उपदेश शुकरहस्योपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। इस उपनिषद् में तीन खंड हैं, जिसमें से प्रथम खंड में अंगन्यास आदि हैं, जो मूलतः कर्मकांड के भाग हैं जिनको इच्छुक पाठक मूल उपनिषद् में प्राप्त कर सकते हैं। द्वितीय खंड में चार महावाक्य प्रस्तुत किए गए हैं, जो वैदिक उपनिषदों का सारतत्व माने जाते हैं। ये इस प्रकार हैं–

1. ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म, 2. ॐ अहं ब्रह्मास्मि, 3. ॐ तत्वमसि, 4. ॐ अयमात्मा ब्रह्म।

(इन चार महावाक्यों को आदि शंकराचार्य ने भी अपने मठों के शाखाध्यक्षों के महानुशासन में यथावत् ग्रहण कर इनकी महत्ता सिद्ध की है। ॐ **प्रज्ञानं ब्रह्म** गोवर्धन मठ या पुरी क्षेत्र का, ॐ **अहं ब्रह्मास्मि** श्रंगेरी मठ का, ॐ **तत्वमसि** शारदा मठ या द्वारका क्षेत्र का तथा ॐ **अयमात्मा ब्रह्म** ज्योतिर्मठ या जोशीमठ (उत्तराखंड) का महावाक्य है।

तृतीय खंड में इन वाक्यों का गूढ़ भाषा में अर्थ बतलाया गया है। **प्रज्ञान** शब्द का अर्थ बताते हुए कहा गया है कि जिसके द्वारा प्राणी देखता है, सुनता है, सूंघता है, वाणी द्वारा कहता है और जिह्वा द्वारा रस ज्ञान करता है वही, **प्रज्ञान** है। **अहं** शब्द के अर्थ को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने के एकमात्र अधिकारी इस मानव देह में परिपूर्ण परमात्मा स्वयं ही स्फुरित होने पर अहं कहे जाते हैं। **ब्रह्मास्मि** शब्द दो भागों से मिलकर बना है–ब्रह्म और अस्मि, परब्रह्म की अभिव्यक्ति ब्रह्म शब्द से की गई है तथा **अस्मि** का अर्थ 'मैं' अर्थात् मनुष्य है और **ब्रह्मास्मि** इस जीव की ब्रह्म से एकता व सायुज्य का बोध कराता है। तत्त्वमसि (तत्+त्वं+असि) वाक्य में तत् पद से तात्पर्य सृष्टि के सृजन से पूर्व नाम-रूप रहित निराकार अद्वैत सत्ता के यथा रूप या वैसी ही होने से है। त्वं पद से तात्पर्य उपदेश सुनने वाले शिष्य से है तथा अस्मि पद के द्वारा तत् व त्वम् पदों के बोध ब्रह्म व जीव, गुरु व शिष्य, परमात्मा व आत्मा की एकता से है।

चौथे महावाक्य अयमात्मा ब्रह्म में **अयम्** पद के द्वारा स्वयं प्रकाशित या स्वयं अपनी आभा से सबको प्रकाशित करने वाले अपरोक्ष-नित्य प्रत्यक्ष ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस प्रकार इन वाक्यों के द्वारा भगवान शिव ने शुकदेवजी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया जिसे प्राप्त कर व तुरंत संसार से विरक्त होकर वन को चल पड़े। अंत में कहा गया है कि जो गुरु की कृपा व उपदेश से इस रहस्योपनिषद् का अध्ययन, मनन व निदिध्यासन करता है, वह मोक्ष को प्राप्त होता है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

तेजोबिंदोपनिषद्

इस उपनिषद् में प्रणस्वरूप ॐकार की तेजोमय बिंदु के रूप में ध्यान करके उसकी उपासना का वर्णन किया गया है। ॐ कार के इस बिंदु रूपी ध्यान की महिमा से मनुष्य को परब्रह्म की प्राप्ति होती है और दूषित भावों से उसे मुक्ति मिल जाती है। इस तेजोमय बिंदु के ध्यान के अधिकारी वैराग्य, उत्साह और गुरुभक्ति जैसे गुणों से परिपूर्ण हों, तभी उन्हें इसके स्वरूप के दर्शन होते हैं। यही इस उपनिषद् का सार है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

कलिसंतरणोपनिषद्

इस उपनिषद् में ऐसी कथा आती है कि एक बार द्वापर के अंत में कलियुग के प्रारंभ होने पर नारदजी ब्रह्माजी के पास पहुंचे और उनसे प्रश्न किया कि हे पिताश्री! मैं कलिकाल में भी मर्त्यलोक में भ्रमण करता हुआ किस प्रकार कलि के दोष से मुक्त रह सकता हूं। इस प्रश्न के उत्तर में ब्रह्माजी ने कहा कि हे पुत्र! मैं तुम्हें आज उस रहस्मय मंत्र का उपदेश दूंगा, जिसके जानने से न केवल तुम अपितु कलियुग के समस्त जीव भी भवसागर से पार हों जाएंगे। सोलह नामों वाला यह मंत्र कलि के समस्त पापों का नाश करता है। ब्रह्महत्या, वीरहत्या, स्वर्ण की चोरी आदि जितने भी पाप हैं, उन सबसे मनुष्य इस मंत्र के जाप से तुरंत मुक्त हो जाता है। यह मंत्र है–

हरे राम हरे राम, राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

दक्षिणामूर्ति उपनिषद्

दक्षिणामूर्ति शब्द भगवान शिव का पर्यायवाची है। इस शब्द का एक 'विशिष्ट' अर्थ है, जो इसके प्रयोग को यहां औपनिषदिक संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बनाता है। भगवान शिव की विभिन्न मुद्राओं में व विभिन्न करणों में उपासना की जाती है। इन्हीं मुद्राओं में से जब भगवान शिव महर्षियों को धर्म एवं ज्ञान का उपदेश देने के लिए दक्षिण की ओर मुख करके यज्ञोपवीत धारण करके बैठते हैं, तो वह दक्षिणामूर्ति नाम से ही जाने जाते हैं। इस मुद्रा में शिव श्वेत अक्षमाला हाथ में लिए हुए, श्वेत वस्त्र धारण किए हुए, चंद्रलेखा को मस्तक पर धारण किए हुए, चर्म के बने आसन पर दाहिना पैर फैला कर तथा बायां पैर मोड़कर रखते हैं। वह वट वृक्ष के नीचे आसीन होते हैं और बायां हाथ तर्क मुद्रा में होता है (गुप्त काल में 5वीं शताब्दी में अहिच्छत्र, उ. प्रदेश से मिली दक्षिणामूर्ति भारतीय कला इतिहास में श्रेष्ठतम मानी गई है)।

दक्षिणामूर्ति उपनिषद् का वर्णन शौनक ऋषि एवं मार्कण्डेय ऋषि के मध्य हुए वार्त्तालाप के द्वारा प्रकट किया गया है। मार्कण्डेय ऋषि दक्षिणामूर्ति शिव के गोपनीय मंत्र को प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस मंत्र के ऋषि ब्रह्मा हैं, छंद गायत्री है, देवता दक्षिणा मुख हैं और मंत्र का प्रारंभ ॐ के उच्चारण से होता है–

"ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तए मध्यं मेधां प्रयच्छ स्वाहा"। 1। (24 अक्षर)

मंत्र जाप के समय दक्षिणामूर्ति का इस प्रकार ध्यान करें कि दक्षिणामूर्ति चांदी व स्फटिक जैसी कान्ति से देदीप्यमान हैं, उनका एक हस्त ज्ञान मुद्रा में, जिसमें वह मोतियों की माला धारण किए हुए हैं। उनके संपूर्ण शरीर पर भुजंग लिपटे हैं, शीर्ष पर अर्धचंद्र है, ऐसे त्रिनेत्रधारी शिव हमें ज्ञान प्रदान करें।

दूसरा मंत्र इस प्रकार है :

ॐ दक्षिणामूर्तिरतर ॐ। 2। यह 9 अक्षरों का मनुमंत्र है।

इसका ध्यान इस प्रकार है : शुकदेव आदि प्रसिद्ध ऋषियों को उपदेश देते हुए भगवान शिव जिनका एक हाथ अभयमुद्रा में है, दूसरा हाथ जानु पर है, वह वट वृक्ष के नीचे स्थित है, सर्पों से लिपटे हैं, चंद्रमा जिनके मस्तक की शोभा बढ़ा रहा है ऐसे श्वेत वर्णाभ, त्रिनेत्रधारी शिव हमें ज्ञान प्रदान करें।

तीसरा मंत्र इस प्रकार है–

ॐ ब्लूं नमः ह्रीं ऐं दक्षिणामूर्तए ज्ञानं देहि स्वाहा। 3। यह अठारह अक्षरों का मनुमंत्र है।

इसका ध्यान इस प्रकार है : भस्म से संपूर्ण शरीर को श्वेत आभा देने वाले, व्यास पीठ पर विराजमान, ज्ञानमुद्रा व अक्षमाला कर में धारण करने वाले, चंद्रमा

को मस्तक पर धारण करने वाले, मुनियों द्वारा सेवित दक्षिणामूर्ति हमारी रक्षा करें व हमें ज्ञान प्रदान करें। चौथा मंत्र इस प्रकार है :

ॐ ह्रीं श्रीं सांब शिवाय तुभ्यं स्वाहा । 4। यह बारह अक्षरों का मनुमंत्र है।

इसका ध्यान द्वितीय मंत्र की ही भांति है।

पांचवा मंत्र इस प्रकार है :

ॐ नमो भगवते तुभ्यं वहभूलवासिने वागीशाय महाज्ञानदायिने मायिने नमः।

यह 32 अक्षरों का महामंत्र है। इस मंत्र के जाप से मनुष्य की सभी प्रकार की सांसारिक व पारलौकिक इच्छाएं पूर्ण होती हैं।

इसका ध्यान इस प्रकार है : अज्ञान रूपी अंधकार का नाश करने वाले, आदि पुरुष, अव्यक्त, पार्वती के पतिदेव, चंद्र मुकुट धारण करने वाले, अक्षमाला, पुस्तक, अग्नि व नागों से सुशोभित, स्मित मुख, वटवृक्ष के नीचे स्थित परमगुरु दक्षिणामूर्ति शिव मेरी संपूर्ण इच्छाओं को पूर्ण करें। अंत में मार्कण्डेय कहते हैं कि इन मंत्रों के श्रद्धापूर्वक उच्चारण से मनुष्य को ब्रह्म या शिव तत्व की प्राप्ति हो जाती है और वह सब पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

रुद्रहृदयोपनिषद्

इस उपनिषद् में भगवान रुद्र (शिव की सर्वव्यापकता, सर्वश्रेष्ठता और ब्रह्मस्वरूप का भगवान वेदव्यास जी ने अपने पुत्र शुकदेव जी को उपदेश दिया है। उपनिषद् के प्रारंभ में **रुद्रहृदय, योगकुंडली, भस्मजाबाल, रुद्राक्षजाबाल** और **गणपति** इन पांच उपनिषदों को प्रणव का मूल तत्व बतलाया गया है। शुकदेवजी को उनके पिता श्री व्यासजी कहते हैं कि भगवान रुद्र के दक्षिण पार्श्व में सूर्य, ब्रह्माजी, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आस्वनीय ये तीनों अग्नियां स्थित हैं। वामपार्श्व में भगवती उमा, विष्णु भगवान और सोम स्थित हैं। इसके पश्चात् विरुपाक्ष, वृषभध्वज, आशुतोष व रुद्र आदि विभिन्न नामों से भगवान शंकर की स्तुति की गई है। सृष्टि के समस्त पुलिंग को महेश्वर व स्त्रीलिंग को उमा मानते हुए व्यक्त जगत् को उमा और अव्यक्त स्वरूप को महेश्वर कहा गया है। **श्री रुद्र रुद्र रुद्र** इन चार अक्षरों के मंत्र के जाप से मनुष्य की सब पापों से मुक्ति का विधान बताया गया है। इसके पश्चात् विस्तार विभिन्न रूपों में शिव शक्ति के अर्द्धनारीश्वर स्वरूप को व्यक्त किया गया है।

कठोपनिषद् की भांति संक्षेप में पुनः परा व अपरा विद्या का वर्णन किया गया है। अंत में प्रणव की महिमा बताते हुए ॐकार को धनुष, आत्मा को बाण तथा ब्रह्म को लक्ष्य का रूपक देते हुए ब्रह्मज्ञान का उपदेश दिया गया है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

कठरुद्रोपनिषद्

इस उपनिषद् में प्रजापति द्वारा संन्यास आश्रम के धर्म और ब्रह्म तत्व का विस्तार से वर्णन किया गया है। परिव्राजक या संन्यासी होकर जब व्यक्ति अपने घर को त्यागता है, तो स्त्री व पुत्रों का मोह पूर्णतः त्याग देना चाहिए और उनके वियोग में आंसू नहीं आने चाहिए। गृह त्याग करने के पश्चात् वन में जाकर बारह रात्रियों तक केवल दुग्धाहार पर रहे। इसके पश्चात् मिट्टी तक के पात्रों का भी जल में विसर्जन कर दे और शिखा सहित केशों का लुंचन कराकर यज्ञोपवीत उतारकर **ॐ भूः स्वाहा** इस मंत्र का उच्चारण करके उन्हें भी जल में डाल दे। भिक्षा के सिवा कोई और अन्न ग्रहण न करे। थोड़ी देर भी एक जगह न ठहरे, केवल वर्षाकाल में ही कहीं एक रात्रि से अधिक विश्राम करे। पैरों में जूते, कौपीन के अतिरिक्त शरीर के अन्य वस्त्र आदि सबका त्याग कर दे। अपनी स्तुति से प्रसन्न न हो और निंदा से क्रोधित न हो, स्त्री के साथ सभी आठ प्रकार के मैथुन को त्याग दे। इसके पश्चात् 'मैं एक ब्रह्मस्वरूप हूं' इस रहस्य को जानकर व्यक्ति स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इसके पश्चात् इस ब्रह्मस्वरूप आत्मा से आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इन पंचभूतों के द्वारा कर्मानुसार विभिन्न योनियों की सृष्टि का संक्षिप्त विवरण है। इस शरीर के पंचकोश अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनंदमय का विवरण देते हुए परमतत्व की या शुद्ध चैतन्य तत्व के ज्ञान की प्राप्ति के साथ उपनिषद् समाप्त हो जाता है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

शारीरकोपनिषद्

जैसा कि इस उपनिषद् के नाम से ही संकेत मिलता है, यह उपनिषद् मानव शरीर की आध्यात्मिक स्तर पर व्याख्या प्रस्तुत करता है। शरीर, विद्या का वर्णन करते हुए उपनिषद् के प्रारंभ में कहा गया है कि यह नश्वर शरीर पृथ्वी, आकाश आदि पंचमहाभूतों से मिलकर बनता है। इन पंचतत्वों में से पृथ्वीतत्व शरीर का ठोस व कठिन भाग, जल द्रवीय भाग, अग्नि तत्व तापमान या उष्णता का, वायु तत्व श्वास का और आकाश तत्व खाली भाग का निर्माण करते हैं। ज्ञानेंद्रियों में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्व क्रमशः नाक, जिह्वा, नेत्र, त्वचा व कानों का प्रतिनिधित्व करते हैं। शरीर में अस्थि, चर्म, मांस, नाड़ी एवं रोम पृथ्वी तत्व के, मूत्र, रक्त, कफ़ और पसीना जल तत्व के तथा भूख, प्यास, मोह, आलस्य व मैथुन अग्नि तत्व से

तथा दौड़ना, चलना वायु तत्व के तथा काम, क्रोध आदि आकाश तत्व के अंश माने गए हैं। पंच ज्ञानेंदियों, पांच कर्मेंद्रियों, पंच प्राण, मन व बुद्धि के संस्कारों का सूक्ष्म रूप लिंग शरीर कहलाता है। (लिंग शरीर का सांख्य दर्शन में विशेष महत्त्व है, क्योंकि प्रकृति प्रत्येक पुरुष के लिए एक विशेष प्रकार के आवरण को पैदा करती है, जिसे लिंग कहते हैं। इस लिंग शरीर का सृष्टि के सृजन काल से लेकर प्रलय पर्यन्त अस्तित्व बना रहता है। अतः यह नित्य व शाश्वत है। इसकी गति अबाध होती है तथा यह लिंग शरीर ही किए गए कर्म के संस्कारों से समन्वित होकर पूर्व स्थूल शरीरों का त्याग करके कर्मफलानुसार नित्य नाना प्रकार के नए स्थूल शरीरों में प्रवेश करता है (लयं गच्छतीति लिङ्गम्)। अंत में सांख्यदर्शन के अनुरूप तेइस तत्वों, चौबीसवीं प्रकृति, पच्चीसवीं अव्यक्त या प्रधान और इन सबसे भिन्न पुरुष का वर्णन है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

अक्षि उपनिषद् (अक्ष्युपनिषद्)

इस उपनिषद् के दो खंड हैं। प्रथम खंड में नेत्र रोग का नाश करने वाली विद्या का वर्णन है, जिसमें भगवान साङ्कृति द्वारा भगवान सूर्य की श्रद्धापूर्वक स्तुति की गई है। यह स्तुति चाक्षुष्मती विद्या के नाम से भी प्रसिद्ध है और ऐसा उल्लेख है कि इस स्तुति से सभी प्रकार के नेत्र रोगों का शमन होता है तथा कुल में कोई अंधा उत्पन्न ही नहीं होता। दूसरे खंड में योग की असंवेदन, विचार, असंसर्गा, स्वप्न, सुष्पतुपद, तुर्या व विदेहमुक्त नामक सात भूमियों का वर्णन प्रस्तुत किया है। इन भूमियों में क्रमशः उत्तरोत्तर पदार्पण से मनुष्य को प्रज्ञाधन आनंदस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

चाक्षुषोपनिषद्

अक्ष्युपनिषद् की भांति यह उपनिषद् भी चाक्षुषी विद्या की ही व्याख्या करता है, जिसके पाठ से अद्भुत रूप शीघ्र ही नेत्र रोगों से मुक्ति मिल जाती है। इस विद्या के ऋषि अहिर्बुधन्य हैं, गायत्री छंद है, सूर्य देवता है और नेत्ररोगों की निवृति इसका विनियोग है।

नेत्ररोग से पीड़ित व्यक्ति को प्रतिदिन प्रातःकाल हलदी से अनार की शाखा की कलम के द्वारा कांसे के पात्र में निम्नलिखित मंत्र को लिखना चाहिए—

8	15	2	6
6	3	12	11
14	9	8	1
4	5	10	13

मम चक्षुरोगान् शमय शमय। फिर उसी मंत्र पर तांबे की कटोरी में चार बत्तियों वाला घी का दीपक जलाकर रख दें तथा गंध पुष्पादि से विधिवत् उस यंत्र का पूजन करें। फिर पूर्वाभिमुख होकर "ॐ ह्ली हंसः" इस बीजमंत्र की 6 मालाएं जापकर नेत्रोपनिषद् के 12 पाठ करें। पाठ के उपरांत पुनः बीजमंत्र की 5 मालाओं का जाप करके सूर्य भगवान को अर्घ्य देकर प्रणाम करें। ऐसा करने से चमत्कारिक रूप से नेत्ररोग से मुक्ति मिल जाती है।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु

ध्यानबिंदु उपनिषद्

इस उपनिषद् में षट्चक्रभेदन के द्वारा कुंडलिनी के मूलाधार से सहस्त्रार तक की यात्रा का बहुत ही संक्षेप में गूढ़ वर्णन प्रस्तुत किया है। सर्वप्रथम ब्रह्म की सर्वव्यापकता को फूलों में सुगंध, तिलो में तेल जैसे रूपकों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। तत्पश्चात् प्राणायाम की विधि में ध्यान पर विशेष बल देते हुए पूरक में श्वास को अंदर खींचते हुए नाभि स्थान में नीलवर्ण, चतुर्भुज भगवान विष्णु के ध्यान का निर्देश दिया गया है। कुंभक के समय सांस को रोके हुए लाल वर्ण के, लाल कमल की कर्णिका पर विराजमान हृदयस्थान में स्थित्त ब्रह्माजी के ध्यान का विधान है। रेचक या श्वास छोड़ते समय ललाट या भ्रूमध्य में उज्ज्वल वर्ण के, तीन नेत्रों वाले भगवान शंकर के ध्यान का प्रावधान है। सुषुम्ना के पथ में इन चक्रों के कमल दलों की संख्या का वर्णन करते हुए नाभिस्थान के कमल को आठ दलों युक्त, हृदयस्थान के कमल में ऊपर नाल व नीचे मुख की स्थित और सहस्त्रार में शतदल कमल की विवेचना प्रस्तुत की गई है। इन तीनों स्थानों पर अकार, उकार, मकार (ॐ) के ध्यान को ही नादब्रह्म का स्वरूप माना गया है। नासिका की जड़ से दोनों भौहों के मध्य स्थित आज्ञा चक्र को ही अमृत स्राव का स्थान माना गया है, जिसे योगी खेचरी मुद्रा के द्वारा ग्रहण करते हैं और अमर हो जाते हैं। यही इस उपनिषद् का तत्व रहस्य है।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम

अथर्ववेद व उससे संबंधित उपनिषद्

प्रश्नोपनिषद्
मुण्डकोपनिषद्
माण्डूक्योपनिषद्
नृसिंहोत्तरतापनीयोपनिषद्
श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्
सीता उपनिषद्
गोपालपूर्वतापनीय उपनिषद्
गणपति उपनिषद्
सूर्योपनिषद्

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम

प्रश्नोपनिषद्

प्रश्नोपनिषद् अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा के ब्राह्मण से संबंधित है। पूर्ण रूप से गद्य में रचित यह उपनिषद् 6 ऋषियों के समूह द्वारा पिप्पलाद ऋषि से ब्रह्मज्ञान पर पूछे गए 6 प्रश्नों व उनके द्वारा क्रम से दिए गए प्रश्नों के उत्तर पर आधारित है। इसी कारण से यह उपनिषद् 'प्रश्नोपनिषद्' के नाम से प्रसिद्ध है। **6 प्रश्न** होने कारण इसमें 6 ही अध्याय हैं, जो प्रश्नों के रूप में संकलित हैं।

प्रथम प्रश्न

एक बार भारद्वाज के पुत्र सुकेशा, शिविकुमार सत्यकाम, गर्गगोत्र में उत्पन्न सौर्यायणी, कौशलदेश निवासी आश्वलायन, विदर्भदिशीय भार्गव और कत्थ के प्रपौत्र कबंधी आदि 6 ऋषिगण वेदों का अध्ययन करने के पश्चात् ब्रह्मज्ञान की जिज्ञासा लेकर एक साथ यात्रा पर निकले। उन्होंने सुन रखा था कि पिप्पलाद ऋषि इस विषय के मर्मज्ञ हैं। अतः वह अपने प्रश्नों के साथ जिज्ञासु के वेष में हाथ में समिधा लिए महर्षि पिप्पलाद के आश्रम पहुंच गए। पिप्पलाद ऋषि ने उनका यथोचित आदर-सत्कार करके उनसे कहा कि वह एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए तप करें, तभी वह उनके प्रश्नों का उत्तर देंगे। एक वर्ष के पश्चात् उन ऋषियों में से सर्वप्रथम कत्य ऋषि के प्रपौत्र कबंधी ने श्रद्धा व विनयपूर्वक प्रथम प्रश्न पूछा—

इस संसार में नाना रूपों में जो जीव उत्पन्न होते हैं, उनके जन्म का कारण कौन है? (इस प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ऋषि ने प्राण-रयि नामक युग्म की संकल्पना का विवेचन प्रस्तुत किया है)।

पिप्पलाद ऋषि ने कहा : हे कात्यायन! प्रजापति को सृष्टि के आदि में जब सृजन की इच्छा हुई, तो उन्होंने तप करते हुए संकल्प किया और उसके फलस्वरूप रयि

व प्राण नामक जोड़ा उत्पन्न हुआ। इस मिथुन, युग्म या जोड़े को उत्पन्न करने का उद्देश्य था कि ये दोनों मिलकर सृष्टि का आगे सृजन करें। इस युग्म की संकल्पना को ही भारतीय दर्शन के प्रत्येक क्षेत्र में अभिव्यक्त किया गया है। कहीं शिव और शक्ति के रूप में, कहीं अर्द्धनारीश्वर के रूप में, कहीं वाक् व अर्थ के रूप में, कहीं राधा व कृष्ण के रूप में तथा व्याकरण में स्वर व व्यंजन के रूप में इसका प्रभाव उपनिषदों के प्रख्यात भाष्यकार जगदगुरु आदि शंकराचार्य के प्रसिद्ध ग्रंथ **''सौंदर्यलहरी''** की प्रथम पंक्ति में ही दिखाई देता है—

''शिवः शक्ति युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं (शिव शक्ति से युक्त होकर ही सृष्टि करने को शक्तिमान होता है) संस्कृत के प्रसिद्ध कवि कालिदास ने भी इसी 'प्राण-रयि' की भावना को अपने प्रसिद्ध ग्रंथ ''कुमारसंभव'' के प्रारम्भ में ही प्रकट कर दिया है।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ : इस मिथुनात्मक सृष्टि में सबको जीवन प्रदान करने वाली जो समष्टि (संपूर्ण) शक्ति है अथवा जो ब्रह्म का चेतन या जाग्रत स्वरूप है, वही सूक्ष्म रूप प्राण है। इस सूक्ष्म प्राण शक्ति से ही स्थूल स्वरूप में जीवन का स्पंदन प्रारंभ होता है। यह स्थूल स्वरूप ही रयि है। प्राण चेतना है, रयि आकृति या रूप है। जैसे धन व ऋण के मिलने से विद्युत का प्रवाह प्रारंभ होता है, वैसे ही प्राण व रयि के संयोग से सृष्टि का समस्त कार्य संपन्न होता है। इसी प्राण-रयि के जोड़े को अग्नि, सोम या प्रकृति व पुरुष के संबोधन से भी अभिव्यक्त किया गया है।

सूर्य व चंद्रमा की प्राण व रयि के रूप में तुलना

पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि यह दिखाई देने वाला सूर्य ही प्राण है और चंद्रमा ही रयि है और पंचतत्वों में से जो भी तत्व आकाररूप है या साकार है, जैसे—पृथ्वी, जल व अग्नि तथा जो भी तत्व आकाररहित है या निराकार है, जैसे—आकाश व वायु तत्व, यह सभी रयि रूप हैं। समस्त जगत् के प्राणियों के स्थूल शरीर जैसे मांस, मेद आदि तत्वों का संबंध चंद्रमा से ही है और उनका पोषण भी चंद्रमा की शक्ति से होता है, जबकि जीवनी शक्ति या सूक्ष्म घनीभूत शक्तिस्वरूप प्राण का संबंध सूर्य से है। यह मिथुनात्मक स्वरूप मनुष्य के अंग-अंग में व्याप्त है। जैसे दो ओष्ठ या होंठों के जोड़े के परस्पर मिथुन से ही शब्दों का जन्म होता है, तो नासिकाओं के परस्पर मिथुन से ही श्वास की गति चलती है। इसी कारण दाईं नासिका को सूर्य स्वर या पिंगला व बाईं नासिका को चंद्रस्वर या इड़ा कहते हैं। दो आंखें, दो कान, दो हाथ, दो पैर यह सब शरीर के भाग परस्पर युग्म भाव को ही अभिव्यक्त करते हैं।

आगे कहते हैं कि रात्रि के पश्चात् जब प्राची या पूर्व दिशा में सूर्य उदित होता है, तो वह अपनी किरणों के माध्यम से संपूर्ण प्राणियों के प्राण का पोषण करता है तथा अपनी आकाश यात्रा में वह जिस-जिस दिशा में जाता है, उसी दिशा में संपूर्ण प्राणियों को नई स्फूर्ति देता है, प्राणों का वर्धन करता है। अतः यह स्वयंसिद्ध है कि सूर्य ही समस्त प्राणिजगत का प्राण है। मनुष्य को या अन्य प्राणियों को जो यह भूख लगाने वाली व अन्न का पाचन करने वाली जठराग्नि है, यह वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध अग्नि सूर्य का ही अंश है। अन्न खाने से ही प्राण पुष्ट होते हैं। अतः सूर्य ही प्राण है। यही सूर्य रूपी प्राण ही पांच प्राणों (प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान) में विभक्त हो जाती है।

संवत्सर की प्राण-रयि रूप में तुलना तथा पितृयान व देवयान के युग्म का विवेचन

12 महीनों का काल या एक वर्ष का समय संवत्सर कहलाता है। इसी संवत्सर की प्रजापति ब्रह्म की मिथुनात्मक सृष्टि के रूप में संकल्पना करते हुए पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि इस संवत्सर के भी दो भाग हैं। 6 महीने उत्तरायण का तथा इतने का ही दक्षिणायन। उत्तरायण ही प्राण है तथा दक्षिणायन ही रयि हैं। जो संसार के आम लोग या ऋषि आदि इष्ट व पूर्त कर्मों यथा यज्ञों द्वारा देवता का पूजन, ब्राह्मणों का सत्कार, दुखियों की सेवा, कुंआ, धर्मशाला, औषधालय आदि की स्थापना करते हैं, वह मानो संवत्सर रूपी ब्रह्म के रयि भाग या दक्षिणायन की उपासना करते हैं तथा इन सत्कर्मों के प्रभाव से वह पितृयान के मार्ग से चंद्रलोक जाकर पुनः इसी लोक में लौट आते हैं। अर्थात् उन्हें मोक्ष या जन्म-मृत्यु के आवागमन चक्र से मुक्ति नहीं मिलती है। अब संवत्सर रूपी ब्रह्म के प्राण भाग या उत्तरायण की चर्चा करते हुए कहते हैं कि जो लोग तप व ब्रह्मचर्यपूर्वक आध्यात्मविद्या के द्वारा परमात्मा की उपासना करते हैं, वे सूर्य लोक को जीत लेते हैं तथा देवयान मार्ग से जाकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं और पुनः मर्त्यलोक में वापस नहीं आते।

अब पुनः सूर्य का संख्यात्मक संकेतों के माध्यम से वर्णन करते हुए पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि **पांच** चरणों वाला हम सबका पिता, **बारह** आकृतियों वाला जल का उत्पादक, स्वर्ग से भी ऊपर स्थित **सात** पहियों वाले और **छः** अरों वाले रथ में बैठे सूर्य की ब्रह्मरूप में उपासना करें। पांच चरणों से तात्पर्य पांच मूलभूत तत्वों (पृथ्वी, आकाश, अग्नि, वायु व जल) से भी है और पंच प्राणों से भी है। बारह आकृतियों से तात्पर्य बारह महीनों से है, क्योंकि प्रत्येक मास की संक्रांति पर सूर्य राशि परिवर्तन करके 12 राशियों का भ्रमण करता है। इसी कारण द्वादश या बारह आदित्य की कल्पना की गई है। सात पहियों से तात्पर्य पृथ्वी के सात द्वीपों व प्रकाश की सात रंगों की किरणों से है। 6 अरों का तात्पर्य 6 ऋतुओं से है।)

मास या महीने की प्राण-रयि युग्म रूप में कल्पना

वर्ष के बाद अब मास की प्रजापति की मिथुनात्मक सृष्टि के रूप में संकल्पना करते हुए पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि मास भी कृष्ण पक्ष व शुक्ल पक्ष रूपी युग्म या जोड़े से मिलकर बना है। कृष्ण पक्ष अर्थात् पूर्णिमा के पश्चात् अमावस्या तक के लगभग पंद्रह दिन रयि है, जबकि अमावस्या के पश्चात् पूर्णिमा तक के लगभग पंद्रह दिन प्राण के हैं क्योंकि इन पंद्रह दिनों में सूर्य अपनी रश्मियों से चंद्रमा का विवर्धन करता है या उसमें प्राण या जीवन शक्ति का संचार करता है। कृष्ण पक्ष में सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए यज्ञ अनुष्ठान आदि कर्म किए जाते हैं, जबकि शुक्ल पक्ष में निष्काम भाव से ब्रह्म प्राप्ति हेतु उपासना की जाती है।

वर्ष व मास के पश्चात् अब समय के और सूक्ष्म भाग पर चर्चा करते हुए पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि अहोरात्र अर्थात् 24 घंटे की दिन व रात्रि में काल रूपी ब्रह्म की मिथुनात्मक संकल्पना पुनः दिखाई देती है, क्योंकि सूर्य प्रभावी होने के कारण दिन प्राण है व चंद्रकालीन होने के कारण रात्रि रयि है और दोनों के मिथुन से अहोरात्र का सृजन होता है। दिन में सूर्य की रश्मियों से प्राणों की पुष्टि होती है और प्राण ही जीवन का आधार है। अतः दीर्घायु चाहने वालों को दिन में प्राणों का क्षय नहीं करना चाहिए अर्थात् दिन में स्त्री-सहवास नहीं करना चाहिए, क्योंकि वीर्य क्षरण के समय प्राणों का अत्यधिक क्षय होता है। रात्रि में जब रयि काल होता है, तो उस समय स्त्री सहवास ब्रह्मचर्य के समान होता है।

प्रजापति की अन्न के रूप में महिमा

अंत में कहा गया है कि अन्न ही प्रजापति है, क्योंकि अन्न ग्रहण करने से ही वीर्य उत्पन्न होता है, जो प्राण रूप है तथा जिसके द्वारा यह समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं। अंत में कहा गया है कि जो लोग प्रजापति व्रत का अनुष्ठान करते हैं, उनका मिथुन या जोड़ा आगे आने वाले समय के लिए पुत्र और कन्यारूपी जोड़े को उत्पन्न करते हैं और जो लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वे ब्रह्मरूप परमेश्वर को प्राप्त करते हैं।

द्वितीय-प्रश्न

द्वितीय प्रश्न में भार्गव ऋषि ने महर्षि पिप्पलाद से तीन बातें पूछीं–

1. **प्राणियों के शरीर को धारण करने वाले कुल कितने देवता हैं?**
2. **उनमें से कौन-कौन से देवता इसको प्रकाशित करने वाले हैं?**

3. इन सभी देवताओं में से सर्वश्रेष्ठ कौन सा देवता है?

महर्षि पिप्पलाद ने अपने उत्तर में पहले दोनों प्रश्नों का उत्तर समाहित करते हुए कहा कि आकाश रूपी देवता के आधार से उत्पन्न होने वाले शेष चारों तत्व देव वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी इस शरीर को धारण करते हैं। अर्थात् तत्वों की देवताओं से तुलना करते हुए पांच मूलभूत तत्वों को ही शरीर को धारण करने वाले को देवता माना गया है। अब दूसरी शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि वाणी, हाथ, पैर, लिंग (उपस्थ) व गुदा आदि **पांच कर्मेन्द्रियां** तथा नेत्र, कान, नाक, जिह्वा व त्वचा आदि **पांच ज्ञानेन्द्रियां** और **मन** आदि **चार** अंतःकरण कुल मिलाकर यह **चौदह** देवता शरीर को प्रकाशित करने वाले हैं।

प्राण की अन्य सभी देवताओं से सर्वश्रेष्ठता

अब तीसरे प्रश्न का उत्तर प्रारम्भ करते हुए पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि यह धारण करने वाले पंच महाभूत रूपी 5 देवता तथा अन्य प्रकाशित करने वाले 14 देवता हैं। अपनी सर्वश्रेष्ठता के लिए विवाद करने लगे, तव प्राण ने कहा कि आप सव अज्ञानतावश परस्पर विवाद कर रहे हैं, क्योंकि आप में से कोई भी मेरे बिना इस शरीर को जीवित या सुरक्षित नहीं रख सकता। मैंने ही अपने को पांच भागों प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान में विभाजित कर इसे धारण किया हुआ है। प्राण के इस कथन पर अन्य देवताओं ने विश्वास नहीं किया, तब अपना प्रभाव दिखाने के लिए प्राण शरीर को त्याग कर जाने लगा और अन्य सभी देवताओं को भी शरीर छोड़कर जाने के लिए बाध्य होना पड़ा और कुछ समय पश्चात् जब प्राण पुनः अपने स्थान पर आकर शरीर में स्थित हो गया, तो शेष देवता भी यथास्थान स्थापित हो गए और उन्होंने प्राण की सर्वश्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया। (इसी प्रकार प्राण की श्रेष्ठता को सामवेद से संबंधित छांदोग्य उपनिषद् के पांचवे अध्याय में और शुक्ल यजुर्वेद से संबंधित वृहदारण्यक उपनिषद् के छठे अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में भी प्रस्तुत किया गया है)।

तत्पश्चात् इन सभी देवताओं ने प्राण को श्रेष्ठ देव व परब्रह्म का स्वरूप मानकर उसकी स्तुति प्रारंभ की, जो निम्नलिखित 9 श्लोकों में है और ऐसा माना जाता है कि इस स्तुति से प्राण पुष्ट होते हैं और रोगों से शरीर की मुक्ति होती है तथा शरीर स्वस्थ, ओजपूर्ण व प्राणवान हो जाता है।

एषोरनिस्तपत्येय सूर्य एष पर्जन्यो मधवानेष वायुः।
एष पृथिवी रर्यिदेवः सदसच्चामृतं च यत्।।5।।

अर्थ : यह प्राण ही अग्नि रूप से शरीर में तपता है। अतः यही सूर्य रूप है, यही मेघ, इन्द्र व वायु है। यह प्राण ही पृथ्वी और रयि है तथा जो भी सत् व असत् तथा उससे भी श्रेष्ठ अमृत रूप परब्रह्म है, वह यही प्राण है।

अरा इव रथनामौ प्राणे सर्व प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च।।6।।

अर्थ : रथ के पहिए की नाभि से जुड़े अरे जिस प्रकार नाभि पर ही आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार ऋक्, यजुर्वेद व सामवेद की सभी ऋचाएं और इन ऋचाओं से होने वाले यज्ञ व उन यज्ञादि शुभकर्मों को करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अन्य वर्ग भी प्राण रूपी नाभि पर ही आश्रित हैं अर्थात् जीवन व जीवित अवस्था के सभी कर्म प्राणों के द्वारा ही संभव हैं।

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राण प्रजास्तिवमा बलिं हरत्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि।।7।।

अर्थः हे प्राण! तुम ही प्रजापति हो और तुम ही गर्भ में विचरकर माता-पिता के अनुरूप संतान के रूप में जन्म लेते हो। तुझसे व्याप्त यह जीव तेरी ही आराधना करते हैं और तू ही अपान आदि पांच रूपों में शरीर में स्थित होकर जीवन देता है।

देवानामसि वहितमः पितृणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि।।8।।

अर्थ : हे प्राण! आप ही देवताओं को हवि पहुंचाने वाली अग्नि हो और आप पितरों के लिए पहली स्वधा हो। अथर्व व अंगिरा आदि ऋषियों द्वारा कहा गया परब्रह्म का सत्य भी आप ही हैं।

इंद्रास्तवं प्राण तेजसां रुदोऽसिं परिरक्षिता।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्तवं ज्योतिषां पतिः।।9।।

अर्थ : हे प्राण ! आप ही सम्पूर्ण तेज से व्याप्त इंद्र हो। तुम ही प्रलयकाल में संहार करने वाले रुद्र हो और तुम ही सबकी रक्षा करने वाले विष्णु हो। तुम ही अंतरिक्ष में विचरने वाले वायु हो और तुम ही समस्त ज्योति के स्वामी सूर्य हो।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः।
आनन्दरुपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति।। 10।।

अर्थ : हे प्राण! आपकी ही शक्ति से जब वर्षा होती है और पृथ्वी अन्न उपजाने में समर्थ हो जाती है, तब यह देखकर संपूर्ण प्राणी आनंद में मग्न हो जाते हैं।

व्रात्यस्तं (व्रात्यास्त्वं) प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातारिरिश्व नः ।। 11।।

अर्थ : हे प्राण! आप व्रात्य (संस्कार रहित) होते हुए भी सर्वश्रेष्ठ ऋषि हो। हम लोग (सभी इंद्रियां व मन) अपने ही लिए नाना प्रकार की खाद्य सामग्री अर्पित करते हैं और आप ही उनका भोग करते हैं। हे आकाश में विचरण करने वाले वायु रूप प्राण देव! आप ही हमारे पिता हैं, क्योंकि आप से ही हम सबकी उत्पत्ति हुई है।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः।। 12।।

अर्थ : हे प्राण! यह जो आपका स्वरूप वाणी, श्रोत्र (कान) चक्षु, (आंखें) आदि सभी इंद्रियों में व्याप्त है और जो मन अंतःकरण आदि वृत्तियों में भी व्याप्त है। उसे आप शिव रूप में अर्थात् उसका कल्याण करें। हम पुनः आपसे प्रार्थना करते हैं कि आप शरीर को त्याग कर न जाएं, अर्थात् हम दीर्घायु हो।

प्राणस्येदं वशे सर्व त्रिदिवे यन्प्रतिष्ठितम्।
मातेव पुत्रान रक्षस्व श्रीश्व प्रज्ञां च विधेहि न इति।। 13।।

अर्थ : इस संसार में जो कुछ भी प्रत्यक्ष है, अर्थात् दिखाई देता है और जो कुछ भी अन्य लोकों में है, वह सब प्राण के ही अधीन है। अतः हे प्राण! जिस प्रकार माता अपने पुत्रों की रक्षा करती है, उसी प्रकार आप हमारी रक्षा करें।

तृतीय-प्रश्न

तृतीय प्रश्न में आश्वलायन ऋषि ने पिप्पलाद ऋषि से 6 बातें पूछीं :

1. **प्राण किससे उत्पन्न होता है?**
2. **प्राण मनुष्य शरीर में कैसे प्रवेश करता है?**

3. प्राण अपने को किस प्रकार विभाजित करके शरीर में स्थित रहता है?

4. प्राण शरीर से किस प्रकार निकलता है?

5. प्राण बाह्य जगत् को किस प्रकार धारण करता है?

6. प्राण किस प्रकार आध्यात्मिक शरीर जैसे मन और इंद्रिय आदि को व्याप्त करता है?

महर्षि पिप्पलाद ने मुनि की जिज्ञासा की प्रशंसा करते हुए क्रमशः इस प्रकार प्रश्नों का उत्तर दिया है।

पहले प्रश्न का उत्तर देते हुए ऋषि कहते हैं कि प्राण ब्रह्म या परमात्मा से उत्पन्न होता है और जिस प्रकार छाया जीव के अधीन उसका प्रतिरूप होती है, वैसे ही प्राण ब्रह्म की छाया है।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में उन्होंने बताया कि प्राण मनुष्य के शरीर में मन के संकल्प से प्रवेश करता है। (इसका भाव यह है कि नए शरीर में या गर्भ में प्राण का प्रवेश पूर्व जन्म में प्राणों के शरीर को त्यागते समय मन में आए अंतिम समय के विचार, ध्यान या संकल्प के आधार पर निर्भर होता है। कहा भी गया है—'अंत मति सो गति' (और जड़भरत का दूसरे जन्म में हिरण के रूप में जन्म लेना इस तथ्य की पुष्टि करता है)। गीता में भी इसी भाव की पुष्टि की गई है।

अब तीसरी जिज्ञासा का समाधान करते हुए ऋषिवर कहते हैं कि जिस प्रकार कोई सम्राट अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों में पृथक्-पृथक् अधिकारियों की नियुक्ति करके उनके कार्य को बांट देता है, उसी प्रकार शरीर का सम्राट प्राण भी अपने अन्य प्राणों को शरीर में स्थापित कर देता है। स्वयं प्रमुख प्राण तो मुख और नासिका के द्वारा शरीर में विचरण करता है और नेत्र तथा कानों में स्थित रहता है। अपान नामक प्राण गुदा और लिंग में स्थित रहता है तथा उसका प्रमुख कार्य मल-मूत्र को शरीर से बाहर उत्सर्जित करता है। इसके अतिरिक्त वीर्य और रज को शरीर से बाहर निकालना तथा गर्भस्थ शिशु को माता के गर्भ से बाहर निकालने का कार्य भी करता है। शरीर के मध्य स्थित नाभि में प्राण स्थित रहता है, जो खाए गए अन्न को पचाकर उसके सार को संपूर्ण शरीर के अंग-अंग में समान रूप से पहुंचाता है, जिससे शरीर में सात ज्वालाओं वाली अग्नि प्रज्ज्वलित होती है (सात ज्वालाओं से तात्पर्य दो नेत्रों में देखने की शक्ति, दो कानों में श्रवण की शक्ति से, दो नासिकाओं और एक मुख में स्थित जिह्वा से है। व्यान नामक प्राण के स्थान व क्रिया-कलाप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह आत्मा जो हृदय प्रदेश में निवास करती है, वहां लगभग सौ मूल नाड़ियों का समूह है, जिनकी आगे पुनः सौ शाखाएं हैं और इन शाखाओं की आगे बहत्तर हजार प्रति शाखाएं हैं, जिनमें व्यान नामक प्राण विचरण करता है। अब उदान का स्थान व कार्य का वर्णन करते हुए चौथे प्रश्न के उत्तर

को भी उसी में समाहित करते हुए ऋषिवर कहते हैं कि शरीर में एक और प्रमुख नाड़ी है, सुषुम्ना। यह नाड़ी मूलाधार चक्र से प्रारंभ होकर सहस्रार चक्र या ब्रह्मरंध्र तक जाती है। वस्तुतः रीढ़ की हड्डी में व्याप्त यह नाड़ी और अग्नि जैसे लाल-पीत वर्ण की होती है, जिसे पाश्चात्य एनाटोमी कैनालिस सेंट्रालिस (Canalis centralis) के नाम से जानती है। इसी सुषुम्ना नाड़ी में उदान प्राण स्थित रहते हैं। प्राण को अन्य इन्द्रियों सहित शरीर से यह उदान प्राण वायु ही निकालकर पाप व पुण्य कर्मों के आधार पर विभिन्न लोकों में ले जाती है।

अब पांचवे प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि बाह्य जगत् में सूर्य ही प्रमुख पाया है, क्योंकि नेत्र स्वाभाविक रूप से सूर्य के प्रकाश में ही देख सकते हैं। अपान वायु पृथ्वी या स्थूल पदार्थ है। सम्पूर्ण आकाश वही समान वायु का बाह्यस्वरूप है। सूर्य और अग्नि का जो तेज है, ताप है या उष्णता है, वही उदान का बाह्यस्वरूप है। इसी उष्णता या उदान के द्वारा प्राण, मन और इंद्रियों में व्याप्त रहता है और यही मन इंद्रियों को अंत समय के संकल्प के अनुसार लेकर विभिन्न लोकों में विचरण करता है।

चतुर्थ-प्रश्न

चौथा प्रश्न गार्ग्य मुनि ने पिप्पलाद ऋषि से किया व पांच बातें पूछीं :

1. प्रगाढ़ निद्रा के समय मनुष्य शरीर में निवास करने वाले देवताओं में से कौन-कौन से सोते हैं?

2. कौन-कौन से देवता जागते रहते हैं?

3. स्वप्नावस्था में कौन देवता स्वप्न की घटनाओं को (स्वप्नवत्) देखता है?

4. निद्रावस्था में सुख का अनुभव किसको होता है?

5. ये सबके सब देवता सर्वभाव से किस पर आश्रित हैं?

प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य अस्त होते ही उसकी सभी किरणें जो संपूर्ण दिशाओं में व्याप्त होती हैं, पुनः सूर्य में ही विलीन हो जाती हैं और उसके उदित होने पर पुनः चारों ओर फैल जाती हैं, वैसे ही मनुष्य शरीर के मन रूपी सूर्य की इंद्रिय रूपी सभी किरणें जैसे आंखों से देखना, कानों से सुनना, वाणी से बोलना मन में ही विलीन हो जाती हैं।

दूसरे प्रश्न के उत्तर में ऋषिवर कहते हैं कि सभी इंद्रियों के मन में लीन हो जाने पर कौन जागता है? इसको जानने के लिए मनुष्य की निद्रा को यज्ञ स्वरूप मानना चाहिए और पंच प्राणों को जागती हुई अग्नियां जानना चाहिए। अपान प्राण वायु ही इस निद्रा यज्ञ की गार्हपत्य अग्नि है; व्यान अन्वाहार्य दक्षिणाग्नि है (वह अग्नि जिससे पितृलोक में हवि दी जाती है।)। गार्हपत्य अग्नि रूपी अपान जिसे अपनी लपटों से ऊपर उठाकर ले जाती है, वही प्राण रूप है। निद्रा में जो सांस

आता-जाता है, वह दो यज्ञ में पड़ने वाली आहुतियों के सदृश समान नामक प्राणों का भेद है। इन आहुतियों को संतुलित रखने के क़ारण समान वायु ही मानो निद्रा रूपी यज्ञ कर्म का ऋत्विक या पुरोहित है। मन अपनी संपूर्ण इंद्रियों सहित इस यज्ञ का यजमान है और उदान वायु मन को निद्रा के समय कर्मफलों के अनुरूप हृदय गुहा से स्थित ब्रह्मलोक में ले जाने वाला अभीष्ट फल है। अर्थात् मन को निद्रा अवस्था में भी उदान ही वहन करता है और चिर-निद्रा में शरीर से बाहर भी उदान ही लेकर जाता है।

तीसरे प्रश्न के उत्तर में ऋषिवर कहते हैं कि स्वप्न अवस्था में आत्मा स्वयं ही अपनी विभूति का अनुभव करता है और जागृत जगत् में जो बार-बार देखा हुआ और सुना हुआ है तथा जिन नाना देश दिशाओं का अनुभव किया हुआ है, उन सबको ही स्वप्न अवस्था में देखता है। इसके अतिरिक्त बहुत अनदेखे व अनसुने प्रकरणों को भी देखता है और न अनुभूत किए हुए अनुभवों को भी अनुभूत करता है। अतः स्वप्न में विद्यमान व अविद्यमान सारी घटनाओं को स्वयं ही देखता है।

निद्रा की अवस्था में सुख का अनुभव किसे होता है? इसका उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि निद्रा के समय मन उदान वायु के अधीन होता है और जब मन आत्मा में प्रविष्ट हो जाता है, उस समय सुख अनुभव आत्मा को ही होता है।

पांचवें प्रश्न के उत्तर में ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार बहुत से पक्षी सायंकाल में अपने निवास वृक्ष पर वापस आकर आश्रित हो जाते हैं, वैसे ही पृथ्वी जैसे स्थूल तत्वों से लेकर प्राण जैसे सूक्ष्मतम तत्व या देवता सर्वभाव से आत्मा रूपी परमात्मा पर आश्रित हैं। अब इसी प्रश्न की विस्तृत विवेचना करते हुए कहते हैं कि **पृथ्वी** और उसकी तन्मात्रा **गंध**, **जल** और उसकी तन्माना **रस**, **तेज** और उसकी तन्मात्रा **रूप**, **वायु** और उसकी तन्मात्रा **स्पर्श**, **आकाश** और उसकी तन्मात्रा **शब्द**, **(यहां तक पंच महाभूतों** व **उनकी तन्मात्राओं का वर्णन किया गया है)**, **नेत्र** और उसके द्वारा देखे जाने वाला दृश्य जगत्, **कान** व उनके द्वारा सुने जाने वाला शब्द जगत्, **नाक** व उसके द्वारा सूंघा जाने वाला गंध जगत्, **जिह्वा** व उसके द्वारा रसास्वादन किए जाने वाले रस, **त्वचा** व उसके द्वारा स्पर्श किए जाने वाली वस्तुएं, **वाणी** व उसके द्वारा बोले जाने वाले वाक्य, **हाथ** व उसके द्वारा पकड़ में आने वाली वस्तु, **लिंग या योनि** व उसके द्वारा लिए जाने वाला रति आनंद, **गुदाइन्द्रिय** व उसके द्वारा त्यागे जाने वाले पदार्थ, **पैर** और उनके द्वारा प्राप्त होने वाला गन्तव्य (**यहां तक कि दसों इंद्रियों व उनके कार्य-कलापों का विवरण है**), **मन** और उसके द्वारा मनन की जाने वाली वस्तुएं, बुद्धि व उसके द्वारा जानने वाली वस्तुएं, **अहंकार** व उसके उपादान, **चित्त** व उसके द्वारा चिंतन की जाने वाली वस्तुएं (**यहां पर चारों प्रकार के अंतःकरण का वर्णन** किया गया है।) यह सभी उन्नीस पदार्थ पांच वृत्ति वाले प्राण पर ही आश्रित हैं। जो भी मनुष्य इस प्राण के भी आश्रय आत्मा स्वरूप निराकार

ब्रह्म को जो शरीर रहित, रंग रहित, विशुद्ध अविनाशी तत्व है, उसे जान लेता है, वह उस ब्रह्म को पा लेता है।

पंचम् प्रश्न (ॐ के त्रिमात्रात्मक स्वरूप की विवेचना)

पांचवें प्रश्न को शिविकुमार सत्यकाम ने पूछा। उनकी जिज्ञासा थी कि जो कोई भी मनुष्य मृत्यु पर्यन्त ॐ की आराधना करता है, उस उपासना के बल से उसे कैसा फल प्राप्त होता है?

इस प्रश्न के उत्तर में पिप्पलाद ऋषि ॐ के एक अन्य विशिष्ट स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ॐकार ही परब्रह्म और अपरब्रह्म है और इस रहस्य को जानने वाला मनुष्य केवल एक मात्र इसी ॐकार के चिन्तन से ब्रह्म को पा लेता है। (आदि नाद या संसार के सृजन के समय उत्पन्न होने वाली सर्वप्रथम अक्षर ध्वनि ॐ है। इस ध्वनि के तीन रूप हैं और इन तीन रूपों से संबंध रखने वाले अ, उ, म् ये तीन अक्षर हैं, जो ॐ रूपी चित्र का सृजन करते हैं–विशेष विवरण के लिए देखें–उपनिषदों के विशिष्ट संदर्भ में ॐ) जो मनुष्य ॐकार की एक ही मात्रा वाले स्वरूप का ध्यान करता है अर्थात् अ,उ,म् में से केवल 'अ' का ही ध्यान करता है, वह मनुष्य ऋग्वेद की ऋचाओं के संपूर्ण ज्ञान को पाकर **महिभावन** हो जाता है। जो मनुष्य दो मात्राओं वाले ॐकार का ध्यान करता है अर्थात् 'अउ' का ध्यान करता है। वह यजुर्वेद की ऋचाओं में निष्णात हो जाता है और मनोमय चन्द्रलोक को प्राप्त कर लेता है और वहां के ऐश्वर्य का भोग करके पुनः मर्त्यलोक में जन्म लेता है। जो व्यक्ति तीन मात्राओं वाले पूर्ण अउम (ॐ) का ध्यान करता है, वह तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त करता है और जिस प्रकार सर्प केचुली को त्यागकर अलग हो जाता है, वैसे ही वह साधक कर्म बंधनों को त्यागकर पूर्णतः आवागमन चक्र से मुक्त हो जाता है और जीवधन (जीवधन का एक विशिष्ट अर्थ है, क्योंकि संसार की समस्त जीवात्माएं जो हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होती हैं और प्रलयकाल में उसी में विलीन हो जाती हैं और घनीभूत हो जाती हैं अर्थात् एक जगह एकत्रित हो जाती हैं, जीवधन कहलाती हैं। ब्रह्म या परमात्मा इस जीवधन या परमात्मा से भिन्न है) से भिन्न सत्यस्वरूप परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

षष्ठ प्रश्न

अंतिम प्रश्न भारद्वाज के पुत्र सुकेश ने महर्षि पिप्पलाद से किया और कहा कि हे पिप्पलाद ऋषिवर! जो प्रश्न मैं आपसे पूछने जा रहा हूं, यही प्रश्न एक बार कोसलदेश के राजकुमार हिरण्यनाभ ने भी मुझसे पूछा था, तभी से इस प्रश्न का उत्तर जानने की इच्छा है। अतः आज आप मेरी जिज्ञासा शांत करें। कृपा कर आप बताएं कि सोलह कलाओं वाला पुरुष कौन है? वह कहां है और उसका स्वरूप क्या है?

सोलह कलाओं वाले पुरुष का वर्णन

इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने कहा कि वह सोलह कलाओं वाला पुरुष इस शरीर के ही अंदर विद्यमान है। (वस्तुतः सोलह कलाओं से यहां तात्पर्य सांख्य दर्शन के 25 तत्वों में से 16 उन तत्वों से है, जो किसी अन्य तत्व से उत्पन्न मात्र ही होते हैं, दूसरे को उत्पन्न नहीं करते)। सृष्टि के सृजन के समय परम ब्रह्म ने विचार किया कि मैं जिस ब्रह्मांड की रचना करने जा रहा हूं, उसमें ऐसा कौन-सा तत्व रखा जाए, जिसके द्वारा मेरी सत्ता को बोध हो या जिसके न रहने पर मैं भी उसमें न रह सकूं। यह विचारकर ब्रह्म ने सर्वप्रथम प्राण की रचना की, प्राण के पश्चात् श्रद्धा की रचना की। इसके पश्चात् पंचमहाभूत (आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी) तत्पश्चात् मन, पांच ज्ञानेन्द्रियों व पांच कर्मेन्द्रियों, इस प्रकार सोलह कलाओं वाले पुरुष को उत्पन्न किया। इसके पश्चात् उसके आहार के लिए अन्न और अन्न से वीर्य की रचना की। इन सब सृजन कार्यों के पश्चात् ब्रह्म आत्मा के रूप में इन सोलह कलाओं वाले मनुष्य शरीर में प्रविष्ट हो गए। (यही आत्मा वह तत्व है, जो अन्य सभी से भिन्न ब्रह्म की सत्ता का प्रतीक है) जिस प्रकार विभिन्न नदियां समुद्र में जाकर विलीन हो जाने के पश्चात् अपने नाम व रूप को या अपनी भिन्न व विशिष्ट सत्ता को खो देती हैं और एक मात्र समुद्ररूप हो जाती हैं, वैसी ही ये सोलह कलाएं जब परम ब्रह्म में विलीन हो जाती हैं, तो जीव का नाम व रूप का अहंकार मिट जाता है और उसका ब्रह्म से एकाकार हो जाता है। इसी बात को पुनः एक उदाहरण से स्पष्ट करते हुए पिप्पलाद ऋषि कहते हैं कि जिस प्रकार रथ के पहिए की नाभि के आधार पर अरे टिके रहते हैं, उसी प्रकार ये सोलह कलाएं परब्रह्म पर आश्रित हैं, जो उसी से उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाती हैं और जो इस रहस्य को जान लेता है, वह जन्म-मृत्यु के बंधन से मुक्त हो जाता है।

इतना कहकर पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि हे ऋषियों ! परमब्रह्म के बारे में मैं जो भी जानता था, वह मैंने आपको कह दिया। अब इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता। तत्पश्चात् ऋषियों ने भी पिप्पलाद ऋषि की पूजा की और अविद्या के समुद्र से पार कराने के लिए धन्यवाद दिया और प्रश्नोपनिषद् की समाप्ति को सूचित किया।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम

मुण्डकोपनिषद्

मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेद से ही संबंधित शौनकी शाखा का उपनिषद् है। इसके नाम में **'मुण्ड'** धातु का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है मुंडन या सिर के केशों को उतरवाना। अधिकांशतः संन्यासी मुंडन कराए रहते हैं और तभी वह ब्रह्मज्ञान के अधिकारी होते

हैं। अतः संन्यासी से संबंधित होने के कारण इस ब्रह्म चर्चा को मुण्डकोपनिषद् का नाम दिया गया है। एक अन्य व्याख्या के अनुसार जैसे मुंडन से केशों का आवरण समाप्त हो जाता है, वैसे ही इस उपनिषद् के ब्रह्मज्ञान से अज्ञानरूपी केशों का मुंडन हो जाता है। अतः इसे मुंडकोपनिषद् कहा जाता है। इसमें वर्णित मुख्य विषय परा व अपरा विद्या, अग्निहोत्र यज्ञ व द्वा **सुर्पणा** नामक प्रसिद्ध रूपक आदि है। इस उपनिषद् में **तीन मुंडक** हैं और **प्रत्येक मुंडक में दो खंड** अर्थात् कुल 6 खंड हैं। कुल श्लोकों की संख्या 64 है।

प्रथम मुंडक

प्रथम खंड

इस खंड में संक्षेप में अङ्गिरा ऋषि द्वारा परा और अपरा विद्या का वर्णन किया गया है। ब्रह्मविद्या की परंपरा का वर्णन करते हुए यह खंड प्रारंभ होता है, जिसमें कहा गया है कि सर्वप्रथम ब्रह्मा जी प्रकट हुए और उन्होंने अपने सबसे बड़े पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया। अथर्वा ने वह विद्या अंङ्गी ऋषि को और अंङ्गी ऋषि ने भारद्वाज गोत्रीय सत्यवाह ऋषि को दी। सत्यवाह ऋषि से ही यह विद्या अंगिरा ऋषि को प्राप्त हुई और अंगिरा ऋषि से ही इस विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शौनक ऋषि विनयपूर्वक उनकी शरण में पहुंचे।

परा व अपरा विद्या

अंगिरा ऋषि ने कहा कि मनुष्य के जानने योग्य विद्याएं दो प्रकार की हैं, परा व अपरा। इनमें से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, वेदांग आदि का ज्ञान अपरा विद्या के अंतर्गत है, जबकि वह विद्या जिससे अविनाशी परब्रह्म का साक्षात्कार होता है, वह परा विद्या है। (तात्पर्य यह है कि केवल मात्र वह ज्ञान, जो पुस्तकों या ग्रंथों से प्राप्त होता है और नश्वर संसार का वस्तुनिष्ठ ज्ञान देता है, वह अविद्या के समान ही है और अपरा है, जबकि वह ज्ञान जो वास्तव में आत्मा के अज्ञान के आवरण को हटाकर ज्योतिर्मय सत्य को उद्घाटित करता है, ब्रह्म की अनुभूति कराता है, वही सच्चा ज्ञान है, वही परा है।) अब परा विद्या द्वारा अनुभूत होने वाले परब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह न तो जानने में आनेवाला है, न ही पकड़ने में आने वाला है, जिसका न कोई गोत्र है, जो रंग और आकृति से रहित है तथा जो नेत्र कान, वाणी, जिह्वा आदि ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से रहित, परंतु फिर भी नित्य, सर्वव्यापी, सूक्ष्म और अविनाशी है, उसे ही परा विद्या के ज्ञानी देखते हैं (ज्ञान चक्षुओं द्वारा न कि नेत्रों द्वारा)।

अब पुनः तीन दृष्टांतों के माध्यम से उस परब्रह्म द्वारा संपूर्ण जगत् की उत्पत्ति का वृतांत प्रस्तुत किया गया है। जिस प्रकार मकड़ी अपने जाले को बुनती है अर्थात् उसका विस्तार करती है और बाद में स्वयं ही उसको निगल लेती है अर्थात् उसका संकोच कर देती है, उसी प्रकार ब्रह्म इस सृष्टि का पहले तो सृजन करके विस्तार करते हैं और बाद में प्रलय काल में पुनः उसे अपने में ही विलीन कर लेते हैं। दूसरे उदाहरण के संदर्भ में कहते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वी बिना किसी भेदभाव के बीज के अनुरूप विभिन्न प्रकार की औषधियां, अन्न, वृक्ष आदि उत्पन्न करती है, वैसे ही परमात्मा नाना प्रकार के कर्मरूपी बीजों के अनुसार जीवों की संसार रूपी भूमि में विभिन्न योनियों में उत्पन्न करते हैं। तीसरे उदाहरण में कहा गया है कि जैसे मानव शरीर से नख, केश व रोम बिना किसी प्रयास के स्वयं ही उत्पन्न होकर बढ़ते रहते हैं अर्थात् उनका विस्तार होता रहता है और उसके लिए शरीर कोई विशेष प्रयास नहीं करता, वैसे ही यह संसार भी भगवान् से स्वाभाविक रूप से समय पर उत्पन्न होकर विस्तार को प्राप्त हो जाता है और इसके लिए ब्रह्म को कोई प्रयास नहीं करना पड़ता।

इसके पश्चात् जगत् की उत्पत्ति का क्रम और परमेश्वर के संकल्पमात्र से इसके आविर्भाव का प्रकरण है। शौनक ऋषि ने यह जो प्रश्न पूछा था कि **किसको जान लेने से यह सब कुछ जान लिया जाता है?** उसी के उत्तर में समस्त जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से बताकर यह समझाने का प्रयास किया गया है कि उसे जान लेने से ही यह सबकुछ जान लिया जाता है।

द्वितीय-खंड

इस खंड में मुख्यतः अग्निहोत्र यज्ञ का वर्णन किया गया है तथा केवल यज्ञ मात्र से ही ब्रह्म की प्राप्ति को अविद्या व अपरा मात्र कहा गया है। खंड के प्रारंभ में कहा गया है कि जिस प्रकार बुद्धिमान ऋषियों ने विभिन्न कर्मों अर्थात् यज्ञों की वेद मंत्रों में अभिव्यक्ति की है, उन्हें नियमपूर्वक करना चाहिए और अधिकारी मनुष्यों को नित्यप्रति अग्निहोत्र यज्ञ करना चाहिए। इस यज्ञ में जब अग्नि प्रदीप्त हो जाए, अर्थात् उसकी ज्वालाएं लपलपाने लगें, तब **आज्यभाग** के बीच में अन्य आहुतियों को डालें। (यजुर्वेदीय कर्मकांड के अनुसार प्रजापति के लिए मौनभाव से एक आहुति और इन्द्र के लिए आधार नामक दो घृताहुतियां देने के पश्चात् जो अग्नि व सोम के लिए दो पृथक्-पृथक् आहुतियां दी जाती हैं, उनका नाम आंज्यभाग है)। नित्य अग्निहोत्र करने वाला यदि दर्श (प्रत्येक अमावस्या को किया जाने वाला यज्ञ) नहीं करता, चातुर्मास्य यज्ञ और शरद तथा बसंत ऋतु में की जाने वाली नवीन अन्न की पूजा करने वाला आग्रयण यज्ञ नहीं करता तथा जिसके घर में अतिथि सत्कार

नहीं होता तथा अग्निहोत्र को नित्य नियमित समय पर नहीं करता और बलिवैश्वदेव कर्म से विमुख रहता है, उसके सभी पुण्यों का नाश हो जाता है।

अग्नि की सात लपटों या जिह्वाओं के बारे में वर्णन करते हुए कहा गया है कि काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिङ्गनी तथा विश्वरूची ये अग्नि की जिह्वाएं हैं और इनके पूर्णतः प्रकट होने पर ही आहुति डालनी चाहिए अर्थात् जब अग्नि पूर्णतः प्रज्ज्वलित हो तभी हवि डालनी चाहिए, अप्रज्ज्वलित अथवा धुएं वाली अग्नि में आहुति देने से वह व्यर्थ हो जाती है। अब अग्निहोत्र का फल बताते हुए कहा गया है कि जो कोई भी अग्निहोत्री इन देदीप्यमान ज्वालाओं में ठीक समय पर आहुति डालता है। उसे यह अग्नि मरणकाल में अपने साथ लेकर सूर्य की किरणों के द्वारा इन्द्रलोक पहुंचा देती है। यज्ञीय कर्मकांड पर ही बल न देते हुए एक रूपक की सहायता से कहा गया है कि यह यज्ञ रूपी अठारह नौकाएं अर्थात् अठारह प्रकार के यज्ञ अस्थिर व अवर श्रेणी के कार्य हैं, क्योंकि ये सांसारिक सुख तो देते हैं, परंतु जन्म व मृत्यु के बंधन से मुक्ति दिलाकर मोक्ष प्राप्त नहीं कराते। अतः यज्ञीय कर्मकांड के साथ-साथ परब्रह्म के सत्य की खोज भी करनी चाहिए। जिस प्रकार अविद्या के कारण अपरा विद्या जानने वाले पंडित स्वयं को बुद्धिमान समझकर सांसारिक इच्छाओं, भोगों व तृष्णाओं में भटकते रहते हैं, वह उस अंधे की भांति हैं, जो अन्य अंधों द्वारा मार्ग पर चलाया जा रहा है अर्थात् सभी अज्ञान कूप में पड़े रहते हैं। इसी तथ्य पर पुनः बल देते हुए कहते हैं कि इष्ट व पूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मानने वाले मूर्ख लोग वास्तविक जीवन के उद्देश्य या श्रेय को नहीं जानते और अपने सीमित ज्ञान के कारण किए हुए सांसारिक यज्ञों व अनुष्ठानों के कारण स्वर्ग को तो प्राप्त कर लेते हैं, परंतु इन कर्मों के पुण्य क्षीण होने पर पुनः मनुष्यलोक में मनुष्य या अन्य हीन योनियों में जन्म लेते रहते हैं, परंतु ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर पाते। इन मनुष्यों से भिन्न अरण्य में रहने वाले शांत स्वभाव वाले विद्वान् संयम, तप व श्रद्धा से परा विद्या का ज्ञान प्राप्त कर सूर्य मार्ग अजन्मा, अमृत, अविनाशी परमपुरुष की शरण में जाकर मोक्ष को प्राप्त होते हैं। अतः ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि सांसारिक भोगों की इच्छा त्यागकर ब्रह्मप्राप्ति का प्रयत्न करे।

द्वितीय मुंडक

प्रथम खंड

इस खंड में पराविद्या या ब्रह्म ज्ञान का विशेष रूप से वर्णन किया गया है तथा निराकार ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है।

अङ्गिण ऋषि शौनक ऋषि को परा विद्या का उपदेश देते हुए कहते हैं कि जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि से असंख्य चिन्गारियां प्रकट होती हैं, वैसे ही अविनाशी निराकार ब्रह्म से नाना प्रकार के भाव व पदार्थ उत्पन्न होते हैं और प्रलय काल में उसमें विलीन हो जाते हैं। अतः इस ब्रह्म के स्वरूप को जानो। यह ब्रह्म दिव्य, पूर्ण, निराकार समस्त जगत के बाहर और भीतर व्याप्त, अजन्मा, अयोनिज प्राण व मन से रहित व श्रेष्ठ है। इसी ब्रह्म से प्राण, मन, समस्त इंद्रियां, पंचमहाभूत आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। इस विराटस्वरूप ब्रह्म का अग्नि मस्तक है, चंद्रमा व सूर्य दोनों नेत्र हैं, चतुर्दिशाएं दोनों कान हैं, वेद ही इसकी वाणी है और वायु ही इसके दोनों प्राण हैं। इस निराकार विराटरूप पुरुष से पहले अग्नि प्रकट हुई, उस अग्नि से सोम प्रकट हुआ, सोम से मेघ व मेघों से वर्षा हुई, जिससे पृथ्वी में विभिन्न प्रकार के अन्न उत्पन्न हुए, जिनके खाने से वीर्य की उत्पत्ति हुई, जिससे संसार में नियमपूर्वक जीव उत्पन्न होने लगे। (मुंडकोपनिषद् में सृष्टि के सृजन का क्रम परम्परागत क्रम से थोड़ा भिन्न है और ऐसा माना गया है कि परमेश्वर जैसा चाहे, वैसे जगत् को उत्पन्न कर सकता है। उसके लिए कोई नियम निर्धारित नहीं है। यह तो केवल ब्रह्म के संकल्प पर ही निर्भर है)। इसी असीम, निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापी परब्रह्म से ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद की श्रुतियां, यज्ञ, संवत्सर, लोक, चन्द्रमा, सूर्य, वसु, देवता, पशु-पक्षी आदि सभी उत्पन्न हुए हैं। इसी परमेश्वर से सात प्राण, सात अग्नि की लपटें, सात समिधाएं, सात प्रकार के होम व सात लोक उत्पन्न होते हैं, जिनमें प्राण विचरण करते हैं और तव यह परब्रह्म हृदय रूपी गुहा में छिपे रहते हैं।

अतः हे शौनक! हृदय रूपी गुफा में छिपे इस परमेश्वर को जानो और सभी संशय व भ्रम से रहित होकर इसे प्राप्त करो।

द्वितीय खंड

इस खंड में परब्रह्म को एक विशिष्ट नाम **गुहाचर** से संबोधित किया गया है और धनुष के रूपक के माध्यम से उसे पाने का उपाय बताया गया है।

प्रथम खंड में बताया जा चुका है कि ब्रह्म हृदय रूपी गुहा में निवास करता है। अतः उसे गुहाचर की संज्ञा दी गई है और कहा गया है कि चेष्टा करने वाले, सांस लेने वाले, आंखों को खोलने, बंद करने वाले इस प्रकार के सभी प्राणी इसी गुहाचर में प्रतिष्ठित हैं। अतः इसे तुम जानो। जिस प्रकार धनुष पर बाण चढ़ाकर ध्यान पूर्वक लक्ष्य को वेधा जाता है, वैसे ही उस ब्रह्म को लक्ष्य मानकर ॐकार रूपी धनुष पर उपासना रूपी बाण चढ़ाकर उसे बेधो। यह परब्रह्म जो स्वर्ग, पृथ्वी, आकाश, मन, बुद्धि आदि सभी स्थानों पर व्याप्त है, उसी का तुम ध्यान करो, शेष सभी बातें व्यर्थ हैं, उन्हें छोड़ दो और इस संसार समुद्र से पार होने के लिए अमृतस्वरूप परमात्मा को सेतु सदृश मानो। इस सर्वज्ञ, महिमावान्, सबकी आत्मा रूप परमेश्वर

को जो प्राणियों के मनोभय शरीर में स्थित है और जो हृदय में बैठा हुआ अन्न द्वारा स्थूल शरीर को प्रतिष्ठित करता है, उसी ब्रह्म को भलीभांति जानो। वह परब्रह्म सर्वथा विशुद्ध समस्त ज्योतियों की भी ज्योति व परम प्रकाशवान तत्व है। वहां न तो सूर्य प्रकाशित होता है (अर्थात् वह इतना प्रकाशमान है कि उसके सम्मुख सूर्य का प्रकाश भी आभाहीन हो जाता है। न चंद्रमा, न ही तारागण वहां कोई महत्त्व रखते हैं फिर इस लौकिक अग्नि की तो बात ही क्या है? यह सब तो स्वयं उसके ही प्रकाश से प्रकाशित हो रहे हैं। अतः उस ज्योतिस्वरूप, प्रकाशमय, सर्वव्यापक, सर्वरूप परब्रह्म को जानो।

तृतीय-मुंडक

प्रथम खंड

इस खंड में दो पक्षियों के माध्यम से जीव व ब्रह्म में जो सहसंबंध स्थापित किया गया है, वह अपने रूपक व वर्णन के कारण भारतीय औपनिषदिक दर्शन में सर्वश्रेष्ठ उदाहरण माना गया है, जो निम्न है :

एक वृक्ष पर दो पक्षी रहते थे, जो सदा साथ रहने के कारण मित्र थे, परंतु उन दोनों में से केवल एक ही पक्षी उस वृक्ष के फलों को खाता था, जबकि दूसरा कभी भी उन फलों को न खाता हुआ केवल दूसरे पक्षी को देखता रहता था। ये दो पक्षी ईश्वर व मनुष्य हैं या ब्रह्म और जीव हैं, जो मनुष्य शरीर रूपी वृक्ष में साथ-साथ रहते हैं। इस शरीर रूपी वृक्ष पर उत्पन्न होने वाले कर्म फल, सुख व दुःख, राग व द्वेष, आसक्ति व विरक्ति को मनुष्य रूपी जीव तो भोगता है, परंतु ईश्वर किंचित प्रकार भी इससे प्रभावित न होकर केवल जीव के क्रियाकलापों को देखता रहता है, जबकि दूसरा पक्षी या जीव आसक्ति में डूबा होने के कारण दूसरे पक्षी या ब्रह्म को नहीं देखता। यह कर्मफल भोगने वाला जीव जब भी कभी उस दूसरे पक्षी की ओर देखने लग जाता है, जो सदैव से उसकी ओर देख रहा है, तो उसी क्षण से जीवात्मा शोक से रहित हो जाता है। इसी बात को पुनः स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जब यह जीवात्मा संपूर्ण चराचर जगत् के रचयिता, ब्रह्मा के आदिकरण, दिव्य प्रकाशस्वरूप परमात्मा को देख लेता है, तभी से वह पाप-पुण्य के कर्मबंधन से मुक्त हो जाता है और समता या निष्काम भाव को प्राप्त हो जाता है। जब मनुष्य को यह ज्ञान हो जाता है, तो उसके स्वभाव में परिवर्तन आने लग जाता है और वह अभिमान और अतिवादिता (बढ़-चढ़कर बोलना) को छोड़कर ब्रह्म के ध्यान में मग्न हो जाता है, अर्थात् उसकी प्रवृत्तियां अंर्तमुखी हो जाती हैं।

इसके पश्चात् प्रसिद्ध **सत्यमेव जयते** शब्दों से प्रारंभ होने वाला श्लोक है, जो हमारे राष्ट्रीय चिह्न पर भी अंकित है तथा जिसका तात्पर्य है कि ब्रह्मप्राप्ति के देवयान मार्ग में केवल सत्य की ही विजय होती है। झूठ की कदापि नहीं, क्योंकि परमात्मा स्वयं पूर्ण प्रकाशमान सत्य स्वरूप है। उपनिषदों में परब्रह्म परमात्मा को **नेति-नेति** अर्थात् यह भी नहीं है यह भी नहीं है, ऐसी संज्ञा से पुकारा गया है। इसका क्या तात्पर्य है? इसका भावार्थ यह है कि मनुष्य की बुद्धि व दृष्टि समीम है। अर्थात् उसकी सीमाएं हैं। चाहे वह कितना भी ज्ञानी व विद्वान् हो जाए, ब्रह्म का विस्तार असीम है अर्थात् मनुष्य अपनी आंखों से जो भी तथा जितना भी देख सकता है, ब्रह्म उससे परे व्याप्त है, इसी प्रकार मनुष्य साकार है, जबकि परब्रह्म निराकार है। अतः मनुष्य साकार की निराकार से तुलना करने पर क्या कहेगा? यही कहेगा कि यह रूप नहीं, यह आकार नहीं। ऐसे ही मनुष्य का स्वभाव स्थूल जगत की ओर उन्मुख है, जबकि ब्रह्म की प्रवृत्ति सूक्ष्म है। अतः सूक्ष्मतम रूप ब्रह्म को जीव किस प्रकार व्यक्त करेगा, जो अव्यक्त है। अर्थात् शब्द 'नहीं-नहीं' 'नेति-नेति' ही कहेंगे। इसी भाव को आगे प्रकट करते हुए कहते हैं कि वह दिव्य प्रकाशरूप परमात्मा सूक्ष्म से भी अति-सूक्ष्म, दूर से भी अत्यंत सुदूर है, जबकि वास्तविकता में वह अत्यंत समीप शरीर की हृदयरूपी गुहा में स्थित है, आवश्यकता है तो केवल ज्ञान चक्षुओं को जाग्रत करके उसे देखने की, इच्छा करने की। आगे कहा गया है कि यह सांसारिक नेत्र न तो उसे देख सकते हैं, न ही यह वाणी उसे शब्दों द्वारा अभिव्यक्त कर सकती है, न ही अन्य दूसरी इंद्रियां यथा कान, हाथ, नाक आदि उसे सुनकर या स्पर्श करके या सूंघ कर ग्रहण कर सकती है। वह तो केवल विशुद्ध अंतःकरण व ज्ञान की निर्मलता से ही देखा जा सकता है। अंत में कहा गया है कि इस विशुद्ध अंतःकरण वाला योगी स्वभाव से तो निष्काम और विरक्त हो जाता है, परंतु यदि वह किसी भी भोग या लोक की कामना करे, तो वह उसे सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। यह भोग व कामना वह स्वयं अपने लिए नहीं, अपितु दुःखी प्राणियों के लिए करता है।

द्वितीय खंड

इस खंड में उपरोक्त वर्णित सकाम व निष्काम भाव को ही और स्पष्ट किया गया है। बुद्धिमान व ज्ञानवान पुरुष विचार करके निष्काम भाव से परम विशुद्ध प्रकाशमान ब्रह्म को प्राप्त करके जन्म-मरण व पुनः गर्भ में आने के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। दूसरी ओर सकामी पुरुष जो भोगों की स्वयं के लिए कामना करते हैं, वह इन इच्छाओं या कामनाओं की पूर्ति के पश्चात् पुनः जन्म लेते हैं और आवागमन के चक्र में ही फंसे रहते हैं। कर्म फल उन्हें बांधे रखता है, परंतु पूर्णकाम अर्थात् जिनकी इच्छाएं व तृष्णाएं समाप्त हो चुकी हैं, वे स्वयं को कामनाओं में

विलीन न करके ब्रह्म में विलीन कर लेते हैं। वह परब्रह्म न तो प्रवचनों से मिलता है, न ही बुद्धि उसे तर्क द्वारा पाने में समर्थ है। वह तो उसे ही प्राप्त होता है, जिसे वह स्वीकार कर लेता है और वह उसी को स्वीकार करता है, जिसको उसके पाने की उत्कट इच्छा व अभिलाषा रहती है, जो उसके बिना रह नहीं सकता। जैसे जल के बिना मछली नहीं रह सकती और चातक जैसें वर्षा जल को ही ग्रहण करता है। अतः प्रमाद, मन की चंचलता, भोग व व्यसनों को छोड़कर उसे पाने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस प्रकार बहती हुई नदियां अपना नाम रूप छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी पुरुष अपनी पंद्रह कलाओं व मन, नाम व रूप से रहित होकर सर्वतोभाव या पूर्णभाव से ज्योतिस्वरूप ब्रह्म में विलीन हो जाता है।

अंत में महर्षि अंगिरा कहते हैं कि जो वर्ण, आश्रम और परिस्थिति के अनुसार निष्काम कर्म करने वाले, वेदों को जानने वाले, परब्रह्म में श्रद्धा रखने वाले तथा एकर्षि नाम से प्रसिद्ध अग्नि में हवन करने वाले हैं, उन्हें ही इस ब्रह्मविद्या का उपदेश देना चाहिए।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम

माण्डूक्योपनिषद्

अथर्ववेद से संबंधित यह उपनिषद् बहुत ही छोटा (केवल 12 श्लोकों से युक्त) परंतु उतना ही महत्त्वपूर्ण है। इस उपनिषद् की विषयवस्तु ॐ के एक विशिष्ट स्वरूप की व्याख्या है, जिसमें अ उ और म की तुलना तीन अवस्थाओं जागृत, सुप्त व सुषुप्त अवस्था से की गई है। (सुप्त व सुषुप्त अवस्था में प्रमुख अंतर यह है कि सुप्त अवस्था में स्वप्न दिखाई देते है, परंतु सुषुप्त अवस्था में स्वप्न न दिखाई देकर मनुष्य गहन निद्रा में विलीन हो जाता है)। कहा जाता है कि केवल एक इसी छोटे से उपनिषद् के मनन से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

ॐ, अक्षर संपूर्ण जगत् को स्वयं में समाहित किए हुए है। भूत, भविष्य व वर्तमान यह सब ॐकार ही है और इस त्रिकाल के अतिरिक्त यदि कोई और तत्व है, तो वह भी यह ॐकार ही है। क्योंकि यह संपूर्ण जगत् ब्रह्म ही है और यह ॐकार रूपी ब्रह्म चार चरणों वाला है (चार चरणों का तात्पर्य यहां चार चेतन अवस्थाओं से है–**विश्व** अर्थात् जागते हुए संसार का स्वरूप, **तेजस्** या स्वप्नलोक, **प्रज्ञा** या सुषुप्तावस्था जिसमें स्वप्न नहीं दिखाई देते और अंतिम है **तुरीयावस्था,** जो केवल योगियों को ॐकार का ध्यान लगाने पर योगनिद्रा के रूप में अनुभूत होती है। इन चार चरणों के यहां वर्णन से तात्पर्य है कि मनुष्य को ब्रह्म प्राप्ति के लिए उत्तरोत्तर

उच्च चरण में प्रविष्ट होना चाहिए व इंद्रियों की प्रवृत्ति को अंतर्मुखी बनाना चाहिए। जाग्रत से स्वप्न, स्वप्न से प्रज्ञा व प्रज्ञा से तुरीयावस्था को प्राप्त करना चाहिए। अब इन चारों पादों की विवेचना करते हुए कहते हैं कि जागृत अवस्था में परब्रह्म के पहले चरण **वैश्वानर** में सात अंग व 29 मुख हैं, जिनके द्वारा इस स्थूल जगत् का भोग किया जाता है (सात अंगों से यहां तात्पर्य ब्रह्म के संदर्भ में सात लोकों से है, जबकि व्यष्टि रूप में मनुष्य शरीर के सात भागों **सिर, मुख, वक्ष, उदर, हाथ, पैर** व उपस्थ इंद्रियों से है)। उन्नीस मुखों से तात्पर्य 5 ज्ञान इंद्रियों, 5 कर्म इंद्रियों, 5 प्राण, व 4 अंतःकरणों मन, बुद्धि अंहकार व चित्त से है, जो अपने विभिन्न क्रिया-कलापों द्वारा स्थूल जगत् को भोगते हैं। परब्रह्म का दूसरा चरण **तेजस्** में प्रकाशमय हिरण्यगर्भ रूप का वर्णन है, जो सात अंगों वाला व उन्नीस मुखों वाला, परंतु सूक्ष्म जगत् का भोक्ता है। (तेजस् व वैश्वानर में यही अंतर है कि तेजस् में इंद्रियों व अंगों की चेष्टा वाह्यमुखी के स्थान पर अंतर्मुखी हो जाती है। हाथ योग साधना में साधक हो जाते हैं, पैर योग आसन में, उदर भोजन के स्थान पर प्राणायाम में, प्राण वायु को ग्रहण करने लग जाता है और मन इंद्रियों सहित हृदयगुहा में प्रवेश कर जाता है)।

परब्रह्म का तीसरा पाद या चरण आनन्दमय प्राज्ञ का है, जब जीवात्मा सुषुप्ति अवस्था में होता है, अर्थात् बिना किसी भोग की कामना के, बिना किसी स्वप्न के पूर्ण शांत व स्थिर। समष्टि के संदर्भ में यही प्रलयावस्था है और इस अवस्था की अनुभूति केवल एकमात्र प्रकाश मुख द्वारा की जाती है। इस समय न मन है, न इंद्रियां हैं, न उनका अंतर्मुखी व्यापार हो रहा है, न बहिर्मुखी, केवल एक मात्र प्रकाश स्वरूप ब्रह्म ही शरीर को धारण किए हुए है। उपरोक्त तोनों पादों में वर्णित परब्रह्म, परमेश्वर ही सर्वज्ञ, अंतर्यामी संपूर्ण जगत् की योनि और समस्त प्राणियों का प्रलय स्थान है। अब चौथे पाद "तुरीयावस्था" के संदर्भ में कहते हैं कि इस अवस्था में ब्रह्म न तो प्रज्ञा वाला होता है, न ही देखा जा सकता है, न ही व्यवहार में लाया जा सकता है, न ही पकड़ा जा सकता है, न ही जिसका कोई चिह्न है, न ही जिसे कोई शब्द वर्णित कर सकता है, ऐसा शांत, कल्याणमय, अद्वितीय तत्व ही परब्रह्म है, जिसे ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। आदि शंकराचार्य के गुरुवर के गुरु देव परमपाद गौड़पाद ऋषि ने इसी ब्रह्म को अजन्मा, अनिद्रा व अस्वप्न से युक्त, अनाम, अरूप, अगम, अगोचर कहा है। अब इन चारों पादों की ॐकार से तुलना करते हुए कहा गया है कि प्रथम मात्रा "अ" ही वैश्वानर नामक जाग्रत अवस्था का पहला पाद है तथा "उ" ही तेजस् नामक दूसरे पाद को अभिव्यक्त करती है। प्राज्ञ नामक तीसरा चरण, तीसरी मात्रा "म" कार से अभिव्यक्त होता है। चौथी सर्वोत्कृष्ट तुरीयावस्था मात्रारहित प्रणव है अर्थात् ॐ है तथा जो भी व्यक्ति इस ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह इसी ॐकार में प्रविष्ट हो जाता है।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम

नृसिंहोत्तर तापनीय उपनिषद्

अथर्ववेद से संबंधित यह उपनिषद् ॐ नाम से परमात्म तत्व का तथा उनके चार पादों के वर्णन के लिए प्रसिद्ध है। नौ खंडों के इस उपनिषद् में भगवान के नृसिंहरूप के मंत्र, जप व ध्यान की विधि तथा प्रणव द्वारा आत्मा के सत्य स्वरूप को जानकर साक्षी रूप में स्थित होने के महत्त्व को दर्शाया गया है। प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी तथा वेदों के टीकाकार विद्यारण्य ने अपनी रचना सर्वोपनिषद् अर्थानुभूति प्रकाश में इस उपनिषद् की व्याख्या की है। प्रथम खंड में ॐ नाम से ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति स्पष्ट की गई है तथा ॐ के चार पादों वैश्वानर, हिरण्यगर्भ (प्रद्युम्न), प्राज्ञ (अनिरुद्ध), तुरीय (बलभद्र) का वर्णन किया गया है। द्वितीय खंड में तुरीय नामक चौथे पाद की ॐकार की मात्राओं से तुलना प्रस्तुत की गई है। **बीज, विंदु, नाद** और **शक्ति** को ॐकार, यानी चार रूपोवाला स्वरूप माना गया है। यही चारों रूप "अ" कार है (ॐ, अ, उ, म)। इसी प्रकार उ कार के स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी ये चार रूप हैं। अ और उ के उच्चारण के पश्चात् "म" के उच्चारण के साथ मुख बंद हो जाते हैं और अ तथा उ उसी में विलीन हो जाते हैं। जैसे जाग्रत और स्वप्न के अंत में सुषुप्ति अवस्था आती है और सुषुप्ति में जागृत और स्वप्न का लय हो जाता है।

इसके पश्चात् तृतीय खंड में अनुष्टुप मंत्रराज के अलग-अलग पादों की अलग-अलग जप और ध्यान की विधि बताई गई है। शेष खंडों में भगवान नृसिंह का ध्यान करके उसके साथ एकीभूत होने तथा उनके चिंतन द्वारा परब्रह्म में विलीन होने का विवरण प्रस्तुत है।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम

श्री रामपूर्वतापनीयोपनिषद्

दस खंडों के इस उपनिषद् में भगवान श्री राम की शास्त्रीय पूजा पद्धति की व्यापक, विस्तृत व गूढ़ व्याख्या प्रस्तुत की गई है। प्रथम खंड में भगवान राम के 'राम' शब्द के ही विभिन्न अर्थ प्रस्तुत किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. जो पृथ्वी पर भक्तों का मनोरथ पूर्ण करते हैं और राजा के रूप में सुशोभित होते हैं, वह राम हैं।
2. जिनके द्वारा राक्षस मरण को प्राप्त होते हैं, वह राम हैं।
3. वह नयनाभिराम अर्थात् सबके मन को रमाने वाले राम हैं।

4. जैसे राहु चंद्रमा को निस्तेज कर देता है, वैसे ही जो राक्षसों को निस्तेज कर देते हैं, वह राम हैं।

5. जो अपने नामोच्चार, ध्यान व पूजन पर वैराग्य और ऐश्वर्य प्रदान करते हैं, वह ही राम हैं।

द्वितीय खंड के राम बीज की व्याख्या प्रस्तुत की गई है (राम—र+आ+अ+म) इनमें र तो राम वाचक है, जबकि आ, अ और म् यह क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु व शिववाचक है। तृतीय खंड में राम मंत्र की व्याख्या और ध्यान का वर्णन है। चतुर्थ खंड में षड्क्षर मंत्र **''रां रामाय नमः''** का वर्णन प्रस्तुत है। देवताओं द्वारा भगवान् राम की स्तुति करने वाला मंत्र **क्लीं रामाय नमः श्री रामाय नमः** माना गया है। वेद **ॐ रामाय नमः** की सूचना देते हैं। पंचम् खंड में खर-दूषण के वध से लेकर बालि के वध तक की कथा का वर्णन है। छठे खंड में वानरों द्वारा माता-पिता की खोज व रावण वध की संक्षिप्त कथा है। इसके पश्चात् चार आवरण पूजाओं का तथा मंत्रस्थ देवताओं की पूजा का विधान है। सातवें खंड में श्री राम यंत्र का वर्णन है। आठवें खंड में भी इसी यंत्र के निर्माण की विधि का वर्णन है। नवें व दसवें खंड में पूजा की विधि का सविस्तार वर्णन है।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम

सीता-उपनिषद्

इस छोटे से उपनिषद् में सीता के दार्शनिक स्वरूप की व्याख्या प्रस्तुत की गई है तथा भगवान राम को ''वैसानख'' नाम की विशिष्ट संज्ञा से संबोधित किया गया है। इसमें ऋग्वेद की 21 शाखाओं, यजुर्वेद की 109 शाखाओं, सामवेद की 1000 शाखाओं और अथर्ववेद की 5 शाखाओं का विवरण दिया हुआ है। वेदों के अतिरिक्त इतिहास, पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद, गान्धर्व वेद और आयुर्वेद को 5 उपवेद माना गया है। अंत में सीता जी के विशिष्ट ध्यान का वर्णन करके उपनिषद् समाप्त हो जाता है।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम

गोपालपूर्वतापनीय उपनिषद्

इस उपनिषद् के पांच भाग हैं, जो उपनिषद् के ही नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम उपनिषद् में भगवान कृष्ण के प्रसिद्ध अष्टादशाक्षर मंत्र **''ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन**

वल्लभाय स्वाहा'' को प्रस्तुत किया गया है। इस मंत्र में क् को जल तत्व, जल तत्व का प्रतीक, लु को भूमि या पृथ्वी तत्व का प्रतीक, क्लीं को काम बीज का प्रतीक माना गया है। क्लीं कृष्णाय यह मंत्र का प्रथम पद है। गोविन्दाय वह द्वितीय पद है, गोपीजन यह तीसरा पद है, वल्लभाय यह चौथा पद है, स्वाहा यह पांचवा पद है, ये पांचों पद क्रमशः पृथ्वी, सूर्य, चंद्रमा, अग्नि इन तत्वों को प्रकाशित करते हैं। द्वितीय उपनिषद् में श्रीकृष्ण की पूजा में प्रयुक्त होने वाले मंत्र निर्माण की विधि का वर्णन है, तृतीय उपनिषद् में अष्टदशाक्षर मंत्र का अर्थ तथा चौथे उपनिषद् में उसकी महिमा तथा अंतिम पांचवे उपनिषद् में भगवान कृष्ण की स्तुति प्रस्तुत की गई है।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम

गणपति उपनिषद् (गणपत्युपनिषद्)

अथर्ववेद से संबंधित यह उपनिषद् भगवान गणेश की स्तुति व बीजमंत्र प्रस्तुत करता है। स्तुति में गणेश जी को मूलाधार चक्र में स्थित माना गया है तथा पंच तत्वों और चार प्रकार की वाणियों परा, पश्यन्ती, वैखरी और मध्यमा का स्वामी स्वरूप माना गया है। **ॐ गं गणपतये नमः** यही गणेश जी का बीज मंत्र है। इस महामंत्र के रचयिता गणक ऋषि हैं। निचृदायत्री छंद है और महागणपति देवता हैं। मंत्र के पश्चात् गणेश जी की एकदन्त, वक्रतुण्ड और गजानन नाम से गायत्री पाठ का विवरण है, जो इस प्रकार है

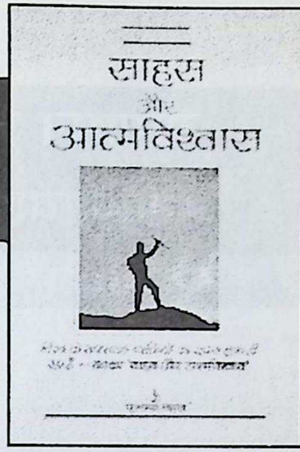
ॐ गणपतये नमः, एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि तन्नो दंती प्रचोदयात्।
गायत्री के पश्चात् गणेश जी के ध्यान और विध्ननाशक व व्रातनायक, गणपति, प्रथमपति, लम्बोदर, एकदंत, विघ्नविनाशक, वरदमूर्ति व शिवजी के पुत्र नाम से उनकी आराधना का प्रावधान है। इस **(नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशने शिव सुताय श्री वरदमूर्तये नमो नमः** उपनिषद् में गणपति पूजा का उपरोक्त मंत्रों के जाप से विशेष माहात्मय बताया गया है। उपरोक्त मंत्र का 1000 बार पाठ करने से मनुष्य जिन-जिन कामनाओं की इच्छा करता है, वे पूर्ण हो जाती हैं। जो इस मंत्र का जाप करते हुए गणपति को स्नान कराता है, वह वक्ता बन जाता है। जो इस मंत्र का चतुर्थी तिथि को उपवास करके जाप करता है, उसे विद्या की प्राप्ति होती है। जो दूब घास के साथ इन मंत्रों का जाप करते हुए गणपति का पूजन करता है, उसे असीम धन की प्राप्ति होती है। जो एक हजार मंत्रों का एक हजार लड्डुओं से जाप करता है, वह भी मनोवांछित फल पाता है। सूर्य ग्रहण के समय महानदी में स्नान करके प्रतिमा के समीप जपने से मंत्र सिद्ध हो जाता है। जो इस रहस्य को जान लेता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है।

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम

सूर्योपनिषद्

अथर्ववेद की प्रकृति के अनुरूप इस उपनिषद् में सूर्यदेव से संबंधित आशु फलदायक मंत्रों का स्वरूप उनकी व्याख्या और उनके माहात्मय की चर्चा की गई है। उपनिषद् का प्रारंभ ही सूर्यदेवता से संबंधित मंत्र की व्याख्या से होता है। इस अथर्वाङ्गिरस मंत्र के ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छंद है, आदित्य देवता हैं, हंसः सोऽहं अग्नि नारायण युक्त बीज है। ह्रेखा शक्ति है। विपत् आदि सृष्टि से संयुक्त कीलक है और चारों प्रकार के पुरुषार्थों अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की सिद्धि के लिए इसका विनियोग होता है। इसके पश्चात् आदित्य की सर्वव्यापकता का उल्लेख है। मंत्र इस प्रकार है : **ॐ घृणिः सूर्य आदित्यओम्** यह अष्टाक्षर मंत्र भगवान सूर्य का महामंत्र माना गया है। इसे ही वेद सावित्री विद्या के नाम से जानते हैं। आश्विन मास में जब भगवान सूर्य हस्त नक्षत्र पर होते हैं, उस समय इस मंत्र के जाप से अकाल मृत्यु या असामयिक मृत्यु का भय दूर हो जाता है।

साहस और आत्मविश्वास



–रोमी सूद 'उपमाश्री'

विश्व के सफल व्यक्तियों का रहस्य एक ही रहा है–उनका 'साहस और आत्मविश्वास'।

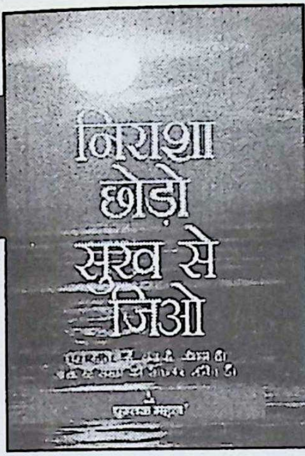
आज आत्मविश्वास की शक्ति और क्षमता को सभी ने अच्छी तरह पहचान लिया है। यही वह तत्व है, जो व्यक्ति की उन्नति में कारगर भूमिका निभाता है। साहस आत्मविश्वास का पूरक है। आत्महीनता से ग्रस्त व्यक्ति कभी निडर और साहसी नहीं हो सकता।

आपके कार्यक्षेत्र में तो इसका मोल सर्वाधिक है। आप कितनी ही विपत्तियों से क्यों न घिरे हों, यदि आप में आत्मविश्वास है, तो बड़ी-से-बड़ी चुनौतियां भी आपका कुछ नहीं बिगाड़ पाएंगी और आप किस कुशल मल्लाह की तरह तूफ़ानों में घिरी नाव को किनारे पर ले ही आएंगे, ऐसा विश्व के महान् मनीषियों का दावा है।

अपने विषय की श्रेष्ठ लेखिका **रोमी सूद 'उपमाश्री'** ने अपनी इस पुस्तक में 23 अध्याय दिए हैं। प्रत्येक अध्याय पूरी तरह दिशा सूचक है। जैसे-जैसे आप इन्हें पढ़ते जाएंगे, आप में **साहस एवं आत्मविश्वास** भरता चला जाएगा और एक दिन आप अपने आपको सफलता प्राप्त करने में सक्षम पाएंगे।

बहुत से लोग योग्य, अनुभवी और प्रतिभाशाली होते हैं, लेकिन आत्मविश्वास के अभाव में यह सब दब जाता है और वह कुंठित होकर अपने आपको दोषी ठहराने लगते हैं, जबकि ऐसा नहीं है। उन्हें अपने भीतर आत्मविश्वास जगाना और उन्नति का मार्ग प्रशस्त करना चाहिए। यह पुस्तक इसी उद्देश्य को पूरा करती है।

डिमाई आकार • पृष्ठ: 128 • मूल्य: 48/- • डाकखर्च: 10/-



निराशा छोड़ो सुख से जिओ

–हरेन्द्र 'हर्ष'

आशा में तेज है, बल है, जीवन है।
आशा ही संसार की संचालन शक्ति है।

आज का जीवन इतना जटिल और दुरूह हो गया है कि अचानक विपत्तियां अथवा अवरोध उठ खड़े होने पर लोगों का आत्मविश्वास डगमगा जाता है और वे आशा छोड़ देते हैं। निराशा से जीवन के बहुमूल्य तत्व नष्ट होने के कारण विजय के बहुत-से अवसर खो जाते हैं। आप निराश रहेंगे, तो हर चीज़ में बुराई ही नज़र आएगी। ऐसा व्यक्ति चिंता से अधमरा हो जाता है। अतः आशा की डोर कभी मत छोड़ो। उसके साथ डटे रहो, फिर देखो, खुशियां आपके जीवन में बहारें ले आएंगी।

आशा उत्साह की जननी है। आशा में तेज है, बल है, जीवन है। आशा ही समूचे संसार की संचालक शक्ति है। आशा मनुष्य के लिए अमृत है। जैसे सूर्य से पेड़-पौधों को जीवन प्राप्त होता है, वैसे ही आशा से मनुष्यों में जीवन-शक्ति का संचार होता है। निराशा कभी भी आपकी उन्नति नहीं होने देती और सदा आपके लक्ष्य में बाधक सिद्ध होती है। मनुष्य की सम्पूर्ण उन्नति और सफलता बेहतर जीवन शैली से ही संभव है। इसलिए निराशा को कभी पास मत फटकने दो।

जाने–माने लेखक **हरेन्द्र 'हर्ष'** की सुलझी हुई लेखनी द्वारा रचित यह पुस्तक अपने आप में अधिक व्यावहारिक एवं रोचक बन पड़ी है। इसमें दिए गए उदाहरण, उद्धरण और प्रसंग निराशा दूर भगाने में सक्षम हैं। सही मायनों में यह वर्तमान जीवन की ज्योतिर्मय मार्गदर्शिका है।

डिमाई आकार • पृष्ठः 136 • मूल्यः 48/- • डाकखर्चः 10/-



व्यवहार कुशलता

लोकप्रियता एवं सफलता की सीढ़ी

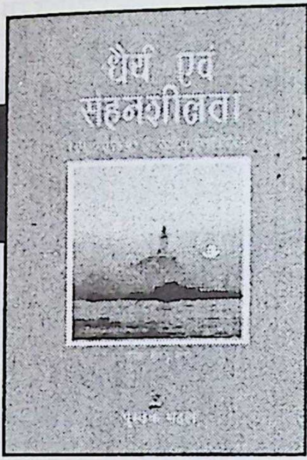
–पी.के. आर्य

व्यवहार कुशलता–इन दो शब्दों की सीढ़ियां बनाकर आप आसमान की ऊंचाइयां नाप सकते हैं। बशर्ते कि आप इस कला के धनी हों। अमेरिका के राष्ट्रपति रूज़वेल्ट एवं भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू की आपार लोकप्रियता का यही रहस्य था। आप कितने ही ज्ञानी, नीतिज्ञ या विद्वान हों, यदि व्यवहार–कला में निपुण नहीं हैं, तो अवश्य ही पिछड़ जाएंगे। इसलिए आज की दुनिया में स्थायी रूप से टिके रहने से लिए व्यवहार कुशल होना अनिवार्य हो गया है।

आज जमाना बेहद जटिल हो गया है, जबरदस्त प्रतिस्पर्धा और होड़ मची हुई है, लोग केवल अपने निजी स्वार्थ सिद्ध करने में जुटे हैं। इस सबसे बिल्कुल न घबराएं। आप जीवन के किसी भी क्षेत्र में हों, आपका कुशल व्यवहार आपको अवश्य सफल बनाएगा। व्यवहार कुशल व्यक्ति चुस्त एवं चतुर खिलाड़ी की तरह होता है, जो बड़ी सफ़ाई से अपनी गेंद विषम परिस्थितियों में भी निकालकर अवश्य ही लक्ष्य भेद लेता है। व्यवहार कुशलता सही मायने में आपकी जीत का अचूक हथियार है।

वास्तव में यह एक हुनर है। इसे आप अच्छी तरह आत्मसात कर लें। युवा और अनुभवी लेखक **पी.के आर्य** की पुस्तक **व्यवहार कुशलता** में बड़े सटीक ढंग से समझाया गया है कि इस कला द्वारा आप लोगों से सम्पर्क कर संबंधों को आत्मीय, मधुर और स्थायी कैसे बनाए रख सकते हैं, ताकि जीवन में कोई रुकावट न आने पाए और आप आसानी से उन्नति की ओर बढ़ते चले जाएं।

डिमाई आकार • पृष्ठ: 128 • मूल्य: 48/- • डाकखर्च: 10/-



धैर्य एवं सहनशीलता

101 ways to develop patience

–पवित्र कुमार शर्मा

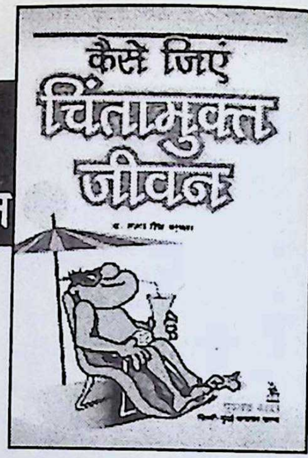
- क्या आप भी धैर्य एवं सहनशीलता का वरण कर जीवन में सबसे सफल एवं आदर्श व्यक्ति बनाना चाहते हैं?
- तो आइए, आज की जटिल, भयावह और बदहवास परिस्थितियों में भी हंसते-हंसते जीना सीखें।
- हर कष्ट, हर विपत्ति, हर तरह की अस्तव्यस्तता के प्रहारों को कोमल फूलों की वर्षा की तरह लें।
- सागर की तरह धीर, गंभीर और शांत बन जाएं।
- पाषाण की प्रतिमा की तरह सब चोटों को सहना सीखें।
- पर्वत की तरह आंधी, तूफ़ान और वर्षा में भी अडिग खड़े रहें।
- क्या आप में ऐसा बनाने की इच्छा शक्ति, साहस एवं आत्मविश्वास है?
- यदि है, तो सचमुच आप निश्चित रूप से सर्वगुण सम्पन्न बन जाएंगे और सहनशीलता आपकी रग-रग में रच-बस जाएगी।

क्या आपको मालूम है कि धैर्य एवं सहनशीलता ही वह दिशानिर्देशक यंत्र है, जो उन्नति का सही रास्ता दिखाता है? चिंतनशील रचनाकार **पवित्र कुमार शर्मा** ने रची है आपके लिए **धैर्य एवं सहनशीलता** जैसी यह अनूठी पुस्तक, जिसमें बताए गए 101 उपाय आपको सफलता के सर्वोच्च लक्ष्य की तरफ लेते चले जाएंगे।

डिमाई आकार • पृष्ठः 152 • मूल्यः 48/- • डाकखर्चः 10/-

आनंद और उल्लास के साथ सुखमय जीवन जीने का रास्ता

कैसे जिएं चिंतामुक्त जीवन



–डॉ. सरूप सिंह मरवाहा

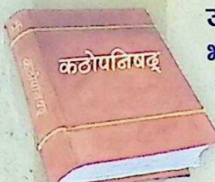
प्रसिद्ध चिकित्सक तथा मनोरोगों के विशेषज्ञ **डॉ. सरूप सिंह मरवाहा** की पुस्तक **कैसे जिएं चिंतामुक्त जीवन** उनके लगभग 20 वर्ष के व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित है। आज के भौतिकता से भरे जीवन में जबरदस्त होड़ और प्रतिस्पर्धा चल रही है। रोजमर्रा के तेज़ रफ्तार जीवन (फास्ट लाइफ़) ने पंजे गड़ा दिए हैं। आदमी बहुत अधिक व्यस्त हो गया है। इस सब के कारण वह भारी चिंताओं से दुखी रहने लगा है, जो उसे मनोरोगी बना देती हैं।

इन सबसे उसे घर-परिवार और बच्चों की चिंता, अपने और अपने से जुड़े लोगों के भविष्य की चिंता, समाज में अपनी प्रतिष्ठा और पहचान की चिंता, काम-धंधे, रोज़गार और नौकरी की चिंता, सुखद जीवन के लिए आमदनी बढ़ाने की चिंता, रोग और शोक की चिंता निरंतर सताती रहती है और वह मानसिक रूप से अपने को रोगी पाने लगता है।

डॉ. मरवाहा ने अपनी इस पुस्तक में इन तमाम चिंताओं से छुटकारा पाने के स्वर्णिम उपाय बताए हैं। इन पर अमल करके आप अपने जीवन को आनंद उल्लास से भरपूर बनाकर उन्नति के शिखर पर पहुंच सकते हैं।

डिमाई आकार • पृष्ठ: 144 • मूल्य: 48/- • डाकखर्च: 10/-





卐 उपनिषदों में क्या है?

उपनिषदों में वे सिद्धांत स्पष्ट रूप से दिए हुए हैं, जिनके आधार पर कोई भी विचारशील मनुष्य अपने लिए कर्त्तव्य का निश्चय कर सकता है। इनके पथ पर चलने वाला व्यकित अपने लिए तो कल्याण एवं मंगल का द्वार खोल ही लेगा, उसके तपपूर्ण व्यक्तित्व के प्रकाश में मानव समाज भी अभ्युदय के पथ पर आरूढ़ हो सकेगा। —सम्पूर्णानन्द

उपनिषद् हमारी युग-युग से अर्जित वैदिक ज्ञान परंपरा की सबसे मूल्यवान धरोहर हैं। सम्पूर्ण विश्व साहित्य में मानव जीवन को ऊंचा उठाने वाला इनके समान अध्ययन का कोई दूसरा विषय नहीं है। इनमें जीवन और जगत् के रहस्यों का उद्‌घाटन, निरूपण और विधिवत विवेचन किया गया है। इसीलिए इन्हें मानव चेतना का सर्वोच्च फल माना गया है। अतः परम् वंदनीय इस महान् विद्या को पढ़ंना और इसमें बताए गए सिद्धांतों को जीवन में धारण करना अपने और दूसरों के लिए सुखकर एवं मंगलमय है। यह प्राचीन ज्ञान 108 उपनिषदों में विस्तार से फैला हुआ है। ज्ञान के इस अथाह भंडार को आत्मसात करने में तो एक उम्र ही बीत जाएगी।

इसलिए आज के जिज्ञासु पाठकों के लिए युवा विद्वान् पंकज दीक्षित ने सम्पूर्ण उपनिषद् साहित्य का निचोड़ इस छोटी सी पुस्तक में समेटा है, ताकि उन्हें कम समय में तथा आसानी से इनका मर्म समझ में आ जाए और वे पूरा-पूरा लाभ उठा सकें। इसम प्रमुख उपनिषदों पर अधिक विस्तार से प्रकाश डाला गया है, जबकि शेष को सूचनात्मक एवं संक्षिप्त ही रखा है। सहज और ग्राह्य ग्रंथ के रूप में यह एक महत्वपूर्ण प्रयास है। इसी कारण प्रत्येक ज्ञानपिपासु एवं धार्मिक परिवार के लिए उपयोगी भी है।



पंकज दीक्षित ने राष्ट्रीय संग्रहालय संस्थान, दिल्ली से कला-इतिहास में एम. ए. किया है तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय से अंतर्राष्ट्रीय सम्बंधों में एम. फ़िल. के लिए अध्ययनरत हैं। 'कला-इतिहास के श्रीयंत्र' पर शोध कार्य भी कर चुके हैं। एक अन्य शोध पर इन्हें 'नेहरू ट्रस्ट फ़ार इंडियन कलेक्शन एट विक्टोरिया एण्ड एल्बर्ट म्यूज़ियम', लंदन द्वारा अध्ययन-वृत्ति का पुरस्कार प्रदान किया गया है। इधर कई वर्षो से देश-विदेश के अनेक प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में धर्म, दर्शन, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्व और स्थापत्य पर इनकी रचनाएं निरंतर प्रकाशित हो रही हैं।

सम्प्रतिः पंकज दीक्षित, आई. ए. एस. (अलाइड) भारत सरकार की 'जन शक्ति योजना' में उपनिदेशक के पद पर सेवारत हैं।

मूल्यः 60/–

ISBN 81-223-0674-8
9 798122 306742

पुस्तक महल®
Fax: 011-3280567, 011-3260518
E. Mail: pustakmahal@vsnl.com
दिल्ली • मुंबई • बंगलोर • पटना • हैदराबाद

4114 D